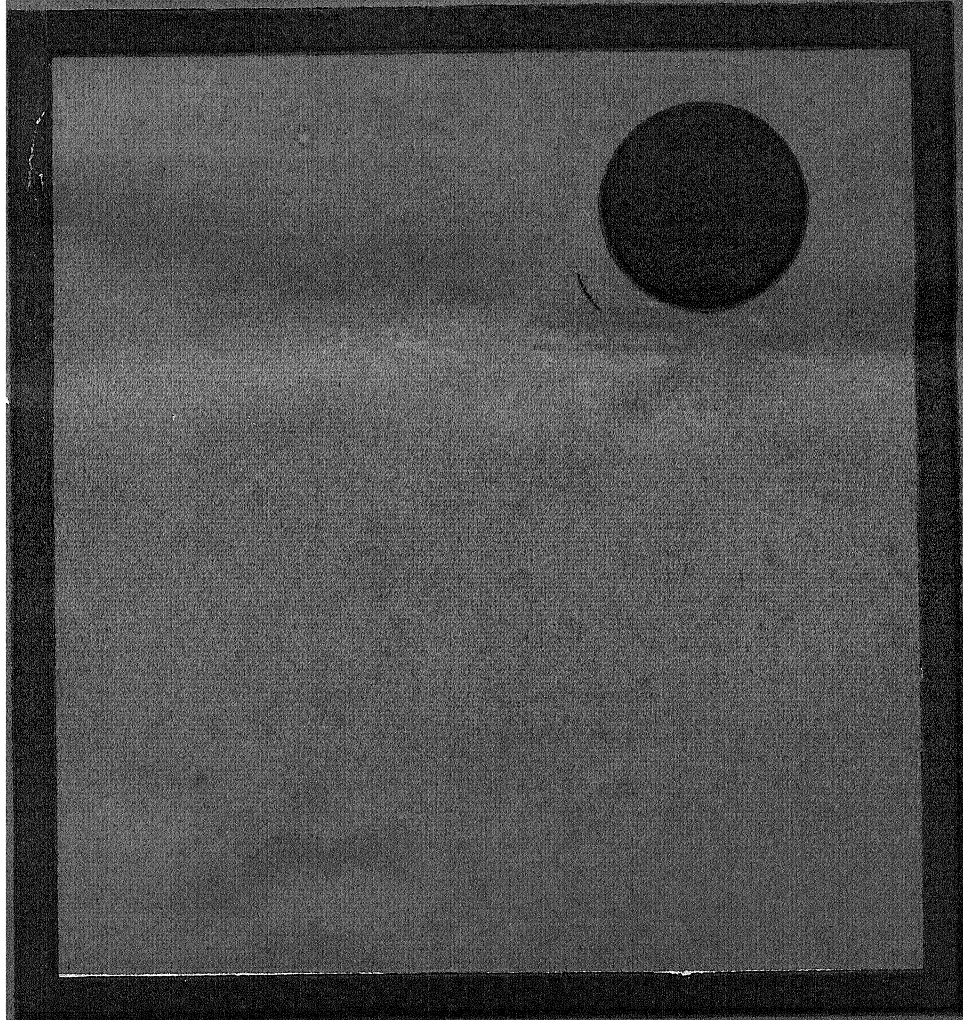
हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक



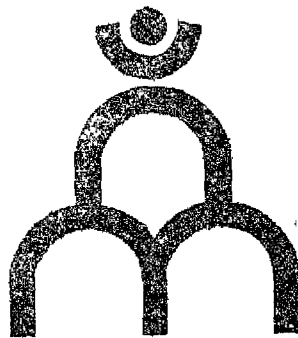
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

भाग ४४ — जनवरी-मार्च

अङ्क १ — सन् १९८३ ई०



मूल्य । ५ रुपये — [वार्षिक , २० रुपये

अनुक्रमणिका



गुप्त जी द्वारा प्रणीत 'नहुष' आख्यान के मूल स्रोत

डॉ० (श्रीमती) शशि अग्रवाल

संस्कृत वाङ्मय में नहुष की कथा अत्यन्त प्राचीन और बहुचर्चित है। आधुनिक काल मे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने इस प्राचीन कथा की नए परिवेश में, अपने युग के अनुरूप तथा एक सर्वथा नवीन सन्देश देने के लिए रचना की। गुप्त जी ने पहले स्वतन्त्र रूप से एक 'नहुष' खण्डकाव्य (सं० १९९७) की सृष्टि की थी, बाद में 'जयभारत' प्रबन्ध-काव्य (सं० २००९) की रचना की जिसे नहुष के आख्यान से प्रारम्भ कर पाण्डवों के स्वर्गारोहण की कथा से पूर्ण किया। 'नहुष' खंडकाव्य की कथा किंचित् परिवर्तन के साथ 'जयभारत' में समाविष्ट कर ली गई है, परन्तु 'नहुष' खण्डकाव्य तथा 'जयभारत' में वर्णित नहुष-आख्यान के संदेश में कोई अन्तर नही है। यों तो लगभग सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में नहुष की कथा के तत्त्व मिलते हैं, महाभारत में यह कथा पर्याप्त विस्तार से वर्णित है। गुप्त जी ने 'नहुष' खण्डकाव्य के 'निवेदन' में लिखा है कि वैदिक काल से ही 'नहुष' का नाम सुना जाता है और उन्होंने महाभारत, श्रीमद्वाल्मीकि रामायण, बुद्ध-चरित आदि प्राचीन ग्रन्थों में नहुष के आख्यान का अध्ययन किया। गुप्त जी द्वारा प्रणीत प्रस्तुत कथा का आधार मुख्यतया महाभारत है, किन्तु महाभारत तथा गुप्त जी के सन्देश में अन्तर है जिसे अन्त में स्पष्ट किया जायगा।

संस्कृत वाङ्मय में 'नहुष' का उल्लेख अथवा आख्यान वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ऋग्वेद, तथा पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत श्रीमद्भागवत पुराण, लिंग पुराण, कूर्म पुराण, ब्रह्म पुराण, वायु पुराण, हरिवंश पुराण, मत्स्य पुराण, पद्म पुराण तथा महाभारत में प्राप्त होता है। उक्त साहित्य मे नहुष-सम्बन्धी जो वर्णन मिलता है, उसका यहाँ संक्षेप में पर्यवेक्षण कर लेना अनुचित न होगा।

ऋग्वेद (प्राचीनतम सूक्त ई० पू० ४०००—डॉ० काणे; ई० पू० २०००—ब्लूमफील्ड; ई० पू० २५०० से ई० पू० २०००—विंटरनित्ज) में 'नाहुष' तथा 'नहुष', ये दो नाम किसी राजा के मिलते हैं। 'नाहुष' नाम एक राजा का है जिसके पास अच्छे अश्व थे।

यथा—

उत त्यदा श्वश्व्यं यदिन्द्र नाहुषीष्वा। अग्रे विक्षु प्रदीदयत् ॥२४॥[1]

ऋग्वेद में ही 'नहुष' नाम भी आता है जो उत्तम कार्य करने वाला राजा (व्यक्ति) है। यथा—

यो म इमं चिदु त्मनामन्दच्चित्रं दावने ॥१॥

अरट्वे अक्षे नहुषे सुकृत्वनि सुकृत्तराय सुक्रतुः[2]

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्य तीन स्थलों पर नहुष का नाम आया है। यथा—

अस्य स्तुषे महिमघस्य राधः सचा सनेम नहुषः सुवीराः।
जना यः पज्रेभ्यो वाजिनीवा नश्वावतो रथिनो मह्यं सूरिः ॥८॥[3]

तथा—

स आश्रतो नहुषो दसुज्जूतः शर्धस्तरा नरां मूर्तश्रवाः।
विसृष्टरातिर्याति बाल्हसुत्वा विश्वासु प्रत्सु सदमिच्छूरः ॥१०॥[4]

तथा—

अध ग्मन्ता नहुषो हवे सूरः श्रोता राजानो अमृतस्य मन्द्राः।
नभोजुवो यन्निरवस्य राधः प्रशस्तय महिना रथवते ॥[5]

पुराण साहित्य के अन्तर्गत नहुष के पिता-माता, भाइयों तथा पुत्रों (वंशावली) आदि का वर्णन मिलता है। यहाँ पिता आदि के विषय में संक्षिप्त विवेचन कर लेना अनुपयुक्त न होगा। लगभग सभी पौराणिक ग्रंथों में (जिनमें नहुष-वृत्तान्त आया है) नहुष के पिता का नाम आयु वर्णित है। आयु (सो० पुरुरवस : ई० पू० २१८३-ई० पू० २१००; पुराण निरीक्षण व्यं० गु० काले ३२७; डॉ० दसरी ६३—ई० पू० २१०२) एक प्राचीन राजा था। इन्द्र ने इसका (वेश के लिए) पराभव किया था (ऋग्वेद १०।४८।५) तथा आयु ने भी इन्द्र की प्रशंसा के लिए एक सूक्त रचा था (ऋग्वेद ८।५२)। लिंग पुराण के अनुसार आयु के पाँच पुत्र थे। ये अत्यन्त वीर और महान् ओज वाले पुत्र नृप स्वर्भानु की पुत्री प्रभा द्वारा उत्पन्न हुए थे। इनमें नहुष प्रथम था।[6] श्रीमद्भागवत पुराण (कृष्णमूर्ति शर्मा—५वीं शताब्दी के मध्य में; डॉ० काणे[6]—८वीं शताब्दी; पुराण निरीक्षण-८० व्यं० गु० काले—ई० स० ८०० के पूर्व में; के० ल० दसरी—धर्मरहस्य—ई० स० ३८८) के अनुसार भी आयु के पाँच पुत्र हुए—नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजि, रम्भ और अनेना।[7] कूर्म पुराण (हरप्रसाद शास्त्री की प्रस्तावना—ई० स० दूसरी शताब्दी; पुराण निरीक्षण—व्यं० गु० काले—ई० स० ५०० के पूर्व) के अनुसार भी आयु के पाँच पुत्र हुए। सभी महान् ओज वाले थे और स्वर्भानु की पुत्री प्रभा द्वारा हुए थे।[8] इनमें नहुष प्रथम पुत्र था जो परम धर्मज्ञ एवं लोक में विश्रुत था।[9] हरिवंश पुराण के अनुसार भी नहुष राजा आयु का पुत्र था।[10] पद्म पुराण (ई० स० १४वीं शताब्दी, उत्तर काण्ड—ई० स० ८००-१५०० 'हिजरी') के अनुसार भी नहुष राजा आयु का पुत्र था।[11] वायु पुराण (ई० स० ३१०-५५० 'हिजरी'; मूल ग्रन्थ की रचना ई० पू० २०३—धर्मरहस्य—१६४—के० ल० दसरी; उपलब्ध संस्करण ई० स० ६२०—पार्जिटर—५०, ई० स० ६०८—पुराण निरीक्षण—७०—व्यं० गु० काले) के अनुसार नहुष आयु को विरजा नामक पत्नी से हुआ था।[12] ब्रह्म पुराण (मूल रचना ई० स० ५वीं शताब्दी के पूर्व; ई० स० १०वीं से १२वीं शताब्दी—वासुदेव माहात्म्य अ० ०७६-२१३; १३वीं शताब्दी 'हिजरी'); में भी वायु पुराण के समान ही वर्णन है।[13] महाभारत (ई० पू० १४००—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन कल्चर ऐन्ड पीपुल—आर० सी० मजूमदार; पार्जिटर ने महाभारत-युद्ध का काल ६५० ई० पू० तय किया है, किन्तु इस काल-निर्णय की अपेक्षा ई० पू० १४०० ही अधिक उचित प्रतीत होता है के

अनुसार आयु के स्वर्भानु कुमारी के गर्भ से पाँच पुत्र हुए। यथा—नहुष, वृद्ध शर्मा, रजि, गय तथा अनेना।[१४] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त संस्कृत साहित्य के अनुसार नहुष आयु का प्रथम पुत्र था।

नहुष की माता तथा पत्नी के सम्बन्ध में पुराण एकमत नहीं हैं। हरिवंश पुराण[१५], महाभारत[१६], कूर्म पुराण[१७] तथा ब्रह्माण्ड पुराण[१८] के अनुसार नहुष[१९], आयु राजा को दानवराज राहु अथवा स्वर्भानु की पुत्री प्रभा से उत्पन्न हुआ था। परन्तु पद्म पुराण के अनुसार नहुष, राजा आयु की पत्नी इन्दुमती को दत्तात्रेय की कृपा से उत्पन्न हुआ था। वायु पुराण[२०] के अनुसार नहुष आयु को विरजा नामक पत्नी से उत्पन्न हुआ था। मत्स्य पुराण (ई० स० २००-४०० 'हिजरी'; ई० स० २री शताब्दी के पूर्व में—हरप्रसाद शास्त्री की प्रस्तावना—१८१; पुराण निगम—१५२)[२१] के अनुसार सुस्वधा पितरों की कन्या विरजा इसकी पत्नी थी, उससे इसे ययाति आदि पुत्र प्राप्त हुए थे। (यहाँ द्रष्टव्य है कि वायु पुराण के अनुसार विरजा नहुष की माता का नाम है और मत्स्य पुराण के अनुसार विरजा नहुष की पत्नी का नाम है)। पद्म पुराण[२२] के अनुसार नहुष ने अशोक सुन्दरी नामक स्त्री से विवाह किया था। अशोक सुन्दरी पार्वती की कन्या थी।

नहुष की माता और पत्नी के समान ही पुत्रों के सम्बन्ध में भी पुराण एकमत नहीं हैं। अधिकांश पुराणों जैसे हरिवंश पुराण[२३], ब्रह्म पुराण[२४], विष्णु पुराण[२५] (ई० स० ३००-५०० 'हिजरी', ई० स० ४थीं शताब्दी - पार्जिटर—८०; ई० स० ३री शताब्दी—हरप्रसाद शास्त्री की प्रस्तावना), श्रीमद्भागवत पुराण[२६], लिंग पुराण[२७] तथा महाभारत[२८] में नहुष के छह पुत्र वर्णित हैं। परन्तु कूर्म पुराण[२९] तथा पद्म पुराण[३०] के अनुसार नहुष के कुल पाँच पुत्र थे। मत्स्य पुराण[३१] तथा अग्नि पुराण[३२] (ई० स० ६००-८०० 'हिजरी', ई० स० ५००-५५०- पुराण निरीक्षण—१०२-व्यं० गु० काले, ई० स० ८०० से ९००—हरप्रसाद शास्त्री की प्रस्तावना) में नहुष के पुत्रों में ययाति सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ और ययाति के द्वारा ही 'पुरुरवस वंश' को 'ययाति वंश' नया नाम प्राप्त हुआ। यति नहुष का ज्येष्ठ पुत्र था और ययाति दूसरा।

पौराणिक साहित्य में नहुष के विषय में मुख्यतया चार अन्तर्कथाएँ मिलती हैं: (१) पद्म पुराण में नहुष द्वारा हुण्ड राक्षस के वध की कथा। (पद्म पुराण, भूखण्ड—१०४-११७)। (२) च्यवन ऋषि को मछुओं के जाल से नहुष द्वारा छुड़ाए जाने की कथा। (महाभारत, अनु० पर्व० अ० ५०, ५१, शान्ति पर्व २६०·६)। (३) वृत्र-वध की कथा। (ऋ० वेद ८·७८, भा० ६·१·६, पद्म० भू० २४, म० व० १००, भा० ६·८, उ० १०)। (४) नहुष के सदेह इन्द्र-पदप्राप्ति तथा पुनः पृथ्वी पर आने की कथा। बाद में युधिष्ठिर द्वारा शापग्रस्त नहुष-रूपी अजगर से मुक्त होने की कथा। (महाभारत उ० पर्व, वन पर्व)।

गुप्त जी ने इस चौथी, नहुष के सदेह इन्द्र-पद प्राप्त करने तथा पुनः शापग्रस्त होकर पृथ्वी पर आने की कथा को लिया है। इस कथा ने गुप्त जी को आकर्षित किया और नहुष आख्यान लिखने के लिए प्रेरित किया। महाभारत (उद्योग पर्व) में नहुष के इन्द्र-पद प्राप्त करने का वर्णन बहुत विस्तार से मिलता है। यहाँ संक्षेप में इस कथा का अवलोकन कर लेना अनुपयुक्त न होगा। वृत्रासुर के अत्याचार से दुःखी होकर इन्द्रसहित देवगण भगवान् विष्णु की शरण में गए। विष्णु के आज्ञानुसार इन्द्र ने पहले तो वृत्रासुर से सन्धि कर ली और फिर अवसर पाकर उसकी हत्या कर दी। ऋग्वेद (८·७८) के अनुसार इसी का वध करने के लिए इन्द्र ने जन्म लिया था,

इसीलिए उसे ऋग्वेद में 'वृत्रहन्' की उपाधि दी गई है। तत्पश्चात् इन्द्र ब्रह्महत्या के डर से जल में छिप गए। देवताओं तथा ऋषियों के अनुरोध से राजा नहुष इन्द्र के पद पर अभिसिक्त हुए।[३४] धर्मपरायण होते हुए भी नहुष कामभोग में आसक्त हो गए और एक दिन उनकी दृष्टि इन्द्राणी पर पड़ी। वे शची पर आसक्त हो गए और उन्होंने सभासदों से कहा कि इस समय मैं ही इन्द्र हूँ और सम्पूर्ण लोकों का अधीश्वर हूँ, अतः शची को शीघ्र ही मेरे महल में लाओ। शची यह समाचार सुनकर बहुत दुःखी हुई और बृहस्पति की शरण में गई। बृहस्पति ने शची को आश्वासन दिया। नहुष यह जानकर क्रोधित हो उठा। देवता और ऋषियों ने नहुष से क्रोध त्याग देने की प्रार्थना की, परन्तु नहुष न माना। तत्पश्चात् देवता बृहस्पति के पास गए और कहा कि वे शची को नहुष की पत्नी बनने दें। बृहस्पति ने देवताओं के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। तदनन्तर बृहस्पति की आज्ञानुसार शची ने नहुष से कुछ काल की अवधि माँग ली। कुछ समयोपरान्त विष्णु भगवान् की कृपा से इन्द्र ब्रह्महत्या के दोष से मुक्त हो गए। परन्तु स्वर्ग में आने पर नहुष को राजा देखकर वे पुनः अदृश्य हो गए। इससे इन्द्राणी और भी चिंतित हो गई और उन्होंने उपश्रुति देवी की उपासना की।[३४] उपश्रुति देवी की सहायता से इन्द्राणी की इन्द्र से भेंट हुई। इन्द्राणी ने इन्द्र से कहा कि वे नहुष को मार डाले और अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लें। इन्द्र ने कहा कि यह समय पराक्रम दिखाने का नहीं है और शची को समझाया कि तुम एकान्त में जाकर नहुष से कहो कि आप दिव्य ऋषि-यान पर बैठकर मेरे पास आइए। इससे मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके वश में हो जाऊँगी। शची ने नहुष को इस बात के लिए तैयार कर लिया।[३५] नहुष ने बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को अपनी पालकी में जोतना प्रारम्भ किया।[३६] भृगु जी ने अगस्त्य जी से कहा कि हम लोग इस अत्याचारी का अत्याचार क्यों सह रहे हैं। अगस्त्य जी ने बताया कि स्वर्गलोक में आते समय इसने ब्रह्मा जी से यह वर माँगा था कि "जो मेरे दृष्टि-पथ में आ जाय, वह मेरे अधीन हो जाय।"[३७] जब नहुष ने ऋषियों को अपनी पालकी में जोता, तब भृगु अगस्त्य मुनि के जटा-संभार में छिपकर बैठ गए जिससे वे नहुष को दिखाई न दें। बल और मद से गर्वित नहुष का भार ढोते-ढोते ब्रह्मर्षि परिश्रम से पीड़ित हो गए। ऋषियों ने नहुष से वाद-विवाद करना आरम्भ किया। नहुष क्रोधित हो उठे और ऋषियों को तेज चलाने के लिए चाबुक से मारा तथा अगस्त्य मुनि के सिर पर बाएँ पैर से प्रहार भी किया। उनके मस्तक पर चोट होते ही जटा के भीतर बैठे हुए महर्षि भृगु अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने नहुष को श्राप देते हुए कहा—"ओ दुर्मत! तुमने इन महामुनि के मस्तक में क्रोधपूर्वक लात मारी है, इसलिए तू शीघ्र ही सर्प होकर पृथ्वी पर चला जा।"[३८] उनके शाप देने पर नहुष सर्प होकर पृथ्वी पर गिरने लगे। श्रीमद्भागवत के अनुसार इन्द्र-पत्नी शची से सहवास करने की चेष्टा के कारण नहुष को ब्राह्मणों ने इन्द्र-पद से गिरा दिया और अजगर बना दिया। (६।१८।३)

गुप्त जी ने नहुष के सदेह इन्द्र-पद प्राप्त करने तथा पुनः स्वर्ग से च्युत होकर भूलोक पर आने की कथा को अपने काव्य का विषय बनाया है। कवि ने 'नहुष' खण्डकाव्य (१४वाँ संस्करण) के निवेदन में लिखा है, "वस्तुतः नहुष का नाम वैदिक काल से सुना जाता है और मनु के समय से उसका दृष्टान्त दिया जाता है। इतनी पुरानी होने पर भी इस कथा ने मुझे नए ही रूप में आकर्षित किया।" × × × "उद्योग पर्व में वर्णित नहुष के उपाख्यान ने कुछ सोचने के लिए विवश कर दिया।" यद्यपि साहित्य तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में कवि ने नहुष के विषय में पढ़ा था, परन्तु महाभारत की कथा ने उन्हें विशेष प्रभावित किया वास्तव में ऐतिहासिक पौराणिक तथा महा

भारतीय कथानकों को कवि ने जब भी अपनाया है तो उन्हें उसी मूल रूप में स्वीकार नहीं किया। प्राचीन कथाओं के माध्यम से युगीन समस्याओं का समाधान किया है। पौराणिक कथाओं मे से अमानवीय अथवा अतिमानवीय तत्वों को निकाल दिया है। आधुनिक पाठक ऐसे तत्वो पर विश्वास भी नहीं कर पाता। अतएव गुप्त जी ने महाभारत मे वर्णित प्रस्तुत आख्यान को यथा-सभव नवीन रूप दिया है। गुप्त जी के अधिकांश पात्र पौराणिक-ऐतिहासिक हैं। इन प्राचीन और चिरप्रसिद्ध पात्रो के चरित्रों को बदलना या उनमें परिवर्तन करना किसी भी कवि के लिए कठिन होता है। गुप्त जी में तो प्राचीनता के प्रति अगाध श्रद्धा भी थी और वे प्राचीनता का अन्धानुकरण भी नहीं करना चाहते थे। अतः चिरप्रसिद्ध पात्रों का उन्होंने पुनर्निर्माण किया जो कि बहुत ही कठिन कार्य है। गुप्तजी ने इन पात्रों का प्रतिष्ठित रूप वैसा ही रखते हुए उनका पुनर्निर्माण किया है। ऐसे पात्रों में शची और नहुष भी आते हैं।

'नहुष' खंडकाव्य में नहुष और शची दो प्रमुख पात्र हैं। दोनों अपने-अपने लो[illegible] के प्रतिनिधि है। नहुष यदि नायक है लो शची प्रतिनायिका। गुप्त जी ने 'यशोधरा' की [illegible] 'इन्द्राणी' काव्य लिखना प्रारम्भ किया था, परन्तु बहुत समय तक न लिख पाने के कारण, बाद मे नहुष नाम से यह काव्य पूर्ण हुआ। प्रस्तुत काव्य 'शची' शीर्षक से ही प्रारम्भ हुआ है। इसमें शची के चरित्र को पर्याप्त भिन्न रूप में उभारा गया है। शची का संघर्ष नहुष से है। वह वियोगिनी है और नहुष द्वारा स्वर्ग का राज्य सँभालते ही आतंकित हो उठती है। शची की सखी उसे प्रबोधती है—

> "फिर भी नहुष तो हमारे चिर भक्त हैं
> दानव नही वे महादानव सशक्त हैं
> अपना सहायक हमी ने है उन्हे चुना
> उनके लिए क्या कभी और कुछ है सुना ?"[३९]

कवि ने शची को आत्मरक्षा के लिए सन्नद्ध दिखाया है। वह नहुष से शंकित और आतंकित भी है। वह तर्क रखती है—

> "नहीं, किन्तु पद में सदैव एक मद है,
> सीमा लाँघ जाता उमड़ता जो नद है।
> निश्चय है कब क्या किसी के मन का कहीं,
> शंकित हो मेरा मन आतंकित है यही।"[४०]

गुप्त जी की शची यह भी समझती है कि दनुज तो दनुज होते ही हैं, देव देव ही रहते हैं; परन्तु मनुज देवत्व भी प्राप्त कर सकता है और दानव की कोटि में भी पहुँच सकता है। वह अपनी चिन्ता व्यक्त करती है—

> "देव सदा देव तथा दनुज दनुज हैं,
> जा सकते किन्तु दोनों ओर ही मनुज हैं।
> रह सकती हूँ सावधान दानवों से मैं,
> शंकित रहती हूँ हाय ! मानवों से मैं।"[४१]

गुप्त जी की शची महाभारत की शची से बहुत भिन्न है। वह महाभारत की शची की भाँति उपश्रुति देवी की उपासना नहीं करती और स्वयं को निरीह नहीं समझती है। वह वीर क्षत्राणी

की भाँति अपनी रक्षा के लिए कटिबद्ध है, साहस और शक्ति से पूर्ण है और युद्ध के लिए तत्पर है—

"कोई भी युक्ति हाय ! मुझे आज नहीं सूझती,
संभव जो होता युद्ध, तो मैं आप जूझती।
और मैं दिखाती, रस मात्र नहीं चखती
देखते सभी, क्या शक्ति साहस हूँ रखती।"[४२]

गुप्त जी की शची आत्मगौरव से भी पूर्ण है—

"होकर भी स्वर्गेश्वरी घोर चिंता-चर्विता,
हो उठी प्रदीप्त आत्म-गौरव से गर्विता।"[४३]

गुप्त जी की शची महाभारत की शची से कहीं अधिक सशक्त है। नहुष का अनुचित प्रेम-संदेश पाकर उसकी यह प्रतिक्रिया होती है—

"त्यागो शची-कांत बनने की पाप-वासना,
हर ले नरत्व भी न काम-देवोपासना।"[४४]

गुप्त जी ने नहुष-आख्यान द्वारा एक नवीन संदेश दिया है, इसीलिए 'महाभारत' की कथा के कुछ प्रसंगों को किंचित् परिवर्तन के साथ उपस्थित किया है। 'महाभारत' के अनुसार इन्द्र शची को यह परामर्श देते हैं कि वह नहुष से ऐसी पालकी पर आने के लिए कहे जिसके वाहक ऋषि हों।[४५] 'नहुष' खण्डकाव्य में इन्द्र शची से यह बात नहीं कहते, वरन् शची स्वयं ऐसा निर्णय लेती है, ऐसा सोचती है और ऋषियों के सामने यह प्रस्ताव रखती है। इस परिवर्तन के पीछे कथा-संक्षेपण की भावना के साथ-साथ गुप्त जी की नारी-भावना भी है। गुप्त जी ने महाभारत की इन्द्राणी से कहीं अधिक आत्म-विश्वासी, स्वावलम्बी और साहसी इन्द्राणी को उपस्थित किया है। वह उपश्रुति देवी की उपासना नहीं करती और न ही इन्द्र से अपने कर्तव्य को पूछती है। वह नहुष के दूत द्वारा लाए गए सन्देश को सुनते ही नहुष के पास उत्तर भेजती है—

"तुम्हें बताया वैजयन्त धाम में,
चाहते हो मेरा धर्म भी क्या तुम अन्त में ?"[४६]

इन्द्राणी नहुष के इस अनुचित प्रस्ताव को सुनकर ऋषियों पर भी क्रोधित होती है—

"कोई न था तुममें जो भार धरे तब लौं,
स्वामी कहीं प्रायश्चित पूरा करें जब लौं ?"[४७]

× × ×

"आहुतियाँ दे के इस नहुष अभाग को,
दूध ऋषियों ने ही पिलाया कालनाग को।
अच्छा तो उठाके वही कंधों पर शिविका,
लावें उस नर को बना के वर दिवि का।"[४८]

एक अन्य परिवर्तित प्रसंग यह है कि महाभारत के अनुसार नहुष का स्वर्ग से पतन अगस्त्य मुनि की जटा में छिपे हुए भृगु ऋषि के कारण हुआ था। परन्तु गुप्त जी ने इस प्रसंग में भृगु ऋषि का नाम नहीं लिया है और न ही अगस्त्य मुनि का ही। उन्होंने कहा है—

"क्षिप्त पद हाय ! एक ऋषि को जो जा लगा
सातों ऋषियों में महा रोषानल था जगा।"[४९]

गुप्त जी ने 'महाभारत' की इस अन्तर्कथा में यह परिवर्तन दो कारणों से किया प्रतीत होता है। प्रथम, उन्हें महाभारतीय कथा का संक्षेपण करना था। दूसरे, अगस्त्य स्वयं सप्त-ऋषियों में से एक नहीं थे, अतः गुप्त जी ने अगस्त्य मुनि का नाम नहीं लिया है। उन्होंने केवल कहा है—"क्षिप्त पद हाय ! एक ऋषि को जो जा लगा।" ये 'एक ऋषि' भृगु ही हैं। यदि कवि भृगु का नाम लेता तो उसे यह भी स्पष्ट करना पड़ता कि भृगु किस प्रकार और क्यों अगस्त्य मुनि के जटा-संभार में प्रविष्ट हुए थे। अतः अनावश्यक विस्तार बचाने के लिए कवि ने कथा में यह परिवर्तन किया है।

गुप्त जी ने नहुष को भी एक नए रूप में उपस्थित किया है। उसके चरित्र में बहुत बड़ा परिवर्तन किया है। यद्यपि 'महाभारत' के समान ही नहुष का स्वर्ग से पतन कवि ने दिखाया है परन्तु नहुष के चरित्र से एक जागरण और गिरकर फिर उठने का सन्देश मिलता है। कवि नहुष से कहलाता है—

"मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति आज भी मैं नहीं जानता।
आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।"[४०]

× × ×

"गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं।"[४१]

गुप्त जी में एक अदम्य आशावाद है। वे पतन और असफलताओं को ह्रास का कारण नहीं मानते। स्वर्ग से गिरा हुआ पतित नहुष भी आत्मगौरव नहीं खोता और आशा के स्वरों में उक्त संदेश देता है। नहुष स्वर्ग से पतन के कारण निरुत्साहित नहीं होता। वह गिरकर पुनः उठना जानता है। वह भविष्य में स्वर्ग ही नहीं, मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा रखता है। कवि ने नहुष के चरित्र में जो परिवर्तन किया है, उसके पीछे यही सन्देश है। जो उठता है, वही तो गिरता है और गिरकर पुनः उठना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

'महाभारत' तथा गुप्त जी के संदेश में अन्तर स्पष्ट है। 'महाभारत' में इसका वर्णन कष्ट-सहिष्णुता के उपदेशार्थ हुआ था, परन्तु 'नहुष' काव्य में इसके द्वारा मानव का स्तवन किया गया है। गुप्त जी ने 'महाभारत' की इस अन्तर्कथा की आत्मा को दूसरा ही रूप दे दिया है। 'महाभारत' के अनुसार योगी को इन्द्र बनाया गया और कामी का पतन दिखाया गया। महाभारतकार यह दिखाकर संतुष्ट हुआ। परन्तु गुप्त जी आधुनिक विचारक थे। उन्होंने नहुष के देवत्व से उसके राक्षसत्व को अधिक महत्व दिया है। नहुष के शापित होने पर भी गुप्त जी को उसकी उन्नति और प्रगति पर पूर्ण भरोसा है। जिसने अभी स्वर्ग प्राप्त कर लिया, वह शापित होकर अपवर्ग भी प्राप्त कर सकता है। नहुष अपनी असाधारण मानवता के फलस्वरूप इन्द्र के पद पर अभिषिक्त हुआ, पर अपनी अनियन्त्रित यौन-वृत्ति के कारण पतन को प्राप्त हुआ। इतना होने पर भी उसकी उत्थान-चेष्टा समाप्त न हुई।

महाभारतकार चिर तपस्वी राजा नहुष को स्वर्ग पहुँचते ही बिना किसी स्पष्ट कारण के परमात्मा बना देता है। यथा—

सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्ट पे ॥१०॥
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत।[५२]

परन्तु गुप्त जी ने इसे अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए मनोवैज्ञानिक कारण दिए हैं। यथा—

"सेवन से और और बढ़ते विषय हैं,
अर्थ जितने हैं सब काम में ही लय हैं।
एक बार पीकर प्रमत्त जो हुआ जहाँ,
सुध फिर अपनी पराई उसको कहाँ ?"[५३]

'महाभारत' में इन्द्राणी को प्राप्त करने के अपने प्रस्ताव को पुष्ट करने के लिए नहुष इन्द्र के दूषित कार्यों का उल्लेख करते हैं।[५४] परन्तु गुप्त जी ने आदर्श की रक्षा के विचार से इस युक्ति को छोड़ दिया है और नहुष के प्रस्ताव को पुष्ट करने के लिए, नहुष के द्वारा केवल एक ही तर्क उपस्थित किया है—

"इन्द्राणी उसी की इन्द्र है जो, आज जैसा मैं।
वह तो रहेगी वही, इन्द्र चो हो सो सही।"[५५]

मानव-स्तवन की दृष्टि से प्रस्तुत अंतर्कथा में नहुष का चरित्र दर्शनीय है। 'महाभारत' के अतिप्राकृत तत्त्व को छोड़कर कवि ने उसे सहज स्वाभाविक रूप दिया है। इसमें कवि मानव का अप्रतिहत जीवनोत्साह दिखाता है। कामादि से अधिकृत हो जाने पर मानवीय मनोवृत्तियाँ दूषित हो जाती हैं। परन्तु फिर मानव उन्हीं पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। गुप्तजी द्वारा प्रणीत नहुष-आख्यान की सबसे प्रमुख विशेषता है मानव का गौरव-गान। यथा—

"नारायण ! नारायण ! धन्य नर-साधना,
इन्द्र-पद ने भी की उसी की शुभाराधना।"[५६]

संदर्भ-संकेत

१. अनु—हे इन्द्र तुमने पहले नहुष राजा की प्रजाओं को जिस शीघ्र दौड़ने वाले घोड़ों के समूह को दिया था, उसको ही हमें दो। —ऋ० ८।६।२४

नहुष—इस नाम का एक राजा, मनुष्य 'नहुष इति मनुष्यनाम'

—यास्क का निरुक्त (निघं० २।३)।

२. अनु—जो वायु मुझे इस विलक्षण दान को देने के लिए स्वयं ही आनन्दित होता है, वह उत्तम कर्म करने वाला अपने धन को युवा व्यवहार-कुशल, उत्तम कार्य में कुशल (नहुष) मनुष्य में अधिक उत्तम कर्म करने वाले के हितार्थ देता है। —ऋ० ८।४६।२७

—अनुवादक पद्मभूषण पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

३. अनु—जो बलवान मनुष्य घोड़ों और रथों वाले शूरवीरों को मेरी सुरक्षा के लिए प्रेरित करता है, ऐसे इस महिमायुक्त ऐश्वर्य वाले धन की मैं प्रशंसा करता हूँ। (सुवीराः नहुषः) उत्तम वीरता से हम सब मनुष्य एकसाथ संगठित हों ॥८॥ ऋ० १।१२२।८

अनुवादक वही।

अनु—जो देवों की भक्ति करता है, अश्ववादियों से युक्त होकर भयंकर शत्रुओं का भी विनाशक होता है। वह याचकों की उदारतापूर्वक सहायता करता है तथा सभी संग्रामों में शत्रुओं का नाश करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। देवों का भक्त कभी भी डरपोक या पीछे छूटने वाला नहीं होता। क्योंकि देव सदा उसकी सहायता करते हैं, इसलिए बड़े से बड़े और भयंकर से भयंकर शत्रु भी उसके सामने नहीं ठहर सकते।

—ऋ० १।१२२।१०, अनुवादक वही।

अनु – आकाश को भी अपने सामर्थ्य से ढक देने वाले अर्थात् अत्यन्त सामर्थ्यशाली, तेजस्वी तथा आनन्द फैलाने वाले वीरों को चाहिए कि वे अपने धन के घमण्ड में आकर प्रजा का अहित और उन पर अत्याचार करने वाले दुष्टों का सारा धन छीन कर प्रजाओं के हित करने वाले तथा उनकी रक्षा करने वाले वीर को देवें। तुम (अमृतस्य सूरेः नहुषः) अमृत-रूपी यज्ञ को प्रेरणा देने वाले उनकी रक्षा के लिए जाएँ।

—ऋ० १।१२२।११, अनुवादक—वही।

लिंग पुराण—१।४६।६०

यः पुरुरवसः पुत्र आयुस्तस्यभवन् सुताः
नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी रम्भश्च वीर्यवान् ॥१॥ —भागवत ६।१७।१

आयुष,स्तनयावीराः पंचवा सन्म होजसः।
स्वर्भानु तनयायामसां वै प्रभायामितिनः श्रुतम् ॥३॥ —कूर्म पुराण प्रथम खंड।
नहुषः प्रथमस्तषां धर्मज्ञो लोकाविश्रुतः ॥४॥ — वही।

हरिवंश पुराण—१।२८।१। ११. पद्म पुराण, भूखण्ड—१०५-११७। १२. वायु पुराण—९४। १३. ब्रह्म पुराण—१२।३५। १४. महाभारत—संभव पर्व, अ० ७५, २३-२६। १५. हरिवंश पुराण—१।२८।१। १६. महाभारत संभव पर्व—अ० ७५, २३-२६। १७. कूर्म पुराण, प्रथम खण्ड—३-५। १८. ब्रह्माण्ड पुराण—३।६।२६। १९. पद्म पुराण—भूखण्ड—१०४-११७। २० वायु पुराण—९४। २१. मत्स्य पुराण—१५।२३। २२. पद्म पुराण—भूखण्ड—१०४-११७। २३. हरिवंश पुराण—१।३०।२। २४. ब्रह्म पुराण—१२। २५. विष्णु पुराण—४।१०। २६. श्रीमद्भागवत पुराण—९।१८।१। २७. लिंग पुराण—१।६६। २८. महाभारत—आ० ७०।२८। २९. कूर्म पुराण—

नहुषः प्रथमस्तषां धर्मज्ञो लोक विश्रुतः।
नहुषस्य तु दायदः पञ्चेन्द्रोपमतेजस ॥४॥ —कूर्म पुराण, प्रथम खण्ड।

३०. पद्म पुराण, सृ० खण्ड—१२। ३१. मत्स्य पुराण—२४।५०। ३२. अग्नि पुराण—२७४। ३३ महाभारत, उद्योग पर्व, सेनोद्योग पर्व, अ० १०, ११। ३४. महाभारत, उद्योग पर्व, सेनोद्योग पर्व—अ० ११। ३५. महाभारत, उद्योग पर्व, सेनोद्योग पर्व—अ० १५।

३६. यो मे दृष्टि पथं गच्छेत् स मे वश्यो भवेदिति।
इत्यनेन वरं देवो याचितो गच्छता दिवम् ॥१७॥

—महाभारत, अनु० पर्व, दानधर्म पर्व, अ० ९९।

३७. यो मे दृष्टि पंथ गच्छेत् स मे वश्या भवदिति।
इत्यनेन वरं देवो याच्तिो गच्छता दिवम् ॥१७॥

—महाभारत, अनु० पर्व, दानधर्म पर्व, अ० ९९

३८. महाभारत—अनुशासन पर्व, दानधर्म पर्व—अ० १००, श्लोक ३०। ३९. नहुष—शची, पृ० १८। ४०. वही—पृ० १८। ४१. वही—पृ० १९। ४२. वही। ४३. वही—पृ० २०। ४४. नहुष संदेश, पृ० ४८। ४५. महाभारत, उद्योग पर्व, सेनोद्योग पर्व—अ० १५, श्लोक ३-४। ४६. जयभारत नहुष, पृ० १९-२० (द्वितीय संस्करण)। ४७ नहुष—पृ० ५४। ४८. वही पृ० ५९। ४९. वही—पृ० ६२। ५०. वही—पृ० ६३। ५१. वही—पृ० ६५। ५२. महाभारत, उद्योग पर्व, सेनोद्योग पर्व—अ० ११, श्लोक १०-११। ५३. नहुष—पृ० ३९। ५४. महाभारत, उद्योग पर्व, सेनोद्योग पर्व—अ० १५, श्लोक ३-४। ५५. नहुष—पृ० ४२। ५६. नहुष पृ० २१।

१-ए, हैमिल्टन रोड,
इलाहाबाद

निराला-काव्य की शाक्त-चेतना

डॉ० मेधाव्रत शर्मा

आधुनिक हिन्दी-काव्य के मूर्धाभिषिक्त कल्प-कवि स्व० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के प्रसग में शाक्तमत-विषयक परिप्रेक्ष्य आपाततः चाहे जितना भी उद्वेजक लगता हो, पर मैं जितना ही इस विषय के अन्तस्तल में अभिनिविष्ट होता हूँ, उनके काव्य-व्यक्तित्व की अन्तश्चेतना मे बहुमूल्य शाक्त संस्कार की अनुभूति मुझे अभिभूत किए देती है और मेरे निकट इस दृष्टि से 'निराला' के काव्य-व्यक्तित्व के उद्घाटन का प्रयास स्वारस्य के सर्वथा अनुरूप हो उठता है।

अवश्य यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि 'निराला' को बलात् 'शैव-शाक्त' जैसे किसी साधना-विशिष्ट साम्प्रदायिक चौखटे में रखने की अभिसंधा की जा रही हो। यहाँ हमारा मन्तव्य मात्र इतना ही है कि उनकी काव्यात्मक भाव-चेतना की एक अत्यन्त अभिभावी विचार-तन्तु के रूप में शाक्त दृष्टि प्रतिफलित है।

व्यक्ति के मानसिक गठन के निर्माण में जन्मस्थानीय पर्यावरण एवं परिस्थिति की सर्वातिशायी भूमिका होती है। 'निराला' जी के पिता बंगाल के मेदिनीपुर-जिलान्तर्गत महिषादल स्टेट में मुलाजिम थे और वहीं सन् १८९६ की वसन्त-पंचमी को 'निराला' का जन्म हुआ। वहीं हाईस्कूल मे नवीं कक्षा तक पढ़े, फिर १९११ मे ही महज १५ वर्ष की कच्ची उम्र मे इनका विवाह हो गया और कुल २२ वर्ष की वय मे ही (१९१८ ई०) वैधुर्य से अभिशप्त हो गए। १९१८ ई० की भीषण महामारी में चाचा, भाई, भाभी और उनकी बच्ची के साथ ही इनकी पत्नी भी पंचत्व को प्राप्त हो गईं। पिता एक साल पहले ही गुजर चुके थे। विवश होकर पढ़ाई-लिखाई छोड़ महिषादल मे ही इन्हे नौकरी करनी पड़ी—नाजुक कन्धों पर अपने पुत्र-पुत्री रामकृष्ण तथा सरोज एवं चाचा के चार बच्चों का भार जो था। किन्तु, दो ही वर्षों के बाद १९२० मे एक साधु-सम्बन्धित विवाद में इनकी नौकरी जाती रही। तत्कालीन हिन्दी-पत्रकारिता के शलाका-पुरुष आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रयास से कलकत्ता से हो प्रकाश्य 'समन्वय' में इन्होने सेवा ग्रहण की और फिर श्री महादेवप्रसाद सेठ द्वारा संचालित 'मतवाला' से संपृक्त हुए और उसी में जमे १९२६-२७ तक।

'समन्वय'-'मतवाला'-काल में 'निराला' रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों के काफी गहरे सन्निकर्ष में रहे। ऐसे लोगों में स्वामी माधवानन्द और स्वामी आत्मबोधानन्द विशिष्ट व्यक्ति कहे जाएँगे। स्वामी आत्मबोधानन्द तो 'समन्वय' के प्रबन्धक ही थे। बंगाली शाक्ताभिनिवेशी सांस्कृतिक आवेष्टन का 'मतवाला'— सानुप्रासोपनामा 'निराला' के मनोगठन पर कितना गह्वरेष्ठ प्रभाव था, इसका एक अमोघ निदर्शन यह भी है कि दक्षिणेश्वर की जगज्जननी 'महाकाली' की कृपा के परम-भाजन एवं उनके कमल-क्रोड़ में परमहंस-सुलभ शिशु-भाव से सतत् रममाण अनन्य शाक्तावधूत श्रीरामकृष्ण परमहंस पर उनका गहन दार्शनिक, मननपरक व श्रद्धाविगलित लेख 'समन्वय' में ही प्रकाशित हुआ 'युगावतार श्रीरामकृष्ण'। 'समन्वय' के प्रबन्धक स्वामी मा———— ने बंगालियों के भावों को समझने के लिए'[1] खास तौर पर अपने यहाँ आकर रहने का साग्रह अनुरोध

किया था, फलतः 'निराला' वहाँ जाकर उद्बोधन-कार्यालय, बाग-बाजार, कलकत्ता में रहने लगे थे।

अवधेय है कि बंगाल-आसाम तान्त्रिक शाक्त-साधना के केन्द्र-सूत्र में चिर-ग्रथित रहे हैं। 'सर्वविद्या-ठाकुर' सर्वानन्दनाथ यति (१२वीं श०) जैसे शाक्त वीराचार के परामर्श सिद्ध महायोगी को आविर्भूत करने का श्रेय बंगाल की मिट्टी को ही है। तान्त्रिक साधना और साहित्य के महा-मनीषी महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज का नाम कौन नहीं जानता? उनके गुरु श्री श्रीविशुद्धानन्द परमहंसदेव बंगाली ही थे जिन्होंने स्थूल दृष्टि के अगोचर तिब्बतस्थ 'ज्ञानगंज' नामक सिद्धपीठ में साधना कर अलौकिक 'सूर्यविज्ञान्' प्राप्त किया था और ज्ञान-क्षेत्र काशी में स्वाविष्कृत 'श्री श्रीनवमुरारी-महासन' की स्थापना की थी।[२] महाभावस्वरूपिणी 'माँ आनन्दमयी' बंगाली-संस्कृति की ही तो महाविभूति हैं जो 'विश्वजननी का मूर्तिमय रूप'[३] हैं और जिनके रूप में साक्षात् 'जगदम्बा'[४] लीलावपुधारिणी बनी 'आँख' वालों को अपने करुणा-कटाक्ष से निहाल करती विहर रही हैं। अत्यधिक उपबृंहण का बचाव करते हुए इस अंगुलि-निर्देशमात्र से यह मन्तव्य सम्यक् उपोद्वलित है कि बंगाली संस्कृति शाक्त-परम्परा से कितने गहरे रूप में ओतप्रोत है। बाद में चण्डीदास-चैतन्य आदि को केन्द्र कर जो वैष्णव लहर उठी, वह भी शाक्त-प्रभाव से गहरे रूप में आप्लुत है। चण्डीदास को लेकर जो सहजिया वैष्णव पंथ विकसित हुआ, वह वज्रयानी बौद्ध सिद्धों की शाक्त तान्त्रिक परम्परा का ही वैष्णव रूपान्तर है, यह बात डॉ० शशिभूषण दासगुप्त अपनी पुस्तक 'ऑब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स' में भली-भाँति निर्विवाद रूप से स्थापित कर चुके हैं। चैतन्य-प्रवर्तित गौड़ीय मत के सम्बन्ध में डॉ० गोपीनाथ कविराज का निष्कृष्ट विचार है—"गौड़ीय मत के मूल का अन्वेषण करने से प्रतीत होता है कि पाञ्चरात्र शास्त्र, शाक्ततन्त्र और महायानादि बौद्ध साधन-प्रणालियों से गौड़ीय उपासक-वर्ग ने अपने सिद्धान्त के पोषण के लिए बहुत कुछ ग्रहण किया है। ये सभी आगम के अन्तर्गत हैं, अतएव गौड़ीय सम्प्रदाय के मूल में जो आगम का प्राधान्य लक्षित होता है, उसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।"[५] प्रायः हर बंगाली घराने में कुमारी-पूजा की परम्परा बद्धमूल शाक्त दृष्टि का अमोघ द्योतन है। परतत्त्व की तन्त्रोचित मातृ-भावना बंगाली-संस्कृति में इतने गहरे रूप से मज्जागत है कि 'भारतवर्ष की भावना मातृरूप में करते हुए प्रथम राष्ट्र-गीत 'वन्दे मातरम्' की दृष्टि एक महान् बंगाली साहित्यिक विभूति (श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय : 'आनन्दमठ' में) ने ही की। प्राचीन आर्य-सम्मत कल्पना 'पितृ-देश' की ही है, 'मातृदेश' किंवा 'मातृभूमि' की कल्पना आर्येतर है।[६] सुतरां, 'भारत-माता' की परिकल्पना को लोकमत में ग्राह्य बनाने में तन्त्र-मत-प्रथित शाक्त-चेतना को कम-से-कम सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रेरणा के रूप में श्रेय देने में कतई शिद्दत नहीं। एक नन्हीं बच्ची के लिए भी 'माँ' सम्बोधन और स्त्री के तमाम रिश्तों-नातों के साथ 'मा' का परसर्गात्मक प्रयोग, जैसे 'मासी मा', 'काकी मा' आदि—कुमारी-पूजा की परम्परा अथच स्त्री-मात्र के प्रति शाक्तमतोचित मातृ-भावना के व्यापक तथ्य बंगाली संस्कृति के एक अनन्य व्यावर्तक लक्षण के रूप में समाम्नात हैं। कलकत्ता, जहाँ निराला यौवनमध्यान्त रहे, एक परम विशिष्ट शाक्त-पीठ के रूप में चिर-मान्य है। देवी के केशसहित मस्तक का अधिष्ठान है वह और जहाँ अधिष्ठात्री देवता के रूप में श्री कालिका और भैरव के रूप में नकुलीश की प्रख्याति है। अन्य मत के अनुसार 'केशसहित मस्तक' के स्थान पर 'दक्षपादाङ्गुली' का कथन है। बर्दवान जिले में कटवा के निकट जुरनपुर में भी कालीघाट के ही नाम से स्थान-निर्देशपूर्वक अन्य पीठ व्यपदिष्ट हैं जहाँ देवी का 'मुण्डपात' कहा गया है और अधिष्ठात्री देवता एवं भैरव के रूप में 'जयदुर्गा' व 'क्रोधीश' अभिहित हैं।[७]

अस्तु, यह नितान्त स्वाभाविक है कि ऐसे गहन शाक्ताभिनिवेशी सांस्कृतिक आवेष्टन वाले बंगाल में रहते हुए निराला की अन्तश्चेतना में शाक्त 'स्पिरिट' पैवस्त हुई जो उनके काव्य-साहित्य मे प्राणात्मक अन्तर्धारा बनकर व्यक्ताव्यक्त-भाव से संचरित है।

अवधेय है कि हिन्दी में आने के पूर्व 'निराला' बंगला में अपनी लेखनी भूरिशः माँज रहे थे। सात-आठ साल की उम्र में बंगला में कविताएँ भी लिखने लगे थे। बंगाल में बसने से इनकी मातृभाषा ही बंगला हो गई थी। कहना न होगा, इसी कारण आगे चलकर जब हिन्दी में भी पारगत हो गए तो 'हिन्दी बंगला का तुलनात्मक व्याकरण' तक लिख डाला जो १६१६ मे 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। बंगला की श्रेष्ठ साहित्यिक विभूतियों - रवि बाबू, चण्डीदास, विवेकानन्द और वैष्णव कवियों का इन पर प्रभाव सर्वमान्य है। 'अनामिका' संग्रथित रवि बाबू, विवेकानन्द आदि की कविताओं के अनुवाद भी इस तथ्य के इज़हार हैं। यह कम विचित्र बात नही कि १६-१७ साल की उम्र तक 'निराला' हिन्दी में बिलकुल कोरे थे। हिन्दी भाषा और साहित्य में उनके स्थापित होने के पीछे आद्या प्रणोदिनी शक्ति के रूप में बिलकुल 'पुरमथिराहा-पुरुषिका' (शिव की अहन्ता, उनकी शक्ति) की भाँति उनकी धर्मपत्नी मनोहरा देवी ने कार्य किया था जो उत्तरप्रदेशस्थ रायबरेली की थीं और इसीलिए जिन्हें हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। स्वर्गीया पत्नी के प्रति 'गीतिका' के समर्पण में 'निराला' के मर्म-सजल कंठ से ऋण-ज्ञापन का भाव सहज ही फूट उठा है —

"जिसकी हिन्दी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय, मैं आँखें नही मिला सका, लजाकर हिन्दी की शिक्षा के संकल्प से, कुछ काल बाद देश से विदेश, पिता के पास चला गया था और उस हीन हिन्दी प्रान्त में, बिना शिक्षक के 'सरस्वती' की प्रतियाँ लेकर, पद-साधना की और हिन्दी सीखी थी; जिसका स्वर गुरुजन, परिजन और पुरजनो की सम्मति में मेरे संगीत-स्वर को परास्त करता था... उस सुदक्षिणा स्वर्गीया प्रिया प्रकृति श्रीमती मनोहरा देवी को सादर।"

'प्रिया प्रकृति'— यह प्रयोग भी कितना साभिप्राय है और शाक्त दृष्टि-संवलित। जगज्जननी महाशक्ति परमात्मा की 'परा प्रकृति' कही गई है —

"त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः।
त्वत्तो जातं जगत्सर्वं त्वं जगज्जननी शिवे॥"[८]

और, शाक्त दृष्टि में 'परा देवी' जगत् के स्त्री-मात्र में आच्छन्न विग्रह-भाव से विलसित मानी गई है—'तव स्वरूपा रमणी जगत्याच्छन्नविग्रहा"।[९] 'सादर'—प्रयोग मे भी यह उदात्त दृष्टि-बोध उद्भिन्न है।

श्री सीता के प्रति 'निराला' के लक्ष्मण की न केवल लौकिक रूप से ही मातृ-दृष्टि है, बल्कि वह उन्हें साक्षात् पराशक्ति के रूप में देखते हैं—

"जिनके कटाक्ष से करोड़ों शिव-विष्णु-अज
कोटि-कोटि सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह
× × ×
सारे ब्रह्माण्ड के जो मूल में बिराजती हैं
आदिशक्तिरूपिणी,
प्रणव से लेकर प्रतिमन्त्र मे के अर्थ में
जिनके अस्तित्व की ही
दीखती है दृढ छाप
माता हैं मेरी वे।[१०]

'निराला' के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व की मूल कुंजी वस्तुतः उनकी शाक्त दृष्टि में ही निहित है। उनकी कविताओं में क्रान्तिकारी चेतना की सबसे सशक्त वाहक है 'बादल राग'। क्रान्ति-चेतना की साक्षात् मूर्ति हैं—'कालिका', दिगम्बरा, श्यामाङ्गी, कालरात्रिस्वरूपा, श्मशानवासिनी, मुक्त-कुन्तला, शवारूढ़ा एवं मुण्डमालधारिणी। 'निविड़ श्याम रूप' - रंगारंग अखिल नामरूपात्मक प्रपंच उसमें विलीन हो जाता है। उनके आवसथ की कल्पना 'श्मशान' से अधिक अनुरूप और क्या हो सकती थी! श्मशान, जो दाह-क्षेत्र है, काशी है—ज्ञान-क्षेत्र, शिवधाम। ज्ञान है अग्निस्वरूप। 'प्रज्ञा-चक्षु'—शिव का तृतीय नेत्र अग्निस्वरूप ही है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'। महाशक्ति काली प्रत्यावर्तन की दिशा हैं, लयोन्मुखी। महाप्रलय में निखिल प्रपंच उन्हीं में प्रविलीन हो रहता है, इसीलिए वह 'कवलीकृतनिश्शेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी' के रूप में अभिहित हैं। 'मुण्डमाला' वर्णमाला है—उनके शब्दब्रह्मस्वरूपिणी होने के नाते पंचाशत्वर्णसंघात हार के रूप में वक्षःस्थल पर विलुलित है। सृष्टि की अवस्था में सभी प्राणियों के शरीरस्थ आधारचक्र (मूलाधार) में अर्धत्रिवलया होकर भुजङ्गिनी के रूप में बिन्दुस्वरूप प्रणवत्व को प्राप्त कुण्डलिनी शक्ति[११] यही है। सृष्टि की अवस्था में वह सुप्त है और उसके जागरण से लय-क्रम का उदय होता है, मुक्ति की दिशा खुलती है। यह सर्वागमगुम्फिता कुण्डली-परदेवता 'त्रिधामजननीदेवी' एवं 'शब्दब्रह्म-स्वरूपिणी' व 'पञ्चाशद्वर्णरूपिणी' कही गई है जो विश्वात्मना प्रबुद्ध होकर मन्त्रजालरूप जगत् का आविर्भाव करती है।[१२] महाकाली की मुण्डमाला की पञ्चाशद्वर्णरूपता, अतएव, सुसिद्ध है। अवधेय है कि कुण्डलिनी का उद्बोधन होने पर जब लय-क्रम का उदय होता है, तो जिस सुषुम्णा-नामा महापथ में वह परमशिव-धाम सहस्रार की दिशा में ऊर्ध्वगमन करती है, उसका भी एक पारिभाषिक व्यपदेश 'श्मशान'[१३] है और यहाँ तक कि शिवधाम होने से 'सहस्रार' की भी भावना श्मशान के रूप में प्रथित है। सारा जगत् जिस काल का कलेवा है, वह काल स्वयं सुषुम्णा का कवल बन जाता है—'भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य'[१४]। सूर्य और चन्द्रमा पिंगला एवं इड़ा नाड़ियों में प्राणापान-रूप से काल संचरणशील रहता है—दिवरात्रि रूप से; और योगी जब उक्त द्विविरुद्ध धाराओं को कुण्डलिनी-जागरणपूर्वक सुषुम्णा-मुख में निरुद्ध कर देता है, तो 'सूर्येन्दुसंगमरूप अमावस्या' हो जाती है। यह अमावस्या ही मानो काली है। महाकाली की क्रीड़ाभूमि के श्मशान-रूप से ख्यात होने का तत्त्व-बोध उपरिगत विवेचन के आलोक में स्पष्ट है।

योग-धारा और तान्त्रिक मत ने पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता मूलभूत सिद्धान्त के रूप में अभि-गृहीत है। सभी देहों में विश्वस्वरूप परमेश्वर अखण्ड-स्वभाव से चित्-स्वरूप में घट-घट अवस्थित हैं। अपने पिण्ड के अन्दर ही चराचर का साक्षात्कार करने वाला योगी 'पिण्ड-संवित्ति'[१५] कहलाता है। अस्तु, ब्रह्माण्ड के ही सूक्ष्म प्रतिरूपी देहरूपी पिण्डाण्ड में महाशक्ति 'कुण्डलिनी' के रूप में मूलाधार चक्र में वायु और उपस्थ के मध्य आग्नेय त्रिपुर त्रिकोण में अवस्थित स्वयंभू-लिंग को (जो मूलाधार में अर्धत्रिवलया कुण्डलिनी के संबंध से शिव का ही एक रूप-विशेष है) सार्धत्रिवलयान्वित-भाव से आवेष्टित कर सुषुप्तावस्था में अधोमुख निविष्ट है। चतुर्दलात्मक मूलाधार स्थूलतम तत्त्व 'पृथिवी' का केन्द्र है जिसमें सृष्टि-प्रक्रिया पर्यवसित हो जाती है; क्योंकि इससे स्थूलतर और कोई तत्त्व नहीं—निदान, यहाँ आकर सृष्टिकारिणी शक्ति 'कुण्डलिनी' के रूप में सुषुप्तावस्था को प्राप्त हो जाती है, यह मोह-निद्रा है मानो! और, इस अवस्था में षट्त्रिंशत्तत्त्वरूप निखिल सृष्टि-प्रपञ्च का भार वह वहन कर रही है। उस सुषुम्णा-मुख को वह अवरुद्ध किए है जो मुक्ति-द्वार है और इसीलिए मुक्तिपथानुयायी साधक के लिए प्रथम अपेक्षा होती है—'कुण्डलिनी-जागरण' की। उसके जागरण से अवरुद्ध मुक्ति-द्वार खुल जाता है और वह सहस्रारस्थ परमशिव से समायोग के लिए

ऊर्ध्वदिक् संचरणशील हो उठती है। अस्तु, मुक्ति-द्वार को खोलने की कुञ्जी के रूप में भी 'कुण्डलिनी' की बड़ी ही सटीक कल्पना है—

"उद्घाट्येत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥"[१६]

मूलाधार के ऊपर सुषुम्णा-पथ में उत्तरोत्तर ऊर्ध्व-चक्र हैं—ध्वजमूल (रूट ऑफ पेनिस) से षड्दलात्मक पद्मरूप स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिदेश में दशदलात्मक पद्मरूप मणिपुरचक्र, हृदय-देश मे द्वादशदलात्मक अनाहत-चक्र, कंठ-देश में षोडशदलात्मक विशुद्धि-चक्र और उसके ऊपर भ्रूमध्य मे द्विदलात्मक आज्ञा-चक्र हैं। ये ही षट्-चक हैं और सबसे ऊपर परमशिवनिलयस्वरूप सहस्रदल-पद्म-रूप 'सहस्रार' है जो योगी का चरम गन्तव्य है और जहाँ पहुँचकर 'कुण्डलिनी' पराशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी के महाभाव मे परशिव के साथ सामरस्यापन्न होती है। जिस प्रकार मूलाधार पृथिवी, गन्धतन्मात्र, घ्राणेन्द्रिय एवं पादेन्द्रिय का केन्द्र है, उसी प्रकार स्वाधिष्ठान जलतत्त्व, पाणि, रसना एवं रस का, मणिपुर, अग्नितत्त्व, वायु, चक्षु एवं रूप का, अनाहत वायुतत्त्व, उपस्थ, त्वक् एवं स्पर्श का, विशुद्धि, आकाशतत्त्व, वाक्, श्रोत्र एवं शब्द का तथा आज्ञाचक्र सूक्ष्म मन का केन्द्र है। अवधेय .. कि आज्ञाचक्र के प्रसंग मे 'मन' का प्रयोग उपलक्षणात्मक है, तदनुसार आज्ञाचक्र के दो दलो में महत् और प्रधान (मूलप्रकृति) गतार्थ हैं। समष्टि-दृष्टि से जो 'महत्' है, वही व्यष्टि-दृष्टि से 'बुद्धि' पदवाच्य है जो समस्त अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार) का उपलक्षण है। यह बात 'कंकालमालिनी तन्त्र' के इस वचन से उपोद्बलित है—

"मनश्चात्र सदा भाति हाकिनीशक्तिरञ्जितम्।
बुद्धि प्रकृत्यहंकारालंकृतं तैजसं परम् ॥"[१७]

कुण्डलिनी-जागरण वस्तुतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के ही तत्त्वसाक्षात्कार का तान्त्रिक पर्याय है, विशिष्ट साधनात्मक प्रणाली से और यह लयक्रम का उदय है। जैसे ही कुण्डलिनी चक्रातिचक्र-भेदन-पूर्वक ऊर्ध्वगा होती है, उसमें तत्तत् चक्रों के तत्त्व विलीन होते जाते हैं और उत्तरोत्तर उसका बल-वत्तर एवं दिव्यतर स्वरूप विकस्वर होता जाता है। आज्ञाचक्र मे जाकर सृष्टि के सप्तावरण (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, महत् एवं प्रकृति) शेष हो जाते हैं और अन्ततः 'सहस्रार' में परमतत्त्व का लाभ हो जाता है।

'निराला' के काव्य में कुण्डलिनी-परक शाक्त दृष्टिबोध बड़े ही स्पष्ट रूप में व्यंजित हुआ है। सप्तावरण-भेदपूर्वक अर्थात् षट्चक्र-भेद के उपरान्त 'सहस्रार' में पहुँचने का कथन 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता की निम्नांकित पंक्तियों में देखें—

"अमृत-सन्तान ! तीव्र
भेदकर सप्तावरण मरण-लोक
शोकहारी ! पहुँचे थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्रार—"

यह भी ध्यातव्य है कि 'राम की शक्तिपूजा' में भी महाकवि ने श्रीराम द्वारा शक्ति की आराधना में कुण्डलिनी-योग की षट्चक्र-भेदन-प्रक्रिया के अंगीकरण का स्पष्ट संकेत किया है इन पंक्तियों में—

"क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस,
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस·

× × ×

षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुवा समाहित मन
प्रति जप से खिच खिच होने लगा महाकर्षण;
संचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर,
....
आठवाँ दिवस, मन ध्यानयुक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्माण्डपूर्ण, देवता स्तब्ध
हो गए दग्ध जीवन के तप के समारब्ध।"

आज्ञाचक्र के दो दलों की भावना देवी के चरणयुगल के रूप में कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के सर्वथा अनुरूप ही है।

अवधेय है कि कुण्डलिनी-विषयक अवधारणा पर महामनीषी 'निराला' के स्वतन्त्र, मौलिक व मुखर चिन्तन के मणि-दल उनके निबन्धों मे भी काफी बिखरे पड़े हैं। बानगी के तौर पर यहाँ उनके 'भारतीय काव्य-दृष्टि'—शीर्षक निबन्ध का किंचित् अंश प्रस्तुत है जिसमें रामायण के सात काण्डों को शरीरस्थ मूलाधारादि सहस्रारान्त सात चक्रों का रूपक मानते हुए श्रीरामतत्त्व और श्रीसीतातत्त्व का ऐकात्म्य क्रमशः सहस्रार-तत्त्व और मूलाधार-तत्त्व के साथ प्रतिपादित किया गया है और इस कुण्डलिनी-परक शाक्त-चिन्तन के आधार पर सीता के पृथ्वी से आविर्भाव और उसी मे अन्ततः तिरोभाव के रहस्य का नितान्त प्रामाणिक तत्त्वोन्मीलन किया गया है—

"सात काण्ड रामायण-शरीर के सात-चक्रों का रूपक है। हर शरीर रामायण है। उसके सात काण्ड हैं – मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। मूलाधार मे शक्ति का स्थान है। यह चक्र सबके नीचे है। सहस्रार में ब्रह्म का स्थान है। यह सबसे ऊपर है। सीता पृथिवी से निकलती है, सबसे नीचे वाले तत्त्व से यह मध्याकर्षण शक्ति का रूपक है। इसीलिए लीला के अन्त में भूगर्भ में ही उनका प्रवेश हो जाता है।"[१८]

सृष्टि और संहार—परस्पर अन्योन्य हैं और प्रतिक्षण-प्रतिकण युगपत् घटमान। सामने सृष्टि खड़ी है, तो उसकी पृष्ठभूमि में संहार चल रहा है – एक ओर भरण, दूसरी ओर रेचन। एक ओर पूर्णिमा है, तो दूसरी ओर अमावस्या। एक ही महाशक्ति लयोन्मुखी मुद्रा में महाकाली के रूप में प्रतिभात हैं, तो वही सृष्ट्युन्मुखी मुद्रा में महात्रिपुरसुन्दरी श्रीललिता के रूप में। तान्त्रिक समाज में प्रथित कालीकुल और श्रीकुल का द्वैविध्य यही है जिस पर आधुनिक युग के स्वनामधन्य तान्त्रिक महामनीषी स्व० डॉ० गोपीनाथ कविराज का यह मन्तव्य समधिक उन्मीलक है—"जो रिक्त दिशा है, लौकिक दृष्टि से वही अमावस्या है और जो पूर्ण दिशा है, वही पूर्णिमा है। महाशक्ति के प्राधान्य को अंगीकार कर अमावस्या की ओर जो उसकी स्फूर्ति होती है, वही षोडशी, त्रिपुर-सुन्दरी या श्रीविद्या के रूप से, साधक-समाज में परिचित होती है। कालीकुल और श्रीकुल का यही गुप्त रहस्य है।"[१९]

सामाजिक नवनिर्माण की स्वस्थ प्रक्रिया का यह अनिवार्य तकाजा है कि गलित-रूढ़-जर्जर मूल्य-संभार का हरदम सफाया होता रहे, ताकि संचित होकर सामाजिक प्रगति-प्रवाह का वह अवरोधक न बन सके। निदान, निर्माण के ही युगपत् और समानान्तर क्रान्ति एक सतत् प्रक्रिया है। "फ्रीडम इज़ समथिंग दैट हैज़ टु बी कांक्वर्ड इवरी डे"—कवि गेटे की दृष्टि कम गहरी न थी। 'निराला' की क्रान्ति-चेतना की नब्ज भी बड़ी गहरी है। और बंगीय

शाक्तचेतनात्मक आवेष्टन में संघटित संस्कार-अभिरुचि के अनुरूप क्रान्तिमूलक मर्म-संकेत के लिए कालिका का प्रतीक सहज ही निराला की लेखनी-अनी पर उतर आता है। देखिए, "प्रबल-प्रचण्ड धारा रोड़ों-पत्थरों को काटती-उछालती बही जा रही है, उन्मत्त वेग से। मजाल नहीं कि कोई उसका रास्ता रोक दे। उसके सामने सारा विश्व हाथ जोड़कर नत-भाव से खड़ा है। बड़े-बड़े भूधर जो उसे निरी बालिका समझ कर दम्भ से खड़े थे, वे भी शिला-खण्डों को ढहाते देख थर-थर काँप रहे हैं। और कवि कंठ से बरबस फूट पड़ती है उसके लिए सर्वथा अनुरूप आख्या—'शिला-खण्ड-नरमुण्ड-मालिनी कालिका'[२०]। 'कालिका'-परक भाव-बोध अपेक्षया परिस्फुट रूप में गुनना हो, तो 'निराला' के निम्नलिखित छन्द पर गौर करें—

"एक बार बस और नाच तू श्यामा !
लेगी खड्ग और तू खप्पर,
उसमें रुधिर भरूँगा माँ
मैं अपनी अंजलि भर-भर;
उँगली के पोरों में दिन गिनता ही जाऊँ क्या माँ—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !"[२१]

माँ के हस्तस्थ खप्पर में अंजलि भर-भर कर रुधिर भरने की बात प्रत्यक्षतया जिस ललक के साथ कवि कह गया है, उसे अगर उसी ललक के साथ वाच्यार्थ-रूप में ग्रहण किया जाए, तो अभिव्यंजना का मूलभूत मर्म-गूढ़ मन्तव्य निस्सन्देह पानी में चला जाएगा और सारा गुड़ गोबर हो रहेगा। ठीक है, लहू का प्रखर लाल रंग 'क्रान्ति-चेतना' का अत्यन्त सार्थक प्रतीक है न केवल यहाँ, बल्कि पाश्चात्य गोलार्ध में भी – साम्यवादी क्रान्तिकारी सरकारों ने भी इसीलिए 'लाल तारा' प्रतीक रखा है। रुधिर का शक्ति-प्रतीकत्व, किन्तु, यथावत् हृदयंगम शाक्त-तान्त्रिक परिप्रेक्ष्य में ही होता है।

शाक्त-तान्त्रिक अम्नाय में 'शक्ति' की एक प्रथित आख्या है—'विमर्श' और शिव को 'प्रकाश' कहा गया है। भाविचराचर बीजरूपा अथच कवलीकृतनिश्शेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी आद्या शक्ति की बड़ी ही अनुरूप परिकल्पना एक ऐसे दर्पण के रूप में है जिसमें परमशिव को अहयाकार-प्रतिबिम्ब-भाव से आत्मसाक्षात्कार होता है। विमर्शरूप निर्मलादर्श[२२] शिव को 'यह मैं हूँ'—इत्याकारक अहं-प्रत्ययरूप चमत्कार कराता है। विमर्श शिव का 'पराहन्ता-चमत्कार' है। इसी आशय से 'प्रत्यभिज्ञा' में उसे 'स्फुरत्ता' भी कहा गया है—'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालविशेषिणी'। सर्व-वर्णाग्रिय 'अकार' प्रकाशरूप शिव है और अन्त्यकलारूपं 'हकारं' विमर्श-शक्ति है। अतएव, दोनों का सामरस्य ही 'अहम्' है जिसकी भावना 'बिन्दु' के रूप में है और जिसका प्रतीक है 'रवि' (सूर्य)—'बिन्दुरहङ्कारात्मा रवि.'। इसी में निहित है समस्त दृष्टिरूप प्रसार का मूल-विधानरूप कामकलाख्य सूर्याग्निचन्द्ररूप इच्छाज्ञानक्रियात्मक त्रिकोण। यही बिन्दु-तत्त्व अन्य प्रकार से शिव-शक्ति सामरस्यरूप परतत्त्व का सदाशिवाख्य महासन है—'सदाशिवासनं देवि महाबिन्दुमयं परम्'[२३]। अपनी विशिष्ट काव्य-परिपाटी से 'निराला' ने सृष्टि-बीजभूत इसी 'बिन्दु' की कैसी मर्मगूढ़ व्यंजना की है 'कण' शीर्षक कविता की निम्नांकित पंक्तियों में—

"बिन्दु ! विश्व के तुम कारण हो
या यह विश्व तुम्हारा कारण ?

कार्य पञ्चभूतात्मक तुम हो
या कि तुम्हारे कार्य भूतगण ?"[२४]

रजोरूपा विमर्शाख्य शक्ति का ही अन्वर्थ प्रतीक है—'रुधिर'। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का हेतुभूत जो स्वाभाविक अहं-भाव-परामर्श है, उसी की आख्या है 'विमर्श'। वह 'विमर्श' विश्वकार से दृष्टि में, विश्वप्रकाश से स्थिति में एवं विश्वसंहार से लय में 'पूर्णाहन्ताचमत्कार-स्वरूप'[२५] है। भावनोपनिषद् में, अतएव, कंठोक्त है—"लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः'—लौहित्य इस सब कुछ का विमर्श है। आत्माकार संवित्ति ही महात्रिपुरसुन्दरी का तत्त्व है तथा अहं-स्फूर्ति-रूप उसका विमर्श ही 'लौहित्य' है, जैसा कि 'नित्याषोडशिकार्णव' में भी अभ्युक्त है—"स्व-संवित्तिपुरादेवी लौहित्यं तद्विमर्शनम्"। देवी का वस्त्र लाल, लाल पुष्प, लाल चन्दन एवं उनके अधिष्ठान की कल्पना लाल कमल के रूप में—सब कुछ लाल ही लाल, यह उक्त रहस्य का ही तो निदर्शन है। महानिर्वाणतन्त्र[२६] का कथन है कि कालिकारूपा महाशक्ति कालक्रम से सभी प्राणियों का ग्रास करती हैं और कालरूपी दाँतों से चर्वण कर जाती हैं, अतः सब प्राणियों का रुधिर-संदोह ही उन महेश्वरी के लाल वस्त्र के रूप में कल्पित है और यह कि रजोगुण से उत्पन्न संसार में रहती हैं, इस कारण उनके अधिष्ठान के रूप में लाल कमल का निर्देश होता है। किंबहुना, यहाँ 'रुधिर' का आशय स्वशब्दोक्त भी है।

यह बड़े ही मार्के की बात है कि 'निराला' ने काली-क्रोड-विहारी परमहंस श्रीरामकृष्ण के सच्चे उत्तराधिकारी स्वामी विवेकानन्द की शाक्तभावाभिनिविष्ट एकाधिक कविताओं का हिन्दी-रूपान्तरण किया और ऐसी अपूर्व तदात्मता के साथ कि अपरागतता का किञ्चित् भी आभास नहीं। ऐसी तीन कविताएँ कवि के सर्वातिशायी यशोविस्तारक संकलन 'अनामिका' में द्रष्टव्य हैं—'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को' (गाइ गीत सुनाते तोमाय), 'नाचे उस पर श्यामा' ('नाचुक ताहाते श्यामा') एवं 'सखा के प्रति' ('सखार प्रति')। कहना न होगा, अनुवाद की प्रेरणा अनिवार्यतः हृद्यता होती है और इस तथ्य का निदर्शन कि कवि अपने हृत्तार के साथ अनुवाद्य की भावात्मक एकतानता महसूस करता है।

यथोक्तपूर्व, विश्व की दृष्टि, स्थिति अथवा संहृति में 'विमर्श'-रूपेण महाशक्ति ही ब्राह्मी, ज्येष्ठा एवं रौद्री के त्रैविध्य से क्रीडाशील होती है। 'सखा के प्रति' शीर्षक की इन पंक्तियों को देखें—

"प्रेरणा एक प्रेम का ही। वे हैं मन-वाणी से अज्ञात—
वे ही सुख-दुःख में रहती हैं—शक्ति मृत्युरूपा अवदात।"

सुख-दुःख, सृजन और संहार एक ही तत्त्व की द्विविध भंगिमा-मात्र हैं। 'महाकाली'—मुक्ति की दिशा हैं। माँ की संहरण-लीला प्रपञ्च-ग्रासपूर्वक परमशिव-भाव का अनुसंधान है। महाकाली का सदाशिव-शवारूढतापरक प्रबल ऊर्ध्व समुत्थान पुंभावावेशिनी शिवोन्मुखता का द्योतक है—"नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी। शिवोन्मुखी पराशक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता"[२७]। प्रथित तान्त्रिक प्रतीक-परिभाषा में सदाशिव के ऊपर नग्न खड़ी काली के सम्बन्ध में 'पुरुषायित' (विपरीत रति) का समुद्देश—'महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम्'[२८] इसी तत्त्वमर्म का संकेतक है।

महाशक्ति का ही रूप है 'महाकाल', जो महाप्रलय में समस्त प्रपंच को ग्रस लेता है। सभी भूतों का कलन (ग्रसन) ही 'महाकाल'-नाम में अन्वर्थ है। अन्त में महाकाल की भी घर-भरा (रिवॉल्वर) होने से महाशक्ति 'महाकाली'-पदवाच्या होती है

"कलनात्सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्तितः ।
महाकालस्य कलनात्त्वमाद्या कालिका परा ॥"[२२]

महाकाली-विषयक उपरि-विवेचित भाव-बोध की मार्मिक काव्यात्मक अभिव्यंजना 'नाचुक ताहाते श्यामा' की निम्नांकित पंक्तियों में रेखांकित करने योग्य है—

"मृत्यु-स्वरूपे माँ, है तू ही
सत्यस्वरूपा, सत्याधार;
काली, मुख-वनमाली तेरी
माया छाया का संसार !
अये कालिके, माँ करालिके,
शीघ्र मर्म का कर उच्छेद,
इस शरीर का प्रेम-भाव, यह
सुख-सपना, माया कर भेद ।"

छलनापूर्ण मायामय प्रपञ्च, शरीर ने प्रेमभाव एवं सुख-सपना के उच्छेद अथच भेदन की प्रार्थना मृत्युस्वरूपा माँ करालिका कालिका से उपर्युक्त आलोक में यथेष्ट परिस्फुट हो उठती है।

काल माँ के विकराल बदन की ही एक झाँकी है। काल को गले लगाने की हिम्मत जिसमें हो, वही 'माँ' के दर्शन का अधिकारी हो सकता है। किन्तु, यहाँ तो माँ के बदन की कालरूपी छवि को देखकर ढोंगी भक्त भाग खड़ा होता है—

"मुँह से कहता है, देखेगा,
पर माँ, जब आता है काल,
कहाँ भाग जाता भय खाकर
तेरा देख बदन विकराल !"

कवि यह कामना करता है कि हृदय ही महाश्मशान में परिणत हो जाए, जिस पर भीम कृपाण लेकर श्याम (कालिका) घन रण में नर्तन करे और समस्त स्वार्थ, साध एवं मान चूर-चूर हो जाएँ—

"चूर-चूर हो स्वार्थ, साध सब
मान, हृदय हो महाश्मशान,
नाचे उस पर श्यामा, घन रण
में लेकर निज भीम कृपाण ।"

हृदय में महाश्मशान-बुद्धि—शाक्त-तान्त्रिक दृष्टि की विशद उपोद्वलक है, महाकाली 'महाश्मशाननिलया' जो ठहरी और साधक का हृदय है जिसमें काम-क्रोध-राग की चिता धू-धूकर जल रही है।

तान्त्रिक साधना में उत्तरोत्तर विकास के क्रमशः तीन भाव-स्तर हैं—पशु, वीर एवं दिव्य। शृगाल-गृध्रों से उत्साहित अस्थि-मांस-रुधिर के बीभत्स परिसर में महाकाली का निलय है और यहीं वीर साधक घोर निशीथ में शवासीन हो भयावह साधनाचार करता है। इस परिदृश्य में स्पष्टतः महाशक्ति का वह आयाम प्रतिफलित है जिसमें वह विश्व के महाप्रलय में निखिल प्रपंच को अपने में प्रत्याहृत कर लेती हैं। कहना न होगा साधना में किसी स्तर पर हृदय के महा-
...क भय-पथ का ही अनुवर्तन होता है और ... हृदय महाशक्ति ने

क्रीड़ांगन के रूप में परिकल्पित होता है। वीर-भाव की उक्त श्मशानसाधना का निर्भय सम्पादन उसी के लिए सम्भव होगा जो समस्त सांसारिक कामनाओं, आसक्तियों की चिता जलाने की हिम्मत रखकर आनन्द-महोदधि पराम्बा के साथ अद्वैत-सिद्धि का अभिलाषी है।[३०] चुनाचे, कवि ने 'श्यामा' के दर्शन से आप्तकाम होने के लिए वीर-भाव से जागने की आवाज लगाई है, 'नींद निसानी मींच की उट्ठ कबीरा जाग' की तरह—

"जागो वीर! सदा ही सर पर
काट रहा है चक्कर काल
छोड़ो अपने सपने, भय क्यों,
काटो, काटो यह भ्रम-जाल।
जलती हुई चिताओं में है
प्रेत-पिशाचों का आगार;
सदा घोर संग्राम छेड़ना
उनकी पूजा के उपचार,
वीर! डराए कभी न, आए
अगर पराजय सौ-सौ बार।"

यहाँ 'वीर' शब्द की ध्वनि बड़ी ही बारीक और गहरी है जो उपरिगत विवेचन के आलोक में ही सम्यक् आयत्त होती है।

अखिल जगत् ही महाशक्ति का रूप है. सम्पूर्ण जगत् 'कालिका' का ही अत्यप्रसर है। देखिए, 'रुद्रयामल' का यह वचन—

"नभोमहाबिन्दुमुखी चन्द्रसूर्यस्तनद्वया।
सुमेरुहारवलया शोभमानमहोपदा॥
पातालतलविन्यासा त्रिलोकीयं तवाम्बिके।
कामराजकलारूपा गाभर्त्ति सचराचरा॥"

यहाँ त्रिलोकी की भावना महाकाली से अभिन्न रूप में करते हुए नभ को ही महाबिन्दुरूपी मुख, चन्द्र-सूर्य को स्तनद्वय, सुमेरु को मेखला और पाताल को चरणस्थानीय कहा गया है।

यथार्थतः इसी 'स्पिरिट' में 'निराला' की 'राम की शक्तिपूजा' में पार्वती की वैरागी परिकल्पना का चित्र द्रष्टव्य है—

"देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भूधर,
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर;
पार्वती कल्पना हैं इसकी, मकरन्द-बिन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;
दशदिक् समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर।"

इस चित्र का प्रातिस्विक वैशिष्ट्य यह है कि चरण-प्रान्त में गर्जमान सिन्धु की भावना देवी के वाहन 'सिंह' के रूप में की गई है और साथ ही 'अम्बर' में दिगम्बर (दिग्वासा, निर्वसन) 'त्वन्मूर्ध्नि शशिनः कला' शिव की भी भावना (शशिशेखर पद से) अनुरूपतया अनुस्यूत की गई है। सुतरां, शक्ति के साथ शिव का भी यामलभाव (कॉपुलेशन) शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति

शक्तेरभ्यन्तरः शिवः। अनन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।"—की दृष्टि से यहाँ अपूर्व वैदग्धी के साथ व्यंजित है।

'राम की शक्ति-पूजा' तो प्रत्यक्षतः ही 'निराला' के शाक्त दृष्टि-बोध का डिण्डिम-घोष है और इसीलिए इस पर ज्यादा कहना उपबृंहण-मात्र होगा। फिर भी इतना अवश्य निवेद्य है कि जिस तरह बंगाली सांस्कृतिक आवेष्टन में 'निराला' के व्यक्तित्व की अन्तःसंरचना ग्रथित हुई, उसके सर्वथा अनुरूप ही महाकवि ने अपनी सर्वश्रेष्ठ मानक काव्य-रचना के लिए मूलभूत स्रोत-रूप से रामकथा के शाक्तसंस्करणरूप, बंगाली कृत्तिवास ओझा (१५वीं श०) की कृति, 'श्रीरामपाञ्चाली' (कृत्तिवासीय रामायण) का ही वरण किया। 'श्रीदेवीभागवत-पुराण' अथच 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' आदि का साहायक अवान्तर ही है।

शेषतत्त्व किंवा 'सेक्स' शाक्त दृष्टि-बोध का सर्वाधिक उद्वेजक विषय रहा है और कहा जाए तो, वस्तुतस्तु जगत्सृष्टि अथवा साधना का भी मूलभूत केन्द्रीय तत्त्व यही है। इस बात का प्रातिस्विक श्रेय एकमात्र तन्त्र-विद्या को ही है कि उसमें इस तत्त्व का सीधी दृष्टि से उन्मुक्त-सहज प्रत्यक्षीकरण एवं अभ्युपगमन है और यह कतई कोई 'हौवा' नहीं। 'सेक्स' लोक-सामान्य के लिए बन्धन का कारण है, तो यही साधक के लिए मुक्ति का द्वार भी है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भट्टिनी के मुख से, अतएव, ठीक ही कहलाया है—"नारी की सफलता पुरुष को बाँधने में है और सार्थकता उसको मुक्त करने में।"[३१] शाक्त दृष्टि इसी 'सार्थकता' को लक्ष्य करती है। किसी प्रकार की कुंठा, मनोग्रस्ति एवं आत्मप्रवंचना से सर्वथा विनिर्मुक्त होने के कारण ही तान्त्रिक परम्परा की अभिव्यक्ति-सरणि, चाहे वह वज्रयानी बौद्ध तान्त्रिकों (सिद्धों) की हो या कबीरादि संत-कवियों की अथवा नाथपंथियों की हो, बड़ी ही विलक्षण रूप में बेबाक, बेलौस और बेलाग है। सिद्धों की 'संधाभाषा' सचमुच ही बड़ी क्रान्तिकारी है। साम्प्रदायिक नेयार्थ-प्रतिपादन-प्रणाली से अपरिचित प्राणी तो गश खाने पर मजबूर है ही।

देखिए तो, सिद्धाचार्य अनङ्गवज्र का यह वचन कितना उद्वेजक है—

"जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येत साधकः॥"

चूंकि बौद्ध वज्रयानी तन्त्र-दृष्टि में पूर्ण अखण्ड-भाव की सिद्धि तमाम अनुभवों में सर्वाधिक आनन्दात्मक है, इसीलिए यह कथन कि सभी स्त्रियाँ काम्य हैं, इस सत्य का संकेतक है कि सभी स्त्रियाँ एक ही तात्त्विक स्त्री की प्रतिच्छायाएँ, बिम्ब या साँचे हैं और इसीलिए उस एक की सेवा में इन भिन्न-भिन्न रूपों का अन्तः-परिवर्तन सम्भव है। बद्ध मूर्तिपरता के लिए यहाँ स्थान नहीं। स्त्री-मात्र प्रेम, श्रद्धा और संभ्रम का आलम्बन है, क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में स्त्रीतत्त्वपरक बहु-आयामी रहस्य निहित है जिससे विच्छिन्न होकर मनुष्य अपने पुरुषत्व-मोह में खण्ड-भावापन्न हो रहा है। 'गुह्यसमाजतन्त्र' में, अतएव, कहा है कि महामुद्रा का साक्षात्कार करने के लिए समस्त लोकों की स्त्रियों के प्रति प्रीयमाणता वांछित है।[३२]

वस्तुतः 'सेक्स' यहाँ निरा भोग का विषय ही नहीं, योग का विषय है। आभ्यन्तर स्तर पर शिव और शक्ति, प्रज्ञा और उपाय किंवा शून्य और करुणा, राधा और कृष्ण, आदिबुद्ध और प्रज्ञापारमिता का जो अनादिसिद्ध सामरस्य है, उसकी साधनता में पर्यवसित है प्रापञ्चिक स्तर पर स्त्री पुरुष का संप्रयोग सेक्स की कुण्ठा से आसक्ति-बुद्धि से सर्वथा विनिर्मुक्त-अनाविल होने के कारण ही शाक्त वाणी में वह शक्ति आ सकी है कि ठेबोदास निस्कम्प सहज स्वर में कहा जा सके

"मातृयोनौ क्षिपेत् लिङ्गं भगिन्याः स्तनमर्दनम् ।
गुरोर्मूर्ध्नि पदं धत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥"

इसके बढ़कर उद्वेजक वचन और क्या हो सकता है ? तन्त्र की नेयार्थ-वचन-परिपाटी की सम्यक् अभिज्ञता से ही अर्थबोध सम्भव है। स्वयम्भूलिङ्गयुक्त मूलाधारस्थ त्रिकोण ही यहाँ 'मातृयोनि'-पदवाच्य है। कुण्डलिनी-उत्थापन के क्रम में जीवात्मा का स्थापन इसमें किया जाता है—यही 'मातृयोनौ क्षिपेत् लिङ्गम्' का तात्पर्य है। फिर कुण्डलिनी के साथ जीवात्मा को संयोजित कर उसका ऊर्ध्वगमन सम्पादित होता है। कुण्डलिनी के साथ जीवात्मा की संयुक्त स्थिति ही 'भगिन्याः स्तनमर्दन' द्वारा समुद्दिष्ट है। एक ही शरीर में अवस्थान के कारण उचित ही जीवात्मा के साथ कुण्डलिनी का भगिनी-भाव कथित है।

सेक्स-परक दिव्य-उदात्त 'भाव-बोध' के तात्त्विक अभिनिवेश की अकुंठ अभिव्यक्ति 'योगतत्त्वोपनिषद्' की इन पंक्तियों में रेखांकित करने योग्य है—

"तत्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।
यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निपीड्य मुदमश्नुते ॥
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ॥
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव ॥"[३३]

अर्थ स्पष्ट ही है। कुलार्णव-तन्त्र का वचन 'या काचिदङ्गना लोके सा मातृकुलसम्भवा'[३४] शाक्त दृष्टि का 'मोटो' है।

कहना न होगा, कुमारी-पूजा (२ से १० वर्ष की बालिकाओं की पूजा) का विधि-विधान, माँ कुमारी की भावना से, किस पावन-उदात्त अभिनिवेश के साथ सम्पन्न होता है ! बंग-भूमि की तो यह प्रातिस्विक सांस्कृतिक विशेषता है।

इसी क्रम में यह देखने योग्य है कि 'निराला' ने 'सरोज-स्मृति' में अपनी पुत्री के 'यौवन-मङ्गेपु सन्नद्धं' सौन्दर्य का जैसा उद्दाम चित्र प्रस्तुत किया है, उसकी अन्तःप्रेरणा में मातृभावाविष्ट शाक्त दृष्टि का सूक्ष्म योग अनुसंधेय है। 'राम की शक्ति-पूजा' के महाकवि के लिए ही यह वश की बात हो सकती थी—

"धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्राङ्गण
कर पार, कुञ्ज-तारुण्य सुघर
आई, लावण्य-भार थर-थर
काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकौश नव वीणा पर :
× × ×
क्या दृष्टि ! अतल की सिक्त-धार
ज्यों भोगावती उठी अपार,
उमड़ता ऊर्ध्व को कल सलील
जल टलमल करता नील-नील,

पर बँधा देह के दिव्य बाँध,
छलकता दृगों से साध-साध।''

इस चित्र को 'दुर्गासप्तशती' के निम्नांकित वचन की आरसी में देखें —

''विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥''

जिसके केन्द्र में स्फुरित है लावण्य-सुधा-सार-महोदधि महात्रिपुरसुन्दरी का अपरूप वैभव, जिसके लव-मात्र से ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का निखिल, आनन्द-सौन्दर्य विधृत है - 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'।

सम्पूर्ण विश्व-साहित्य मे अपने ढंग की यह शायद अकेली रचना है। 'भोगावती' शब्द का प्रयोग यहाँ 'निराला' की अपरिमेय व्यंजना-शक्ति का अनन्वय निदर्शन है। नागलोक (पाताल में) में 'भोगवती' नदी बहती है जिसका स्वरूप उसके नाम से ही प्रकट है और साथ ही 'भोगवती' स्वयं नागलोक का भी अपर व्यपदेश है (नदीनगर्योर्नागानां भोगवती—'अमरकोष')। नागलोक का वैभव, भोग और सौन्दर्य अतुलनीय है— स्वर्ग भी फीका पड़ जाता है और वह 'गुह्य' तो है ही 'अधोलोक' होने के कारण। गुह्य रस-बोध की व्यंजना के लिए 'भोगवती' शब्द का प्रयोग चरम-शक्तिक है। 'पर बँधा देह के दिव्य बाँध' यहाँ एक 'दिव्य' शब्द के प्रयोग से 'पवित्र गरिमा' का ध्वनन अपनी वैदग्धी में अपूर्व है तथा कहने को कुछ शेष नहीं रह जाता।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'निराला' की तुलना सिद्ध कवि सरहपाद से करते हुए उन्हें 'आधुनिक सरह'[१५] कहा है, तो फक्कड़ाना मस्ती से भरी महाकरुणा के गूढ़ मानस में खिलने वाले उनके रस-शतदल को लक्ष्य कर ही। सरहपाद ने जो 'शबरसुन्दरी' की रहस्यवादी कल्पना की है, वह विश्व के काव्य-साहित्य की एक अप्रतिम उपलब्धि है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का निम्नांकित मन्तव्य न केवल सिद्धों, सन्तों और अवधूतो पर ही लागू है, बल्कि उतना ही ज्यादा महाकवि 'निराला' पर भी --

''अवधूतों के मुँह से ही संसार की सबसे सरस रचनाएँ निकली है। कबीर बहुत कुछ इस शिरीष के समान ही थे —मस्त और बेपरवाह, पर सरस और मादक।''''' (ऐसा) काव्य अनासक्त अनाविल उन्मुक्त हृदय में ही उमड़ सकता है।''[१६]

सन्दर्भ-संकेत

१. क्रान्तिकारी कवि निराला : बच्चन सिंह, पृ० १०। २. डॉ० गोपीनाथ कविराज : 'भारतीय संस्कृति और साधना', अध्याय २७ एवं 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि', पृ० २०१। ३. 'भाई जी' (ज्योतिश्चन्द्र राय) : 'मातृ-दर्शन', पृ० १२७। ४. डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह : 'मनीषी की लोकयात्रा' [महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन], पृ० १७६। ५. डॉ० गोपीनाथ कविराज : 'भारतीय संस्कृति और साधना'—खण्ड २, पृ० १८३। ६. देखें, रामचन्द्र वर्मा : 'अच्छी हिन्दी', पृ० २४४।

७. नकुलीशः कालीपीठे दक्षपादाङ्गुली च मे।
सर्वसिद्धिकरी देवी कालिका तत्र देवता॥
× × ×
कालीघाटे मुण्डपातः क्रोधीशो भैरवस्तथा।
देवता जयदुर्गाख्या नानाभोगप्रदायिनी॥
× × ×

नकुलाशः कालीघाटे कालिका तत्र देवता ।
तत्र मे पतिता वत्स केशा मस्तकसंयुता ॥
— देखें, डॉ० दीनेशचन्द्र सरकार : 'दि शाक्त पीठाज', पृ० ५०, ५६ तथा ६३ ।

८. महानिर्वाणतन्त्र, उल्लास ४, श्लोक १० । ९. वही, १०।८० । १०. 'निराला' : 'परिमल' 'पंचवटी-प्रसंग' ।

११ उमेति परमा शक्तिः पूर्वभावमुपेयुषी । अध्युष्टवलयाकारा प्रणवत्वमुपागता ॥
— रुद्रयामल; देखे, भगवत्पाद शङ्कराचार्य-विरचित 'आनन्दलहरी' — श्लोक ३४ की 'सौभाग्य-वर्धिनी' ।

१२. त्रिधामजननीदेवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी । द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ॥
गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली परदेवता । विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत् ॥
—शारदातिलक, १।५६, ५७ ।

१३. सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः । श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥
— हठयोगप्रदीपिका, ३।४ ।

१४. सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम् । भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥
वही, ४।१७ ।

१५. पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति स योगी पिण्डसंवित्तिर्भवति ।''' ' एवं सर्वदेहेषु विश्वस्वरूपः परमेश्वरः परमात्मा अखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपी तिष्ठति ।
— गोरक्षनाथः 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', उपदेश ३ ।

१६. हठयोगप्रदीपिका, ३।१०५; १७. देखे, पूर्णानन्दनाथ यतिः 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' ६।७।३९ पर कालीचरण की टीका । १८. डॉ० चन्द्रप्रकाश सिंह एवं डॉ० राजेन्द्रकुमार द्वारा संपादित 'निबन्धश्री', पृ० ११० । १९. 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि', पृ० ८२ ।

२०. बहती कैसी पागल उसकी धारा !
हाथ जोड़कर खड़ा देखता दीन
विश्व यह सारा !
बड़े दम्भ से खड़े हुए ये भूधर
समझे थे जिसे बालिका,
आज बहाते शिला-खण्ड-चय देख
काँपते थर-थर—
शिला-खण्ड-नर-मुण्ड-मालिनी कहते उसे कालिका ।
'निराला' : 'परिमल' – 'धारा' ।

२१. 'परिमल'—'आवाहन' ।

२२. सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा ।
भाविचराचरबीजं शिवरूपविमर्शनिर्मलादर्शः ॥
— श्री पुण्यानन्दनाथ यति, 'कामकलाविलास', श्लोक-२ ।

२३. अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः । हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः ॥
उभयोः सामरस्यं यत् परस्मिन्नहमि स्फुटम् ॥
— देखें, 'कामकलाविलास'—श्लोक ३ की 'चिद्वल्ली' ।
तथा, 'योगिनीहृदय', चक्रसंकेत श्लोक १२ पर अमृतानन्द योगी की दीपिका

२४. 'परिमल'।

२५. जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुभूताकृत्रिमाहंभावपरामर्शो विमर्शः। विमर्शो नाम विश्वाकारेण वा, विश्वप्रकाशेन वा विश्वोपसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्।
—देखें, 'कामकलाविलास' श्लोक १ पर नटनानन्दनाथ की चिद्वल्ली।

२६. महानिर्वाणतन्त्र, १३।८-११।

२७. प्रयोगसारतन्त्र, देखें—शारदातिलक, १।७ पर राघवभट्ट का 'पदार्थादर्श'। २८. कालीतन्त्र, देखें—'शाक्तप्रमोद', पृ० २६। २९. महानिर्वाणतन्त्र, ४।३१।

३०. सर जान वुडराफ़ : दि गारलैण्ड ऑफ लेटर्स, पृ० २१३।

३१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा', पृ० १३९। ३२. देखें—डॉ० पी० सी० बागची 'दि स्टडीज़ ऑन दि तन्त्राज़', पृ० २५ एवं डॉ० वी० गुन्थर : 'युगवद्ध' (ए तान्त्रिक व्यू ऑफ लाइफ), पृ० १०७-८। ३३. योगतत्त्वोपनिषद्—१३१-१३३। ३४ कुलार्णवतन्त्र, ११।६४। ३५. देखें—'दोहाकोश' : सरहपाद : सम्पादक एवं पुनरनुवादक राहुल सांकृत्यायन, भूमिका। ३६. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'कल्पलता' ('शिरीष के फूल'), पृ० २५।



रीडर एवं अध्यक्ष,
हिन्दी-विभाग,
गुमला कालेज (राँची विश्वविद्यालय)
गुमला, जि०—राँची

दिनकर के काव्य-रूपक 'उर्वशी' का मिथकीय रचना-विधान

□

श्रीमती उषा नेगी

किसी काव्य में मिथक का उपयोग विशेष सन्दर्भ में विशेष अर्थविधान के लिए किया जाता है। वस्तुतः मिथक में अर्थगर्भत्व की विशेष संभावना छिपी रहती है। 'दिनकर' ने अर्थगर्भत्व की दृष्टि से आधुनिक परिप्रेक्ष्य में पुरुरवा और उर्वशी के मिथक का प्रयोग किया है। यह मिथक सबसे पहले वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ है और इतना आकर्षक एवं प्रभावशाली रहा है कि समय-समय पर कवि-मनीषी इसका उपयोग करते रहे हैं। इसका पहला उल्लेख 'ऋग्वेद' में मिलता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में इसी कथा को कई अन्य सूत्रों से जोड़कर प्रस्तुत किया गया है। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने दोनों कथाओं के आधार पर कतिपय नवीन मिथकों को कल्पित कर 'विक्रमोर्वशीय' का अत्यन्त ललित एवं आकर्षक विधान प्रस्तुत किया है। आधुनिक युग में कवीन्द्र रवीन्द्र का ध्यान भी इस मिथक की ओर आकृष्ट हुआ था और 'दिनकर' ने इन समस्त मिथकों के समायोग के साथ अपनी कल्पक दृष्टि से नवीन अर्थगर्भिता के साथ इसे बहुत ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है।

पुरुरवा और उर्वशी का मिथक 'ऋग्वेद' में इस प्रकार है—'पुरुरवा उर्वशी के रूप पर आसक्त होकर उससे प्रणय-निवेदन करते हैं। उर्वशी की ओर से आरम्भ में उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिलता, वह कहती है कि मेरा अस्तित्व वायु के समान है, मैं उषा के समान तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हूँ और शीघ्र ही अन्तर्धान हो जाऊँगी। किन्तु पुरुरवा उससे आग्रहसहित प्रणय-याचना करते हैं और कहते हैं कि तुम्हारे बिना मेरा सारा पुरुषार्थ व्यर्थ है। संयोगवश पुरुरवा देवताओं की सहायता करते हैं और अपने पराक्रम से सबको प्रभावित करते हैं। फलतः उर्वशी जो विद्युत् के समान कांतिमयी है, पुरुरवा की कामना पूरी करती है और उनके पुत्र को प्रसूत करती है। उसके पश्चात् वह राजा को प्रजापालन का परामर्श देकर पुत्र को उनके पास छोड़कर स्वर्ग वापस चली जाती है। पुरुरवा के रोकने के प्रयास के बावजूद वह यह कहकर चली जाती है कि नारी का हृदय वृक के समान निर्दय होता है।'

'ऋग्वेद' की इस कथा में अनेक मिथक संगुम्फित हैं : (१) उर्वशी आकाश का प्रतीक है और पुरुरवा पृथ्वी का। आकाश से होने वाली वर्षा से ही पृथ्वी उर्वरा होकर सस्य और वनस्पतियों का प्रसव करती है। इस तथ्य पर आकाश की कल्पना पुरुष-पिता के रूप में और पृथ्वी की कल्पना स्त्री-माता के रूप में की गयी है। पुरुरवा और उर्वशी के कथानक में इस तथ्य का विपर्याय हो गया है। पुरुरवा पुरुष का प्रतीक है और उर्वशी नारी का प्रतीक तथा दोनों के प्रणय-सम्बन्ध से पुत्र की उत्पत्ति दिखाई गई है। 'दिनकर' की दृष्टि मे पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।[१] (२) पुरुरवा और उर्वशी का मिलन चिरकालिक न होकर अल्पकालिक है। पुत्र की उत्पत्ति के बाद उर्वशी पुरुरवा को छोड़कर चली जाती है। सर विलियम विल्सन ने यह अनुमान

लगाया था कि पुरुरवा-उर्वशी की कथा अन्योक्तिपरक है। इस कथा का वास्तविक नायक सूर्य और नायिका उषा है। इन दोनों का मिलन कुछ काल के लिए ही होता है। बाद मे वे प्रतिदिन बिछुड जाते हैं।[२] यह कथा इसका भी संकेतक है कि पुरुष और नारी के मिलन की चरम परिणति एक ओर पुत्रोत्पत्ति है तो दूसरी ओर चिर वियोग। (३) नारी का हृदय वृक के समान निर्दय होता है, उर्वशी का यह कथन इस प्राकृतिक तथ्य को व्यंजित करता है कि पुरुष भले ही तर्कशील हो और नारी भावनाशीला, पर नारी अपनी भावना को निरंकुश नहीं छोड़ती।

'शतपथ ब्राह्मण' में पुरुरवा और उर्वशी की कथा का मिथकीय स्वरूप कुछ अन्य मिथकों के योग के कारण और भी स्पष्ट तथा मूर्त हो जाता है। उर्वशी पुरुरवा के सामने तीन अनुबन्ध रखती है और उनकी पत्नी बनना स्वीकार करती है—

१. तुम पुत्र की कामना से दिन में तीन बार मेरा उपभोग करोगे—'त्रिःस्म माऽह्नो वैतसेन दण्डेन हताद्।'
२. कामेच्छा न होने पर मेरे साथ रमण न करोगे—'अकामां स्मं निपद्यासे।'
३. तुम नग्न रूप में मेरे सामने कभी न आओगे—'मो स्म त्वो नग्नं दर्शम्।'[३]

इन अनुबन्धों को स्वीकार कर पुरुरवा उर्वशी को प्राप्त करते हैं और चिरकाल के सहवास के अनन्तर उर्वशी गर्भ धारण करती है। इसी स्थिति में गन्धर्वों के षड्यन्त्र के कारण पुरुरवा उर्वशी के मेष-शावक की रक्षा के लिए सहसा निर्वसन उपस्थित होकर तीसरे अनुबन्ध के भंग के दोषभागी होते हैं और फलस्वरूप उर्वशी आकाश में विलीन हो जाती है। एक दिन पुष्करिणी में जलक्रीड़ा करती हुई उर्वशी वियोग-संतप्त पुरुरवा को देखकर नारी रूप में उनसे मिलती है और उनके आग्रह पर भी पुनः उनसे यह कहकर दूर चली जाती है कि मैं वायु की तरह पकड़ से बाहर हूँ। मैं उषा की तरह विलीन हो चुकी हूँ। जाने से पूर्व उसने पुरुरवा को यह वचन भी दिया था कि मैं वर्ष के अन्त में तुम्हारे पुत्र को जन्म देकर केवल एक रात के लिए तुमसे मिलूँगी। यथा-समय वह पुरुरवा से मिलती है और उन्हें गन्धर्व-पद की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है। अन्त में गन्धर्वों के वरदान से उन्हें अभीष्ट पद प्राप्त हो जाता है और उनका उर्वशी के साथ मिलन हो जाता है।

इस कथा में तीन मिथकों को संग्रथित किया गया है : (१) आकाश और पृथ्वी का प्रणय-सम्बन्ध जो पुरुष पुरुरवा की कामैषणा में विकसित हुआ है; (२) पुत्रैषणा जो पुरुरवा और उर्वशी के प्रणय-सम्बन्ध के पार्यन्तिक फल के रूप में विकसित हुआ है; और (३) गन्धर्व-पद की प्राप्ति, अमरत्व की कामना, यही जीवन का चरम लक्ष्य है जो प्रायः प्राचीन काल के धर्म-दर्शन में सरलता से देखा जा सकता है।

यही मिथक कथा कुछ नवीन उद्भावनाओं के साथ कालिदास द्वारा 'विक्रमोर्वशीय' नाटक मे प्रयुक्त हुई है। उन्होंने 'ऋग्वेद' और 'शतपथ ब्राह्मण' की कथा को अपने ढंग से कलात्मक रूप प्रदान किया है। कालिदास द्वारा प्रयुक्त मिथक-कथा के विभिन्न आयाम इस प्रकार हैं : (१) पुरुरवा का उर्वशी के प्रति आकर्षण और उर्वशी का भी पुरुरवा के प्रति आकर्षण। 'ऋग्वेद' और 'शतपथ ब्राह्मण' में उर्वशी का पुरुरवा के प्रति आकर्षण नहीं दिखाया गया है। (२) पुरुरवा की कथा में महारानी औशीनरी की कथा। इसका कोई उल्लेख पूर्व मिथक-कथा में नहीं है। (३) स्वर्ग में नाटक का अभिनय और भरतमुनि का शाप, यह भी कालिदास की मौलिक उद्भावना है। (४) कुमार के निषिद्ध वन-प्रदेश में उर्वशी का प्रवेश और उसके उसकी लता-रूप में परिणति,

कथा के वियोग-प्रसंग को आकर्षक और प्रभावशाली बनाने के लिए इस मिथक-कथा का समायोजन किया गया है। (५) लतारूपिणी उर्वशी की संगमनी मणि के कारण अपने रूप की प्राप्ति, वियोगावस्था से संयोग की उपलब्धि के लिए इस प्रसंग की उद्‌भावना प्रभावशाली है। (६) गंधमादन पर्वत पर संयोग-वियोग की चित्र-विचित्र घटनाओं के बाद प्रतिष्ठानपुर में पुरुरवा का उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न, च्यवन ऋषि के आश्रम में पालित, अपने पुत्र आयु से मिलन और फलतः भरत के शापवश उर्वशी का तिरोधान। (७) अंत में देवासुर-संग्राम में देवताओं द्वारा पुरुरवा की सहायता की याचना और उसके पुरस्कार मे उर्वशी की प्राप्ति।

'दिनकर' ने मूलतः कालिदास द्वारा संयोजित मिथक-कथाओं को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने मिथक-कथाओं को अपनी रुचि एवं आवश्यकता के अनुकूल परिवर्तित कर लिया है। पुरुरवा और उर्वशी के पारस्परिक आकर्षण को उन्होंने प्रणय के धरातल पर बहुत ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। औशीनरी की कथा को 'विक्रमोर्वशीय' के आधार पर ही किंचित् परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है तथा उसके चरित्र को अत्यन्त देदीप्यमान दिखाया है। कालिदास द्वारा प्रयुक्त भरतमुनि के शाप की मिथक कथा को 'दिनकर' ने संकेत रूप में दिखाया है। गंधमादन पर्वत पर कालिदास ने पुरुरवा और उर्वशी की उद्दाम प्रणय-लीला की जो हृदयंगम विवृति प्रस्तुत की है, उसे दिनकर ने काम और प्रणय-वृत्ति के बहुमुखी पक्षों के उद्‌घाटन के रूप में प्रस्तुत कर निर्बन्ध प्रणय एवं निष्काम काम के समुन्मीलन के लिए प्रयुक्त कर अपनी प्रातिभ-शक्ति का परिचय दिया है।

कालिदास ने देवासुर-संग्राम में देवताओं की सहायता के पुरस्कार-स्वरूप उर्वशी की पुनः प्राप्ति और पुरुरवा-उर्वशी का पुनर्मिलन दिखाकर नाटक को सुखान्त बनाया है, किन्तु दिनकर ने इस रूपक को आधुनिक सन्दर्भ में सुखान्त बनाना आवश्यक नहीं समझा और पुरुरवा उर्वशी के विरह तथा पुरुरवा के विराग-भाव को पुरुषार्थ-चतुष्टय के अंतिम लक्ष्य की संप्राप्ति में सहायभूत तत्त्व के रूप मे प्रयुक्त कर दूसरी मिथक कथा का समुपयोजन किया है और यह दिखाने की चेष्टा की है कि निर्बाध-निर्मुक्त कामभोग की चरम परिणति वैराग्य है जो ऐहिकता से पारलौकिकता का मार्ग प्रशस्त करता है।

दिनकर ने पुरुरवा और उर्वशी के आख्यान को मानव-विकास के एक विषय-रूप में ग्रहीत किया है। उन्हीं के अनुसार मनु तथा इड़ा तथा पुरुरवा और उर्वशी ये दोनों ही कथाएँ एक ही विषय को व्यंजित करती हैं। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरुरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।[४] इसी भावना पक्ष की व्यंजना 'उर्वशी' रूपक में हुई है। 'दिनकर' ने नर-नारी प्रेम को योग के समकक्ष रखकर उसका औदात्य प्रतिपादित किया है और उसी को ध्यान में रखकर 'काम' तत्त्व की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है।

'ऋग्वेद' में कहा गया है—

काम: तदग्ने समवर्त्तता हि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धु मरुति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषाः॥

काम सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान था। वह मन का प्रथम रेत अथवा बीज था। कवियों ने अपनी बुद्धि से मन में उसकी खोज की तो उन्हें सत् का यह बन्धु यों ही प्राप्त हो गया।

मनुस्मृति में और भी स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।

इहलोक अथवा अन्यत्र कहीं भी ऐसी कोई क्रिया दिखायी नहीं पड़ती जो कामविहीन हो।

इसी काम की प्रशंसा 'शिवपुराण' में इस प्रकार की गई है—

काम: सर्वमय: पुंसां स्वसंकल्प समुद्भवः।
कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागताः।

अपने ही संकल्प से समुद्भव काम पुरुषों के लिए सर्वमय है। काम से ही सब कुछ प्रवर्तित होता है और वृद्धि को प्राप्त कर काम में ही लीन हो जाता है।

'पद्मपुराण' में काम के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—

धर्मादर्थ: अर्थतः कामः कामाद् धर्मफलोदयः।

धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से धर्म फल का उदय होता है। 'महाभारत' में काम को धर्म और अर्थ से श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है—

यथा पुष्प-फलं काष्ठात् कामः धर्मार्थयोः वरः।

जिस प्रकार काष्ठ से पुष्प और फल श्रेष्ठ होते हैं, उसी प्रकार धर्म और अर्थ से काम श्रेष्ठ होता है। 'दिनकर' ने काम-सम्बन्धी अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त की है—

काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को
उच्च लोक से गिरा हीन पशु जन्तु बना देता है।
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर।[५]

दिनकर उस कामाचार को दोषपूर्ण सिद्ध करते हैं जिसमें मन और आत्माओं का मेल न होकर केवल शरीर का मेल होता है, किन्तु जहाँ नर और नारी सहज आकर्षण से दो लहरों के समान अनामन्त्रित मिल जाते हैं, वहाँ कामाचार सात्त्विक होता है—

जहाँ नहीं मिलते नर-नारी उस सहजाकर्षण से
जैसे दो वीचियाँ अनामन्त्रित आ मिल जाती हैं।[६]

उन्होंने तन के काम को अमृत पर मन के काम को गरल सिद्ध किया है—

तन का काम अमृत लेकिन, यह मन का काम गरल है।[७]

उनके अनुसार निष्काम काम-सुख स्वर्गीय पुलक है और वह लिया-दिया नहीं जाता, वरन् ग्रहण किया जाता है—

इसीलिए, निष्काम काम सुख वह स्वर्गीय पुलक है;

× × ×

लिया दिया वह नहीं, मात्र वह ग्रहण किया जाता है।[८]

इसी काम की प्रशस्ति 'दिनकर' ने 'उर्वशी' रूपक में द्विविध प्रस्तुत की है—उसका एक स्वरूप स्वर्गलोक से सम्बन्धित है और दूसरा मृत्युलोक से। स्वर्गलोक की काम-भावना निर्बन्ध और अबाधित है, किन्तु मृत्युलोक की मर्यादित और अनुशासित, किन्तु स्वर्गलोक की काम-भावना अबाधित होते हुए भी मृत्युलोक की काम-भावना के समान आकर्षक नहीं है। दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए मेनका ने कहा है—

क्या है यह अमरत्व ? समीरों-सा सौरभ पीना है,
मन में धूम समेट शान्ति से युग-युग तक जीना है।

पर, सोचो तो, मर्त्य मनुज कितना मधुरस पीता है ?
दो दिन ही हो, पर, कैसे वह धधक-धधक जीता है।
इन ज्वलन्त वेगों के आगे मलिन शान्ति सारी है,
क्षण भर की उन्मद तरंग पर चिरता बलिहारी है।[९]

रम्भा प्रेम-विषयक अवधारणा इस प्रकार स्पष्ट करती है—

प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है;
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।[१०]

पृथ्वी की प्रेम-भावना के सम्बन्ध में रम्भा का विचार उसकी अपनी प्रेम-विषयक अवधारण से प्रभावित है—

....परन्तु, यह मही बड़ी कुत्सित है।
जहाँ प्रेम की मादकता में भी यातना निहित है।
नहीं पुष्प ही अलम्, वहाँ फल भी जनना होता है।
जो भी करती प्रेम, उसे माता बनना होता है।[११]

पार्थिव प्रेम उस प्रकार निर्मुक्त और बन्धनरहित नहीं है, जिस प्रकार अपार्थिव है—स्वर्गिक है।

'दिनकर' ने यद्यपि पार्थिव प्रेम को अनुशासित और मर्यादित माना है, किन्तु उनकी दृष्टि में पुरुष की प्रेम-वृत्ति में उच्छृङ्खलता और मर्यादाहीनता है, जबकि सहधर्मिणी का प्रेम मर्यादित, शृङ्खलित और कुलपोषण के लिए होता है—

सहधर्मिणी गेह में आती, कुल पोषण करने को,
पति को नहीं नित्य नूतन मादकता से भरने को।
किन्तु, पुरुष चाहता भींगना मधु के नए क्षणों से,
नित्य चूमता एक पुष्प अभिसिंचित ओस कणों से।[१२]

दिव्य नारी उर्वशी के प्रेम में आकंठ निमग्न होकर पुरुरवा एक वर्ष के लिए गंधमादन पर्वत पर चले जाते हैं। उस समय प्रिय से विप्रकृत-तिरस्कृत, उर्वशी द्वारा प्रतारित औशीनरी किस प्रकार अनिर्वचनीय मर्म-वेदना अनुभूत करती है, उसका दिनकर ने बहुत ही मनोहारी वर्णन उपस्थित किया है—

किन्तु, बन्ध को तोड़ ज्वार नारी में जब जगता है,
तब तक नर का प्रेम शिथिल, प्रशमित होने लगता है।
पुरुष चूमता हमें अर्ध निद्रा में हमको पाकर,
पर हो जाता विमुख प्रेम के जग में हमको जगाकर।
और जगी रमणी प्राणों में लिए प्रेम की ज्वाला,
पन्थ जोहती हुई पिरोती बैठ अश्रु की माला।
वही आँसुओं की माला अब मुझे पिरोनी होगी।[१३]

काम की वृत्ति को अत्यधिक महत्व देते हुए भी 'दिनकर' ने गन्धमादन पर्वत पर पुरुरवा की द्विधा वृत्ति की ही वर्णना की है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि पुरुरवा में एक प्रकार की अनासक्ति है। पुरुरवा उर्वशी से ही कहते हैं—

रंगों की आकुल तरंग जब हमको कस लेती है,
हम केवल डूबते नहीं ऊपर भी उतराते हैं।
पुण्डरीक के सदृश मृत्ति जल ही जिसका जीवन है,
पर, तब भी रहता अलिप्त जो सलिल और कर्दम से।[१४]

रूप के आमन्त्रण से विवश हो वे जब उर्वशी को परिरम्भ-पाश में आवद्ध कर लेना चाहते हैं तथा उनके रुधिर की वह्नि उत्तप्त हो उठती है तो एकाएक उसके मन की वृत्ति विचलित हो जाती है—

किन्तु रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को,
घूँट या दो घूँट पीते ही,
न जाने किस अतल से नाद यह आता,
"अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।"[१५]

किन्तु यह अनासक्ति और रूप की आराधना की यह भावना क्षणिक ही सिद्ध होती है। पुरुरवा रूप की आसक्ति में आकण्ठ निमज्जित हो जाते हैं और उर्वशी के सान्निध्य में यह अनुभव करने लगते हैं—

एक ही आशा, मरुस्थल की तपन में
ओ सजल कादम्बिनी ! सिर पर तुम्हारी छाँह है।
एक ही सुख है, उरस्थल से लगा हूँ,
ग्रीव के नीचे तुम्हारी बाँह है।[१६]

इतना ही नहीं, पुरुरवा उर्वशी के प्रणय-पाश में आबद्ध जो प्रेम की दाहकता का अनुभव करते हैं, वह स्वतः अपने स्वरूप में लोकोत्तर है, उससे मन के सारे द्विधा-द्वंद्व, चिन्ता-भय मिट जाते हैं। प्रणय की अनुभूति शोणित की अनुभूति है जो प्रणयीजन को अनिर्वचनीय स्थिति में पहुँचा देती है। प्रणय का अनल जहाँ एक ओर दाहक है, वहीं अमृत-वर्तिका के समान शामक भी है और प्रणयीजन की कल्पना-शक्ति के द्वार को निर्मुक्त कर उसे कल्पक बना देता है—

दाह मात्र ही नहीं, प्रेम होता है अमृत-शिखा भी,
नारी जब देखती पुरुष को इच्छा भरे नयन से,
नहीं जगाती केवल उद्वेलन, अनल रुधिर में,
मन में किसी कान्त कवि को भी जन्म दिया करती है।[१७]

प्रणयानुभूति पुरुष और नारी को विशिष्ट अवस्थिति प्रदान करती है तथा दोनों देह-बुद्धि से परे एक ही मूलसत्ता के प्रतिमान प्रतिभासित होते हैं। पुरुष और नारी अनन्यता की अवर्णनीय स्थिति में पहुँच जाते हैं—

वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में,
न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम केवल नारी हो;
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के,
देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है।[१८]

यही अनन्य स्थिति पुरुष और नारी को उस अत्युच्च शिखर पर पहुँचा देती है जहाँ दोनों तन का अतिक्रमण कर उस विराट् छवि के अंग मात्र प्रतीत होते हैं जो समग्र सौन्दर्य का आकार है और जहाँ प्रत्येक पुरुष शिव-सदृश और प्रत्येक नारी शिवा-सदृश प्रतीत होती है—

वहाँ जहाँ कैलाश प्रान्त मे शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।[१८]

यद्यपि देह प्रेम की जन्मभूमि है, किन्तु यदि पुरुष और नारी इस देह-भेद से ऊपर उठने का प्रयास करते हैं तो दोनों इसी ऊर्ध्व अवस्था को प्राप्त करते हैं जिसमें विराट् सौन्दर्य की आभा है और जिसमें पुरुष और नारी एक-दूसरे के आकर्षण से अभिभूत होकर प्रकाश और शक्ति के पुंज प्रतीत होते हैं।

'दिनकर' ने तिमिर को शान्ति का व्यूह और अन्तर्मन की आभा प्रतिपादित किया है और यह सिद्ध किया है कि रात्रि एक ओर योग-जागृति का क्षण है तो दूसरी ओर रस-पथिक प्रणयीजनो के आलिंगन के समय अतिक्रमण का क्षण भी है। उदग्र प्रणय की समाधि भी योग की समाधि के समान ऐकायनिक है—

निशा योग जागृति का क्षण है और उदग्र प्रणय की
ऐकायनिक समाधि; काल के इसी मरुत के नीचे
भूमा के रस-पथिक समय का अतिक्रमण करते हैं,
योगी बँधे अपार योग में, प्रणयी आलिंगन में।[२०]

एक ओर कवि रात्रि के समय के अतिक्रमण की बात करता है तो दूसरी ओर समय के रुक जाने की बात करता है जिससे पुरुरवा उर्वशी में समाहित त्रिभुवन के सौन्दर्य एवं त्रिकाल की सुरभि का आस्वादन कर सकें—

रुको, पान करने दो शीतलता शतपत्र कमल की;
एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का,
एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूंघ लेने दो।[२१]

प्रणय की प्रगाढ़ अनुभूति पुरुरवा में यह चेतना जगाती है कि निखिल ब्रह्माण्ड में एक ही परम तत्त्व का अस्तित्व है जो नारी बनकर पुरुष को उद्वेलित करता है और पुरुष बनकर नारी के हृदय को बेधता है—

नारी बन जो पुरुष को स्वयं उद्वेलित करता है
और बेधता पुरुष-कान्ति बन हृदय-पुष्प नारी का।[२२]

दिनकर के अनुसार प्रणय-प्रज्वलित हृदय में जो झंकृतियाँ उठती हैं, वे शब्दातीत हैं—

शब्द नहीं हैं, यह गूंगे का स्वाद, अगोचर सुख है,
प्रणय-प्रज्वलित उर में जितनी झंकृतियाँ उठती हैं,
कहकर भी उनको कह पाते कहाँ सिद्ध प्रेमी भी ?
भाषा रूपाश्रित, अरूप है यह तरंग प्राणों की।[२३]

पुरुरवा उर्वशी के प्रणय में उन्मत्त होकर भाव-ज्वार से आलोड़ित ऐसा अनुभव करते हैं कि वे उर्वशी के सनातन प्रणयी हैं और उर्वशी उनकी सनातन प्रणयिनी—

जहाँ-जहाँ तुम खिली, स्यात्, मैं ही मलयानिल बनकर,
तुम्हें घेरता आया, हूँ अपनी आकुल बाँहों से

जिसके भी सामने किया तुमने कुंचित अधरों को,
लगता है, मैं ही सदैव वह चुम्बन-रसिक पुरुष था।[२४]

इस प्रकार 'दिनकर' ने एक ओर अमरलोक के निर्बन्ध-निर्मुक्त प्रेम का आख्यान प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर अनासक्त प्रणय-भावना का निर्वचन किया है तथा निष्काम काम-भावना को महत्त्व प्रदान करते हुए योगी की समाधि एवं रस-विभोर प्रणयी की समाधि को एक ही भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। इतना ही नहीं, वरन् निष्काम प्रेमी-प्रेमिका को उन्होंने शिव-शिवा के समकक्ष ठहराया है और यह दिखाया है कि एक ही परम-तत्त्व पुरुष और नारी के रूप में प्रोद्भासित हो परस्पर अयस्कान्त के समान अपनी ओर आकर्षित करता है। इस प्रकार उन्होंने प्रेम के दैहिक, मानसिक, आत्मिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप को दिखाया है। देह के स्तर पर जो प्रेम मांसल और स्थूल है, वही आत्मा के स्तर पर आकर सूक्ष्म और वायवी हो जाता है। वस्तुतः अमरलोक की निर्मुक्त काम-भावना को उन्होंने एक दार्शनिक आवरण प्रदान कर दिया है। किन्तु पुरुरवा कुछ सीमा तक उस निर्मुक्त काम-भावना के पुरस्कर्ता बन गए हैं तथा उर्वशी तो उसका प्रतीक ही है। स्वर्गिक काम-भावना के साथ पार्थिव काम-भावना का वर्णन कर उन्होने दोनों के पार्थक्य एवं वैशिष्ट्य को भी रेखांकित किया है। पार्थिव काम-भावना के प्रतीक हैं: सुकन्या और औशीनरी, जिनमें भोग की कामना न होकर त्याग और ममत्व की अपरिसीम वृत्ति है। सुकन्या माता न होते हुए भी मातृत्व भावना से ओतप्रोत है तथा औशीनरी की तितिक्षा-वृत्ति एवं पतिपरायणता अनन्य है।

सुकन्या ने अप्सरा (दिव्य-नारी) और पार्थिव नारी का अंतर इस प्रकार रेखांकित किया है—

अप्सरियाँ जो करें, किन्तु हम मर्त्य योषिताओं के
जीवन का आनन्द-कोष केवल मधुपूर्ण हृदय है।
हृदय नहीं त्यागता हमें यौवन के तज देने पर,
न तो जीर्णता के आने पर हृदय जीर्ण होता है।[२५]

पुत्र आयु की आकस्मिक प्राप्ति के फलस्वरूप पुरुरवा को असीम आनन्द की अनुभूति होती है, किन्तु पुत्र-प्राप्ति के साथ प्रिया (उर्वशी) का वियोग उनके लिए इस प्रकार अविषह्य हो उठता है कि वे उर्वशी को स्वर्ग से धरती पर लाने के लिए युद्धमना हो उठते हैं। किन्तु चन्द्रकुल के प्रारब्ध और अपने ही संचित प्रताप की अपने अन्तर्मन से बात सुनकर वे प्रतिक्रियास्वरूप कुमार आयु को किरीट सौंपकर तप:साधन के लिए वन चले जाते हैं। वस्तुतः काम के उपभोग के फलस्वरूप उनमें वैराग्य का उदय नहीं हुआ, वरन् काम के बाधित हो जाने पर वैराग्य का उदय हुआ जो प्रतिक्रिया-स्वरूप ही है, किन्तु तो भी यह वैराग्य समयोचित ही है और यह इहलौकिकता से पारलौकिकता के मार्ग को प्रशस्त करता है।

पुरुष कर्मविमुख हो उठता है, पर नारी औशीनरी आयु को अपना समग्र ममत्व देकर कर्तव्य के प्रदीप को प्रज्वलित रखती है। नारी की त्यागमयी, उत्सर्गशीला वृत्ति की मिथकीय कथा को रूपक के अंत में समायोजित कर कवि ने इस रूपक के प्रभाव को अत्यन्त गम्भीर और सान्द्र बना दिया है।

५

इतिहासों की सकल दृष्टि केन्द्रित, बस, एक क्रिया पर,
किन्तु, नारियाँ क्रिया नहीं, प्रेरणा, प्रीति, करुणा हैं;
उद्गम-स्थली अदृश्य, जहाँ से सभी कर्म उठते हैं।[२६]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि दिनकर ने आकाश और धरती के मिथकीय स्वरूप को उर्वशी और पुरुरवा की ऐकान्तिक प्रणय-लीला में एवं उद्दाम काम-भावना के विकास मे दिखाकर रूपक के अन्त में आकाशीय वृत्ति-रूप उर्वशी का तिरोधान एवं तज्जनित वेदना से उद्भूत पुरुरवा का संसार-त्याग दिखाया है, किन्तु सोलहों आने पृथ्वी तत्त्व औशीनरी की आयु के प्रति अपरिसीम ममता एवं करुणा-विगलित सहज भावना दिखाकर यह प्रतिपादित किया है कि पृथ्वी अपनी महिमा और अपने गौरव मे अप्रतिम है तथा स्वर्ग को मार्ग-निर्देश कर सकती है।

संदर्भ-संकेत

१. उर्वशी—भूमिका अंश। २. उर्वशी – भूमिका अंश। ३ शतपथ ब्राह्मण ११।५।१। ४. उर्वशी — भूमिका-अंश। ५. उर्वशी, पृष्ठ ६६। ६. वही, पृष्ठ ६७। ७. वही, पृष्ठ ६७। ८. वही, पृष्ठ ६८। ९. उर्वशी, पृष्ठ ६। १०. वही, पृष्ठ ९। ११. वही, पृष्ठ ११। १२. वही, पृष्ठ १५। १३. वही, पृष्ठ २४। १४. वही, पृष्ठ ३४। १५. वही, पृष्ठ ३६। १६. वही, पृष्ठ ४२। १७. वही, पृष्ठ ४७। १८. वही, पृष्ठ ४८। १९. वही, पृष्ठ ५०। २०. वही, पृष्ठ ५३। २१. वही, पृष्ठ ५४। २२. वही, पृष्ठ ५६। २३. वही, पृ० ५७। २४. वही, पृष्ठ ७९। २५. वही, पृष्ठ ८५। २६. वही, पृष्ठ १२८।

हिन्दी विभाग,
एम० एस० विश्वविद्यालय,
बड़ौदा-३१०००२

मुक्तिबोध के काव्य-बिम्ब

श्री अलखनिरंजन सहाय

मुक्तिबोध की समस्त कविता बिम्बमय है। इस दिशा में वे अद्वितीय हैं। उनकी कविताएँ पढ़ते हुए यह नहीं लगता कि भाषा, उनके भावों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है, वरन् हम उसकी बिम्ब-निर्माण की क्षमता के कारण ही संवेदनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। वस्तुतः बिम्ब-विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है; रूप को संक्षिप्त और दीप्त। 'आधुनिक कवि की श्रेष्ठता की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है। उसकी विशिष्टता और उसकी आधुनिकता सबसे अधिक उसके बिम्बों से ही व्यक्त होती है।'

बिम्ब विचारों को स्पष्ट करने के माध्यम हैं। इसके द्वारा पाठक रचयिता के उस तत्त्व से परिचित होता है जो उसे समग्रता का बोध कराता है। अतः गुणों का निर्माण करता है, वातावरण की सृष्टि करता है और ऐसी प्रणाली से भावों का प्रेषण करता है जिसका और किसी भी उपाय से इतना अच्छा प्रेषण संभव नहीं है। अच्छे बिम्ब सम्प्रेषण के सबसे संक्षिप्त और प्रति[illegible] माध्यम हैं।

बिम्ब कवि के मनोदेश का वास्तविक परिचय देते हैं। कवि की मूल चेतना बिम्बों में ही ढलकर व्यक्त होती है। कवि के बिम्ब यानी उसकी अप्रस्तुत योजना उसकी मूल चेतना को प्रकट कर देते हैं। इस तरह बिम्ब कवि के व्यक्तित्व को सहज ही अनावृत्त कर देते हैं। बिम्ब की सम्प्रेषकता और मूल्यवत्ता पर ही किसी कलाकृति का महत्त्व निरूपित होता है।

वस्तुतः बिम्ब शब्द-चित्र हैं जो भाषा को सवाक् बना डालते हैं। शब्द की अपेक्षा बिम्ब अधिक सन्दर्भ-सापेक्ष होता है, क्योंकि वह यथार्थ का एक सार्थक टुकड़ा होता है। वह अपनी ध्वनियों और संकेतों से भाषा को अधिक संवेदनशील और पारदर्शी बनाता है। उसका आधार कोशगत अर्थ नहीं होता, सम्पूर्ण विस्तृत जीवन और इतिहास होता है। काव्य-बिम्ब के सम्बन्ध में हमें भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन मिलता है। प्रसिद्ध रूसी लेखक और विचारक 'बेलिंस्की' ने बिम्ब की महत्ता को स्वीकार करते हुए बताया कि बिम्बात्मक चिन्तन के माध्यम से कला का निरीक्षण करना ही कला है।

वस्तुतः बिम्ब के माध्यम से कवि अपने अनुभूत 'प्रभाव' को 'दृश्य' तथा 'ऐन्द्रिय' बनाकर सामने रखता है कि कवि की मौलिक संवेदना की अनुभूति पाठक को सहज ही सुलभ हो जाती है। 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' के लेखक डॉ॰ कुमार विमल ने भी बिम्ब-विधान में ऐन्द्रिय को अनिवार्य मानते हुए सभी प्रकार के बिम्बों को ऐन्द्रिय कहा है। परन्तु इन्द्रियों से सम्बन्ध न रखने वाले ऐसे बिम्ब भी काव्य में होते हैं जिन्हें अतीन्द्रिय या भावात्मक बिम्ब कहा जाता है।

प्रयोग-काव्य और नयी कविता के मनीषियों के लिए विशेषकर अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध भारती और के [illegible] सिद्ध बिम्ब-योजना [illegible] का [illegible] महत्त्वपूर्ण बन रही है। इस

दोनों धाराओं में बिम्ब की बहुत व्यापक और वैविध्यपूर्ण सर्जना हुई है। बिम्बों के बहुविध मौलिक और सूक्ष्म प्रयोग इन कवियों ने किये हैं। कहीं-कहीं एकसाथ अनेक बिम्ब उपस्थित किये गये हैं जो कहीं सम्बद्ध हैं, कहीं असम्बद्ध। इन कवियों का प्रभाववादी बिम्ब-विधान पर अधिक बल है। दृश्य-बिम्ब भी इस काव्य-धारा की रचनाओं में पर्याप्त हैं। अनेक स्थलों पर दृश्य-चित्र कवि की मनःस्थिति व्यंजित करते हैं। इन कवियों ने, जिनमें 'मुक्तिबोध' इस दृष्टि से अग्रणी हैं, अवचेतन के गुप्त संवेदनों को बिम्बों के माध्यम से व्यक्त किया है। रागात्मक की अपेक्षा बौद्धिक बिम्ब इस धारा की रचनाओं में बहुलता से प्राप्त होते हैं। प्रयोगवादियों ने प्राकृतिक बिम्बों के साथ आधुनिक दैनिक जीवन से सम्बद्ध बिम्ब प्रचुरतः अपनाये हैं।

नये उपमानों की चाह ने प्रयोगनिष्ठ रचनाकारों से अधिकतर अकाव्यात्मक बिम्ब-योजना करायी है—

> 'दो लालटेन से नयन
> निष्प्राण स्तंभ
> दो खड़े पाँव।'

मुक्तिबोध के काव्य में जगह-जगह तात्कालिक बिम्बों का विधान दिखाई पड़ता है, प्रायः हर कविता में बिम्बों के एक सिलसिले के रूप में। मुक्तिबोध की कविता का तो माध्यम ही बिम्ब है। अतः मुक्तिबोध के काव्य में प्रायः सभी प्रकार के बिम्ब उपलब्ध होते हैं। 'अँधेरे में' तथा 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में बिम्ब-योजना पग-पग पर हुई है। अगर उनके सभी बिम्बों का विवरण दिया जाये, तो वह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' तथा 'अँधेरे में' का भाष्य ही बन जायेगा। मुक्तिबोध की काव्यानुभूति सार्थक बिम्बों के माध्यम से प्रखर अभिव्यक्ति पाती है। इस दृष्टि से मुक्तिबोध एक सफल बिम्ब-सर्जक प्रतीत होते हैं। उनकी रचनाओं में शब्द, स्पर्श, रंग, रस, गंध सम्बन्धी गुणात्मक प्रभाव वाले चाक्षुष ऐन्द्रिय बिम्ब भी पर्याप्त हैं। कभी-कभी कवि ऐन्द्रिय प्रभाव वाले इन बिन्दुओं को एक ही पद में घटित कर समन्वित बिम्ब-योजना कर डालते हैं। यथा—

शब्द—

> 'पिछवाड़े, ढेरों में खड़-खड़/कोई गड़-बड़
> सर-सर करता छत चढ़ा फाँद दीवार बढ़ा
> वह नाग/एक भयजनक श्याम-संवेदन कोबा।

स्पर्श—

> 'अपने ही कृत्यों डरी/रीढ़ हड्डी
> पिचपिची हुई/वह मरे साँप के तन-सी लुचलुची हुई।'

मुक्तिबोध की रंग-चेतना अपने उत्कर्ष पर है। उनके काव्य में रंग-सम्बन्धी अनेक बिम्ब मिलते हैं। काले, सियाह या सँवलाये रंग को लेकर जितने बिम्बों की सृष्टि मुक्तिबोध के द्वारा हुई है, वह नयी कविता के अन्य कवियों के द्वारा नहीं। इनकी 'चाँदनी भी सँवलाई हुई है' तथा उनको लगता है कि चाँदनी के होंठ काले पड़ गये हैं—

रंग—

> 'भीमाकार पुलों के बहुत नीचे, भयभीत
> मनुष्य-बस्ती के बियाबान तटों पर
> बहते हुए पथरीले नालों की धारा में
> धराशायी चाँदनी के होंठ काले पड़ गये

कनपटी पर आघात होने के तत्काल बाद की स्थिति को मुक्तिबोध शब्दों के माध्यम से मूर्त करते हैं। यहाँ प्रयुक्त विभिन्न रंग बिम्ब-आघात के आन्तरिक प्रभाव को पूर्णतः मूर्त करने में सफल हैं —

'सहसा कनपटी पर जोर से आघात
आँखों-सामने विस्फोट/तारा एक वह टूटा,
दमकती लाल नीली बैंगनी/पीली व नारंगी
अनगिनत चिनगारियाँ बिखरा/सितारा दूर वह फूटा।'

रस—

'मानो जहरीले अनुभव में/मानव-भावों के अमृतमय
शत-प्रतिमाओं के अंगारे।'

गंध—

'वीरानी में टूटे विशाल पुल के खंडहर में
लगे आक के फूलों के नीले तारे
मधु-गंध-भरी उद्दाम हरी/चम्पा के साथ उगे, प्यारे··· ··.

शब्द-स्पर्श-रूपरस-गंध-समन्वित एक बिम्ब—

'अजी इस मोड़ पर
बरगद की घनघोर शाखाओं की गठियल
अजगरी मेहराब
मरे हुए जमानों की संगठित छायाओं में बसी हुई
सड़ी-बुसी बास लिए/फैली है गली के मुहाने में चुपचाप
अजगरी कमानी से गिरती है टिप-टिप/फड़फड़ाते पक्षियों की बीट।'

इस प्रकार के समन्वित बिम्ब मुक्तिबोध की कविताओं में बहुलता से पाये जाते हैं।

'आत्मा के मित्र मेरे' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियों में संमूर्तित होने वाला बिम्ब अपनी मूर्तता से छायावादी बिम्ब-सर्जना की याद दिला देता है—

'उस जलधि की श्याम लहरों पर जुड़ा आता
सघनतम श्वेत, स्वर्गीय फेन, चंचल फेन।
जिनको नित लगाये निज मुखों पर स्वप्न की मृदु मूर्तियों-सी
अप्सराएँ साँझ-प्रातः
मृदु हवा की लहर पर से सिन्धु पर रख अरुण तलुए
उतर आती, कांतिमय नवहास लेकर।'

यहाँ साँझ और उषाकाल को अप्सराएँ मानकर तथा उनकी लालिमा का सम्बन्ध रक्तिम तलुओं से जोड़कर मुक्तिबोध ने किसी नवयौवना नारी के मूर्त बिम्ब के माध्यम से प्रातः और सध्याकाल को मूर्तित किया है।

मुक्तिबोध ने ध्वनि बिम्बों की भी सफल योजना की है [illegible] के जीवन में व्याप्त भय घुटन पीड़ा उत्पीड़न और बावलेपन को व्यक्त करते हुए मानसिक [illegible] के दृश्य बिम्ब

'ब्रह्मराक्षस' के स्नान-प्रक्रिया के क्रम में प्रयुक्त 'छपाछप' शब्द उसकी स्नान-प्रक्रिया को पूर्णतः मूर्त कर देता है—

'ब्रह्मराक्षस/घिस रहा है देह/हाथ के पंजे, बराबर
बाँह-छाती-मुँह छपाछप/खूब करते साफ फिर भी मैल
फिर भी मैल !!'

इसी तरह 'चकमक की चिनगारियाँ' कविता में आये थपाथप, ठपाठप, तुम-तुम-तोम, खड़ाखड़, भड़ाभड़ आदि सभी शब्द ध्वन्यात्मक हैं और अपनी ध्वन्यात्मकता के कारण ही ये शब्द ऐन्द्रिय-बोध को तीव्रता और गहराई से उभारते हैं।

'कर्फ्यू', 'जासूस' शब्द की कल्पना स्वयं में बड़ी भीषण है, भयावह है, आतंक की स्थिति को मूर्त कर देती है। तानाशाही के साये में पूर्ण विनाश के भय मे साँस लेने वाले लोग एक ऐसी निराशा, अनिश्चितता और अरक्षयिता से परेशान हैं। 'कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी' के आतंकपूर्ण और अराजकतावादी वातावरण की भयंकरता पर भी अधिक भयंकरता 'कर्फ्यू', 'जासूस' की परत पड़ गई —

'गगन में कर्फ्यू है
धरती पर चुपचाप जहरीली छिः थूः है।
पीपल के खाली पेड़ घोसलों मे पक्षियो के,
पैठे हैं खाली हुए कारतूस।
गंजे सिर चाँद की सँवलायी किरनों के जासूस
साम-सूम नगर में धीरे-धीरे घूम-घाम
नगर के कोनों के तिकोनों में छिपे हैं !!'

'कर्फ्यू' शब्द मात्र ही आतंक की स्थिति को पूर्णतः मूर्त कर देता है। पक्षियों के घोसलों में 'खाली हुए कारतूस' तथा चाँद की किरणों को जासूस कहना वातावरण की गंभीरता, भय तथा सनसनाहट को रूपायित करता है।

दोस्तोयेव्सकी के 'अंडर-ग्राउंड मैन' के समान ही मुक्तिबोध का व्यक्ति भी बाह्य परिस्थितियों से भय खाकर एक तिलस्मी खोह में निवास करता है। 'स्याह परदे से ढँका चेहरा', अँधेरे कमरों में किसी का लगातार चक्कर लगाना रहस्यमयता, भयानकता, आतंक और गहन तहीभूत संदेह का मूर्त रूप ही है—

'जिन्दगी के………/कमरों में अँधेरे
लगाता है चक्कर/कोई एक लगातार'

किन्तु वह रहस्यमय व्यक्ति दिखाई नही देता, केवल उसके चलने की आहट-भर सुनाई देती है।

आतंक और भय के बावजूद मुक्तिबोध को संभावना के बीज भी दिखाई पड़ते हैं और मुक्तिबोध के कवि-व्यक्तित्व का यही वह पहलू है जो उन्हें "खूँखार सिनिक, संशयवाद" होने से बचा लेता है। इसी बुनियादी श्रद्धा के कारण मुक्तिबोध कह उठते हैं कि "हम सब लोग ऐसे डबरे हैं जो अपने भीतर सूरज का प्रतिबिम्ब धारण किये हैं।" वे 'डबरे पर सूरज का बिम्ब' जैसे जीवन्त बिम्ब के द्वारा हर डबरे को या जो अपने-आपको डबरा समझता है उसे उसके खुद के

भीतर निहित सूरज के बिम्ब के प्रति आत्मसजग करना चाहते हैं। इसीलिए उनकी रचनाओं में मानव की इस अन्तर्निहित शक्ति के बिम्ब प्रायः मिलते हैं। अन्तस्तल में छिपी हुई 'विक्षोभ-मणियाँ' और 'विवेक-रत्न' ऐसे ही बिम्ब हैं। मुक्तिबोध की कविताओं में एकाधिक बार प्रकट होने वाला वह 'रक्तलोक-स्नात पुरुष' भी मनुष्य की इसी अन्तःसंभावना का मूर्त रूप है।

लेकिन इसके साथ ही कवि-चेतना पर आधुनिक जीवन की वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्रभाव पड़ता है। फलतः आधुनिक जीवन की गत्यात्मकता को प्रस्तुत करने के लिए वह वैज्ञानिक उपलब्धियों में से बिम्बों को चुनता है। निम्न पंक्तियों में मुक्तिबोध 'यान' बिम्ब के माध्यम से अपने जीवन व मन की गतिमानता को रूपायित करने में सफल हुए हैं—

> 'मेरे अन्तर, मेरे जीवन के सरल यान,
> तू जबसे चला, रहा बेघर,
> तन गृह में हो, पर मन बाहर,
> आलोक-तिमिर, सरिता-पर्वत कर रहा पार।"

मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं में संचारी, व्यभिचारी और मूल रसों के भाव-बिम्ब भी मिलते हैं। किन्तु बहुतायत है दुःख-संचारी, करुण और अनेक स्थानों पर जुगुप्सा-संचारी वीभत्स भाव-बिम्बों की। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' का एक स्थूल वीभत्स बिम्ब ब्योरों के सादृश्य के सहारे बिल्कुल नवीन एवं सजीव ढंग से उभारा गया है जो इतना सजीव है कि स्वयं बोलता है—

> "वह बड़ा तना मोटी डालें
> अधजले फिके कण्डे व राख
> वह पागल युवती सोई है
> मैली दरिद्र स्त्री अस्त-व्यस्त
> उसके बिखरे हैं बाल व स्तन है लटका
> अनगिन वासनाग्रस्तों का मन अटका था
> उनमें जो उच्छृंखल था विशृंखल भी था
> उसने काले पल में इस स्त्री को गर्भ दिया
> शोषिता व व्यभिचारिता आत्मा को पुत्र हुआ
> स्तन मुँह में डाल मरा बालक! उसकी झाँई
> अब तक लेटी है पास उसी की परछाईं!!"

मुक्तिबोध जब कहते हैं कि "बिम्ब फेंकती वेदना नदियाँ" तो वे एक तरह से उस कवि-कल्पना की ओर भी संकेत करते हैं जो अपनी अजस्र सृजनशीलता में बिम्ब फेंकती चलती है। वस्तुतः कवि की शक्ति कल्पना के उस वेग और विस्तार से मापी जाती है जिसे अंग्रेजी में 'स्वीप ऑफ इमेजिनेशन' कहते हैं, और कहना न होगा कि उनके बिम्ब तीखे और तराशे हुए हैं। मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति की अर्थवत्ता फुटकल शब्द-प्रयोगों से नहीं आँकी जा सकती और न दो-चार बिम्बों अथवा भाव-चित्रों से मापी जा सकती है। उनकी अभिव्यक्ति की गरिमा का पता इस प्रकार के अछूते और संवेदना-स्नात बिम्बों से चलता है जो 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'अँधेरे में' जैसी महाकाव्यात्मक कविता अपनी समग्रता में प्रस्तुत करती है। उनकी संश्लिष्ट बिम्ब-योजना तीखी अनुभूतियाँ उभारने में सक्षम है। उनके अनुभूति प्राण बिम्बों के निर्माण में ऐसी शब्दावली का

योग है जो अपनी ध्वनि के द्वारा ऐन्द्रिय बोध को तीव्रता और गहराई से उभारती है। कहीं-कहीं मुक्तिबोध ने कल्पना के योग से ही अपने बिम्बों के सम्भाव्य ब्यौरों की उद्‌भावना की है जो अवास्तविक होते हुए भी वास्तविक अर्थों की व्यंजना करते हैं। उनके बिम्बों में आदिम जीवन के उपकरणों की आवृत्ति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उनकी कविताओं में बरगद, परित्यक्त, सूनी बावड़ी, चमगा.ड़ आदि तथा प्रकृति-सम्बन्धी अनेक बिम्बों के प्रयोग सहज ही उपलब्ध होते हैं। 'ब्रह्मराक्षस' का प्रतीकात्मक बिम्ब भी मुक्तिबोध बहुत रुचि से करते हैं।

इस तरह मुक्तिबोध के काव्य-बिम्ब उस अस्मिता (आइडेंटिटी) की खोज की ओर संकेत करते हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है।



द्वारा— श्री किसुन सहाय
केशोपुर-जमालपुर
जिला— मुंगेर (बिहार)-८११२१४

भारती की काव्यभाषा

डॉ० पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

भारती की काव्यभाषा संवेदना-सिद्ध है। यह प्रकृति-सहज गुणात्मक ऋद्धियों से भरी वह भाषा है जिसकी सफलता सर्जनात्मक सिद्धि में निहित होती है। कहना न होगा कि चाहे जिस किसी भी दृष्टि से लें, काव्यभाषा की महत्त्वपूर्ण सार्थकता उसके सर्जनात्मक होने में है। एक ओर यह काव्यभाषा—समकालिक और ऐतिहासिक—दोनों ही पद्धतियों के रिश्तों का एक बहुत जटिल और परिवर्ती तन्त्र बन जाती है तो दूसरी ओर अपनी समकालिकता में 'पैरोल' के बतौर एक रचनात्मक कर्म बनकर उपस्थित होती है। कवि का यह भाषिक कर्म काव्यभाषा की समसामयिक परम्परा और प्रचलित संलाप-पद्धति की पृष्ठभूमि में उसके प्रतिकूल निजी भाषिक मूल्य का भी संवहन करता है।[१] इस प्रक्रिया में यह अन्यतम रूप से शैली-सम्पन्न हो उठता है। काव्य-भाषा में इसकी पहचान चार बिन्दुओं पर सम्भव है— (१) चयन-कौशल, (२) वितरण, (३) विचलन, (४) विपथन।

(१) चयन-कौशल

'चयन-कौशल वह तत्त्व है जिसके सहारे भाषा की ऐच्छिक विशेषता ही शैली के रूप में उपस्थित होती है। यदि ग्लिएशन भाषा की परिपाटी के द्वारा उपस्थित विकल्पों के भीतर चयन की इस पद्धति को शैली कहते हैं तो विंटर भाषा की विकल्पात्मक वैशिष्ट्य-सूची के आवर्तक तौर पर होने वाले चयन को शैली के रूप में देखते हैं।[२] वावर्ग के शब्दों में उस अनुभव के उपयुक्त प्रतीकन का चयन शैली को जन्म देना है जिसे रचनाकार मोटे रूप में समान अर्थ देने वाले ढेर सारे शब्दों में से किसी एक शब्द-विशेष को चुनकर कहना चाहता है।[३] हॉकेट के अनुसार भी दो समान भाषायी कथन, जो करीब-करीब समान सूचना देते हैं, अपनी भाषिक संरचना में भिन्न होने के कारण शैली में भिन्न हो जाते हैं।[४]

चयन की इस प्रकृति में एक ओर पर्यायों का चयन निहित है तो दूसरी ओर वाक्य-गठन की विशिष्ट प्रक्रिया का संयोजन भी सुरक्षित है। कवि या रचनाकार इस चयन-स्वतन्त्रता का उपयोग करता हुआ कहीं अकर्मक वाक्य का व्यवहार करता है तो कहीं संयोजनात्मक उपवाक्य का और कहीं सकर्मक उपवाक्य का। साथ ही एकाधिक चयन-विकल्पों का वह एकसाथ समाहारी सगुम्फन भी करता है। सच है कि चयन की स्वतन्त्रता के मूल में जो कौशल है, उसके सहारे ही शब्दों के प्रति रचनाकार की बारीक समझ-बूझ का परिचय प्राप्त हो पाता है।

भारती के चयन-कौशल पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। संरचना की दृष्टि से यदि उनका शब्द-चयन सरल होने के साथ-साथ संयुक्त है तो व्याकरणिक दृष्टि से संज्ञा, विशेषण और क्रियाकोटिक। एक ओर इस पर बिम्बों, उपमानों और प्रतीकों की दृष्टि से विचार सम्भव है तो दूसरी ओर पूरे वाक्य-गठन में संयोजन की दृष्टि से भी। संयोजन चयन की दूसरी अपेक्षित धुरी है।[५]

भारती की कविता में सरल शब्द-चयन का कौशल जहाँ सहज ही विद्यमान है, वहाँ विशे रूप में उन्होंने युग्म शब्द-चयन की उपयोगी प्रवीणता का उत्तम परिचय प्रस्तुत किया है। उन ऐसे चयन-कौशल में सजातीय एवं विजातीय दोनों ही तत्वों का समावेश है। यदि उन्होंने संज्ञ और संज्ञा, विशेषण और विशेषण, क्रिया और क्रिया एवं क्रियाविशेषण और क्रियाविशेषण क युग्म प्रस्तुत किया है तो संज्ञा और विशेषण, संज्ञा और क्रिया तथा क्रिया, वाचक और प्रत्य का भी एकत्र समहारी स्वरूप उपस्थित किया है। इन युग्मों की रचना-प्रणाली तत्सम और तत्सम तद्भव और तद्भव एवं तत्सम और तद्भव तीनों प्रकार की है।

संज्ञा और संज्ञा

१. मिथ्या था फागुन में गुच्छों-गुच्छों फूला इंगुरी अशोक फूल। (सात गीत वर्ष, ७४)
२. सत्य है एक मणिजटिता दुपट्टा, एक मुद्रा-मंजूषा, एक पालकी। (वही, ७५)
३. तुमको मिलेगा किसी निर्जन तरुशाखा पर। (वही, ७७)
४. कन्धों पर वेणी के फूल साँप झूम उठे। (वही, ८३)
५. चन्दन का जादू दरवाजा खुल जाता है। (वही, ८८)

रेखांकित युग्मों में परम्परित (मुद्रा-मंजूषा, तरुशाखा), स्वतः-सर्जित (फूल साँप, जादू-दरवाजा) और मिश्रित (अशोक फूल)—त्रिविध युग्मों की सृष्टि हुई है। इनके चयन की साभि-प्रायता उपयुक्त पर्याय, बिम्बाधायकता और वाक्य-रचना से लेकर पूरे सन्दर्भ तक पर छायी हुई है।

विशेषण और विशेषण

१. तुम्हारी गोर-साँवर उँगलियाँ। (सात गीत वर्ष, ८९)
२. नीचे मेघधूम का सूना-सूना सागर। (वही, १२२)

यहाँ गोर-साँवर क्रमशः उत्कर्ष और सामान्यता को व्यंजित करने वाला सहज-युग्म प्रतीत होता है तो 'सूना-सूना' रिक्ति और शून्यता के अनन्त को दर्शाने वाला। इसके मूल में कवि का चयन-कौशल सुरक्षित है।

क्रिया और क्रिया

१. पाँवों पड़-पड़ बूढ़े व्यास के। (सात गीत वर्ष, ७८)
२. डूब-डूब जाने का अतीन्द्रिय सुख! (वही, ७५)

उद्धरण-संख्या १ में 'पड़-पड़' का क्रियामूलक युग्म अर्थ को आवर्तक तीव्रता देता है तो संख्या २ में 'डूब-डूब' सुख की अतीन्द्रिय गहनता की उपलब्धि करा देता है जिसमें क्रिया-पद्धति का नैरन्तर्य भी लगा हुआ है।

क्रियाविशेषण और क्रियाविशेषण

१. मन के अँधियारे में उभरे धीमे-धीमे। (सात गीत वर्ष, ८६)

यहाँ रेखांकित अंश मन्दता को आवृत्त होने वाली ध्वनि तक से उभार देने में समर्थ है, जो युग्म-संयोग के अभाव में एक 'धीमे' से हर्गिज सम्भव नहीं हो पाता।

संज्ञा और विशेषण

१ मेरी प्रणाम बद्ध अंजलियों में कसावों में (कनुप्रिया, १६

२. स्वर्णवर्णी झरनों पर। (वही, ५१)

ऊपर 'प्रणामबद्ध' युग्म में 'बद्ध' दूसरे सम्भावित पर्याय 'बँधी' की अपेक्षा परस्पर बँधने या श्लिष्ट हो उठने का अधिक दृढ़तर भाव व्यक्त करता है। ऐसे ही 'स्वर्णरंगी' के बजाय 'स्वर्णवर्णी' युग्म की संघटना भी ध्वनि-साम्य एवं रंगार्थ के अतिरिक्त अक्षर-लेख की महत्वपूर्ण संभावना का उद्‌घाटन करती दीखती है। भाषा में यह सामर्थ्य कवि के चयन-विषयक कौशल का ही परिणाम है।

संज्ञा और क्रिया

१. हरियाली-भीगी बेबस गुमसुम हो! (सात गीत वर्ष, १०४)

२. रंग-रचे फूलों का। (वही, पृष्ठ ११९)

भारती ने उक्त पंक्तियों में मूलतः संज्ञा और क्रिया का युग्म उपस्थित किया है। पर ये अपने पूरे सन्दर्भ में कृदन्त विशेषण का स्वरूप ले बैठे हैं। ऐसे युग्मों में मध्य की विभक्ति का लोप क्रियात्मक शीघ्रता और पूर्णता का परिचायक बन गया।

क्रिया, वाचक और प्रत्यय

१. भोले से चेहरे पर ये
कुछ दर्द-भरा
कुछ टीस भरा
खोया-सा-पन। (ठंडा लोहा, पृष्ठ ६७)

'खोया-सा-पन' जैसा संयोग कवि के समृद्ध, मौलिक चयन का दृष्टांत है। यहाँ क्रिया, वाचक और प्रत्यय का ऐसा अनोखा समाहार हुआ है जिसमें अभिव्यक्ति का फैलाव हठात् सिमट आया है और प्रेषणीयता तीव्रतर हो उठी है।

व्याकरणिक कोटि में चयन-दृष्टि से भारती के यहाँ संज्ञा शब्दों के विशिष्ट पर्यायों के साभिप्राय प्रयोग मिलते हैं। कहीं 'आम्र', 'रसाल' आदि की जगह 'सहकार' और 'अंबवा', कहीं 'वेला', 'प्रहरी' आदि की जगह 'बिरियाँ', कहीं 'सुनहलापन' और 'स्वर्णिमाभा' के लिए 'सुनहरिया', 'कहीं 'चुप्पी' या 'मौन' के लिए 'अनबोला', कहीं 'गृहकार्य' के लिए 'गृहकाज' एवं कहीं बादल के लिए 'बदरा' के संज्ञा-प्रयोग ऐसे ही हैं जो सामान्य न होकर विशिष्ट हैं—

१. सहकार की घनी छाँव में
बैठकर महावर लगाना चाहते हो। (कनुप्रिया, ३९)

२. यहाँ अंबवा तरे रुक एक पल विश्राम लेना। (ठंडा लोहा, १०)

३. तो मैं तुरत समझ गयी कि तुमने मुझे संझा बिरियाँ बुलाया है। (कनुप्रिया, २८)

४. पश्चिम की सुनहरिया घुँघरायी। (सात गीत वर्ष, ५४)

५. कभी खिन्न होकर, कभी अनबोला ठानकर, कभी हँसकर। (कनुप्रिया, ३१)

६. यह जो मैं गृहकाज से अलसा कर अक्सर। (वही, १९)

७. गोरी-गोरी सोंधी धरती-कारे-कारे बीज
बदरा पानी दे! (ठंडा लोहा, ६४)

पहले उद्धरण में सहकार, -बोध के अतिरिक्त क्रियात्मक भाव का भी

परिचय देता है जिसकी संभावना अन्य पर्यायों के चयन में बिल्कुल ही नहीं रह जाती। दूसरे उद्धरण का 'अंबवा' शब्द निवेदन की सहजता और 'स्थानीय रंगत' को उजागर करता है। इसे भी दूसरे पर्याय कभी विवृत नहीं कर पाते। तीसरे में 'बिरिया' संकेत-स्थल पर पहुँचने के लिए मिलन-वेला का अत्यन्त प्रभावी और परम्परित अर्थ स्पष्ट करता है। यह भी 'वेला' शब्द से कतई संभव नहीं था। फिर 'संझा' के साथ 'बिरियाँ' का संयोग और 'संझा' के 'झंकार का धुंधला झोंप'— सभी जैसे कवि के सार्थक चयन के गवाह बन जाते हैं। चौथे उद्धरण का 'सुनहरिया' शब्द कवि द्वारा स्वयं रचा गया है। पर यह उस कविता की पूरी संरचना और पद-शय्या के माकूल है। अर्थ की दृष्टि से 'स्वर्णाभा' के हलके होने की सार्थता भी इससे जाहिर होती है। पाँचवें उदाहरण में 'अनबोला' सहजतः विशेषण होते हुए भी सन्दर्भतः भाववाचक संज्ञा के रूप में व्यवहृत है। 'ठानने' के साथ इसकी जो युक्तियुक्तता है, उसमें भी कवि के चयन का रहस्य छिपा है। छठे उदाहरण में भारती द्वारा प्रयुक्त 'गृहकाज' शब्द द्रष्टव्य है। कवि ने 'गृहकार्य' या 'गृहकारज' का प्रयोग नहीं किया। इस चयन में एक ओर 'प्रणय रहने दो यह गृहकाज' वाला परम्परित संस्कार जीवित हो रहा है तो दूसरी ओर घर के काम की सहजता, मुनमता और अकृत्रिमता परिचिति स्पष्ट कर रही है। सातवें उदाहरण में 'बादल' की जगह जो 'बदरा' घिर आया है, वह इस कविता की अन्यान्य शब्द-सम्पदा के साथ अच्छी तरह मेल खाता है। इसमें ग्राम्य कंठ की सही, स्वाभाविक पुकार भी बसी हुई है।

संवेदना के नजरिये से कवि के संज्ञा-चयन का विस्तार मूर्त और अमूर्त दोनों क्षेत्रों तक है। वहाँ अपने-अपने सन्दर्भ में शब्दों को बड़ी सटीकता प्राप्त है। मूर्त शब्द-चयन में कवि ने चूल्हा (सात गीत वर्ष, २०), छत, खेत (१ १), घाटी, गाँव (१२२), लच्छी पल्ला (ठंडा लोहा, ७०) जैसे अगणित, त्वरित और प्रत्यक्ष अर्थबोधी शब्द उठाये हैं तो अमूर्त शब्दों के चयन मे सीत्कार, उसांस (कनुप्रिया, ४६), सूनापन, प्यार (वही), अस्तित्व, इच्छा, हिचक, कल्पना (वही, ६७) जैसे भावलोक की अनेकशः सृष्टि करने वाले शब्द-परिवेश का बखूबी प्रयोग किया है। कवि ने सम्बोधन से लिए भी मूर्त और अमूर्त दोनो ही प्रकार के शब्दों का इस्तेमाल किया है, जाति और द्रव्य की वाचकता से भाव की वाचकता तक—

१. हाँ चन्दन, तुम्हारे शिथिल आलिंगन में। (कनुप्रिया, २९)
२. मेरे सांवले समुद्र। (वही, ४०)
३. मेरे अधैर्य ! (वही, ५७)
४. मेरे प्यार ! (वही, ८८)

ये सारे संज्ञा शब्द 'कनुप्रिया' में कृष्ण के प्रति आरोपित हैं। पर यह कवि के चयन का कौशल ही है कि यहाँ शब्द सहज अर्थ की केंचुल छोड़कर लक्ष्यार्थ ग्रहण कर बैठे हैं।

विशेषण के चयन में भारती ने शैलिकीय तत्त्व को अधिकाधिक महत्त्व दिया है। व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट ने विशेषण-विशेष्य-भाव को स्पष्ट करते हुए उसकी दो कोटियों का उल्लेख किया है—(१) अन्तरंग एवं (२) बहिरंग।[*] अन्तरंग विशेषण अव्यवहित रूप में नियोजित होता है। वह विशेष्य के पूर्व या पश्चात् सन्निहित स्थिति में क्रियाशील रहता है। फलतः स्फटिक में लाक्षारक्त की तरह वह विशेषता का आधायक होता है, किन्तु बहिरंग विशेषण व्यवहित और अव्यवहित दोनों ही रूपों में सक्रिय होता है। उसका व्यापार उस चुम्बक के समान होता है जो लोहा से व्यवहित होने पर भी उसे अपने सामर्थ्य से समीप खींच लेता है।[८] भारती ने अपनी

काव्यभाषा में अन्तरंग और बहिरंग अर्थात् स्पष्ट और कर्षक, दोनों ही प्रकार के विशेषणों का चयन किया है—

स्पष्ट

मेरे शिथिल अधखुले गुलाबतन को
पी जाने के लिए तत्पर है। (कनुप्रिया, पृष्ठ ५३)

कर्षक

और मेरे वक्ष का गहराव
समुद्र में बहता हुआ, बड़ा-सा ताजा क्वाँरा, मुलायम गुलाबी वटपत्र बन गया है।

(वही, पृ० ८१)

यहाँ पहले उदाहरण में विशेषण का प्रयोग बहुत स्पष्ट, क्रमिक और अव्यवहित है। 'गुलाबतन' को बड़े सहज ढंग से 'शिथिल' और 'अधखुला' बताया गया है। पर दूसरे उदाहरण में यदि 'वटपत्र' को समुद्र में बहता हुआ दिखाया गया है तो उसे बड़ा-सा ताजा, कुँवारा, मुलायम और गुलाबी भी कहा गया है। यहाँ दो बिन्दुओं पर ठहरे विशेषण पंक्तिगत दीर्घता और उसके शब्द-क्रम के कारण अव्यवहित नहीं रहकर व्यवहित हो उठे हैं।

भारती का विशेषण-संसार बहुत बड़ा है। उन्होंने यदि सामान्य तौर पर पूर्ववर्ती विशेषण के प्रयोग किये हैं तो काव्यात्मक व्यतिक्रम स्पष्ट करते हुए परवर्ती विशेषण के भी। एक विशेष्य के लिए यदि उन्होंने कहीं एक ही विशेषण का व्यवहार किया है तो उस एक विशेष्य के लिए एकाधिक विशेषणों का व्यवहार भी। यहाँ उनके प्रयोग घनात्मक, मालाकार-शृंखल और उपवाक्यबन्धीय—त्रिकोटिक हो उठे हैं। उनको यहाँ एक ओर विशेष्य के प्रतिकूल विरोधाभासी विशेषण का चमत्कार है तो दूसरी ओर वहाँ सहसा न जाने कितने विशेषण-विपर्यय उत्सृष्ट हो उठे हैं। भारती ने अभिनव एवं स्वनिर्मित विशेषणों के प्रयोग भी किये हैं। यदि उन्होंने सर्वनाम विशेष्य के लिए बिम्बाधायक विशेषण का व्यवहार किया है तो सम्बोध्य अमूर्त विशेष्य के लिए मूर्त विशेषण का भी। उनके यहाँ एकाधिक विशेष्य के लिए एक ही विशेषण के आवृत्तिपरक प्रयोग प्राप्त होते हैं और कृदन्त विशेषणों के भास्वर प्रयोग भी। इतना ही नहीं, उन्होंने व्याकरणिक कोटि का अतिक्रमण करते हुए संज्ञा शब्द का भी विशेषण के रूप में व्यवहार किया है। चयन की दृष्टि से इन सबके उदाहरणों में बड़ी बारीकी और गहरी सूक्ष्मता है।

पूर्ववर्ती विशेषण के प्रयोग

(क) जैसे अनचित्ते चुम्बन से
लचक गयी हो अंगड़ाई! (ठंडा लोहा, पृष्ठ १६)

(ख) नींद भरी, तरलायित बड़री कटावदार आंखे मूँद
शाम—

(सात गीत वर्ष, पृष्ठ १०६)

(ग) आज इस निभृत एकान्त में
और इस प्रगाढ़ अन्धकार। (कनुप्रिया, पृष्ठ ३२)

उनकी कविता में 'क' जैसे अनेक उदाहरण पूर्ववर्ती विशेषण के इकहरे प्रयोग से भरे हैं तो 'ख' जैसे असंख्य उदाहरण पूर्ववर्ती विशेषण के दोहरे, तिहरे, चौहरे और पंचमेल प्रयोग से, जहाँ विशेषणों में अर्थ की तीव्रता क्रमशः बढ़ती ही चली जाती है एक तथ्य यह भी है कि इस कोटि में

काव्य के परम्परा-प्रथित विशेषणों का भी प्रचुर व्यवहार हुआ है। भारती को ऐसे विशेषणों से परिवेश सिरज देने में सिद्धि प्राप्त है। 'ग' की पंक्तियाँ ऐसी ही हैं : 'पोयटिक रजिस्टर' को याद दिला देने वाली पदशय्या।

परवर्ती विशेषण के प्रयोग

(क) वह है मायावी,
शिशुभक्षी
दैत्याकार
गृद्धवत्! (अन्धायुग, पृष्ठ ५६)

(ख) यह सफ़र की प्यास, अबुझ, अथाह?

(सात गीत वर्ष, पृष्ठ १०८)

भारती की कविता में परवर्ती विशेषण-प्रयोग के उदाहरण इकहरे की अपेक्षा प्रायः दुहरे-चौहरे ही अधिक मिलते हैं। इनका चयन हमें वक्तव्य से उठाकर बिम्बों के मेले में रमा देता है। ऊपर के दोनों ही दृष्टान्त इसके सबल प्रमाण हैं।

एक विशेष्य के लिए एक ही विशेषण का प्रयोग

(क) विष भरे फेन, निर्जीव सूर्य, निष्फल सीपियाँ, निर्जीव मछलियाँ
.........लहरें नियन्त्रणहीन होती जा रही हैं।

(कनुप्रिया, पृष्ठ ८०)

(ख) चाटुकार विद्वान, मूर्ख महिषियों,
अशिक्षित विदूषकों से घिरा हुआ

(सात गीत वर्ष, पृष्ठ ७७)

ऊपर की पंक्तियों में एक-एक विशेष्य के लिए प्रयुक्त एक विशेषण प्रत्येक विशेष्य के गुण-धर्म और वैशिष्ट्य को सीमित तथा निर्धारित कर रहा है। फलतः उसकी अर्थवत्ता सुनिश्चित हो उठी है। साथ ही विशेष्य और विशेषण का समतुलित पदबन्धों में समान यति-गति की सृष्टि कर रही है जिससे एक विशेष लय भी उभर रही है।

एक विशेष्य के लिए एकाधिक विशेषणों का प्रयोग

(१) घनात्मक

(क) बहुत परिचित, बहुत प्यारा शहर! (सात गीत वर्ष, पृष्ठ ५१)

(ख) सुहागन गोद में सोये हुए
नवजात शिशु के नेत्र-सी
इस शान्त नीली झील
के तट पर।

(ठंडा लोहा, पृष्ठ ७६)

घनात्मक कोटि में यद्यपि एक विशेष्य के लिए एकाधिक विशेषणों का व्यवहार होता है, तथापि यहाँ वैसे ही विशेषणों का अवग्रहण होता है जो विशेषण के भी विशेषण बनकर घनत्व की सृष्टि करते हैं। पहले उदाहरण में 'बहुत परिचित' और 'बहुत प्यारा' क्रमशः 'शहर' के विशेषण हैं जो अपनी परासीमा में 'बहुत परिचित' और 'बहुत प्यारा' की विशेषता का

का निर्देश करते हैं। दूसरे उदाहरण में 'सुहागिन गोद में सोये हुए' और 'नवजात' भी ऐसे ही विशेषण हैं जो 'शिशु के नेत्र-सी इस शांत' विशेषण-बन्ध की विशेषता का द्योतन करते हैं। विशेषण के इस घनत्वपरक चयन के मूल में मूर्तता, स्पष्टता, तीव्रता और सुनिश्चितता विद्यमान है।

(२) मालाकार-सुश्रृङ्खल

(क) मैं,
जिसे कि तुम
फूलों की मीनारों-जैसी
ताजी, सुन्दर, सुकुमार, सजलतन कहते थे! (ठंडा लोहा, पृष्ठ ३९)

(ख) हल्का, गुलाबी, गोरा, रुपहली,
धूप-छाँव वाली सीपी-जैसा जिस्म। (कनुप्रिया, पृष्ठ ५६)

(ग) आधी रात दंशभरा, बाहुहीन
प्यासा, सर्पीला कसाव एक! (कनुप्रिया, पृष्ठ ६२)

मालाकार-सुश्रृंखल विशेषण की कोटि में किसी विशेष्य के लिए प्रयुक्त सारे गुम्फित विशेषण एकाधिक अर्थ-छायाओं को आलोकित करने वाले होते हैं। यहाँ इन विशेषणों के उतार-चढ़ाव और यति-गति के सहारे कवि लय को साध लेता है। उसकी ऐसी सर्जना में एक ओर कवि की संवेदना की अदम्य अभिव्यक्ति निहित होती है तो दूसरी ओर सन्दर्भ के उपयुक्त वैशिष्ट्य को हस्तामलक कराने वाली सिद्धि भी होती है। उद्धरण 'क' में 'ताजी, सुन्दर, सुकुमार, सजलतन', उद्धरण 'ख' में 'हल्का, गुलाबी, गोरा, रुपहली, धूपछाँव वाली सीपी-जैसा' और उद्धरण 'ग' में 'दंशभरा, बाहुहीन, प्यासा, सर्पीला' —सारे विशेषण इस कोटि को अपनी महत्त्वपूर्णता में रेखांकित करते हैं। बड़ी बात यह है कि यहाँ चयन की यात्रा सारे विकल्पों को ग्रहण करते हुए संयोजन की धुरी तक आकर सार्थकता पाती है।

(३) उपवाक्यबन्धीय

(क) गतिरोधों से टकराती, मंडराती, बलखाती,
रेगिस्तानों में बहने वाली
घायल, भूखी आँधी-सी
यह आत्मा की खूँखार प्यास। (ठंडा लोहा, पृष्ठ ६८)

(ख) हिरन की छलांगों जैसा हल्का, फुर्तीला
लहरों में बलखाती किरनों-सा लचकीला
अब यह जूही के फूलों का तन नहीं रहा! (सात गीत वर्ष, पृष्ठ ४८)

उपवाक्यबन्धीय विशेषण की प्रकृति दीर्घायित होती है। यहाँ कवि लम्बे-से-लम्बे उपवाक्य-बन्ध तक को विशेषण का रूप दे बैठता है। ऐसी विशेषण-सृष्टि के मूल में हद दर्जे के मूर्तीकरण, बिम्बमयता और व्यापकत्व की प्रवृत्ति रेखांकित की जा सकती है। पर उपवाक्यबन्धीय विशेषण सर्वत्र अपनी संरचना में निर्बाध नहीं होते। सिनक्लेयर ने संरचना के जिस संरोध-तत्त्व (एरेस्ट) की चर्चा की है उसका अस्तित्वभाव यहाँ दृष्टिगत होता है फलतः पद्धतिगत पूर्णता विलम्बित हो जाती है उद्धरण क में 'घायल, भूखी आँधी-सी' पदबन्ध इसी संरोध के रूप में उभरा है

इसके अभाव में 'रेगिस्तानों में बहने वाली', 'यह आत्मा की खूंख्वार प्यास' से सीधे जुड़ जाता, कोई संरोध नहीं उभरता और यह रचाव शीघ्र ही पूर्णता पा लेता। भारती की काव्यभाषा की संरचना ऐसे विशेषणबन्धों की रचना में इसलिए भी समर्थ है, क्योंकि उनके यहाँ समास का आतंक नहीं है। जहाँ-कहीं समास हैं भी, वे ऋजु हैं। ऐसे विशेषणों की सृष्टि के लिए जिस ऊँची किस्म की संवेदना और कल्पना की दरकार होती है, वह भी भारती को सहज प्राप्त है। काव्य-भाषायी विशेषण की यह कुशल बुनावट ऊपर के दोनों ही उद्धरणों में प्रत्यक्ष हुई है।

विशेष्य के प्रतिकूल विरोधाभासी विशेषण का प्रयोग

(क) फिर भी बेकाबू तन
　　इन पिछले फूलों की रसवन्ती आग बिना
　　चैन नहीं पाता है। (सात गीत बर्ष, पृष्ठ २६)

(ख) शेष बचा हूँ केवल मैं
　　या मेरे चारों ओर दूर तक फैला हुआ सफेद अँधेरा। (वही, पृष्ठ १२३)

(ग) नसों का रेशमी तूफान मुझ पर शाप कैसे हो? (ठंडा लोहा, पृष्ठ २२)

ऊपर की पंक्तियों मे प्रयुक्त विशेषण विरोधाभासी हैं। आग है तो 'रसवन्ती', अन्धेरा है तो 'सफेद' और तूफान है तो 'रेशमी'। यहाँ अर्थ के सामान्य स्तर पर विशेष्य और विशेषण के बीच तनाव की स्थिति है। पर इसी तनाववश विशेषण गहरा अर्थ उद्रिक्त कर अपनी साभिप्रायता भी सिद्ध कर पाते हैं। एलेन टेट ने इस तनाव को ही काव्य की अर्थवत्ता माना है जिसके अन्तर्गत व्याप्ति और तीव्रीकरण का एक पूरा व्यवस्थित ढाँचा होता है।[६] भारतीय चिन्तन की दृष्टि से इसमें मुख्यार्थ से आगे संकेतित अर्थ के धरातल पर पहुँचने की गुंजायश होती है। काव्यभाषा की यह क्षमता भारती को प्राप्त है।

सर्वथा नवीन आसंग प्रस्तुत करने वाले विशेषण के प्रयोग

(क) तुम्हें आदिम गुनाहों का अजब-सा इन्द्रधनुषी स्वाद! (ठंडा लोहा, पृष्ठ १८)

(ख) वे सब-के-सब पशु हैं,
　　जिनको नृशंस स्वाद आता है। (सात गीत वर्ष, पृष्ठ २२)

(ग) जैसे सागर की लहरों पर हो नमकीन खुमार। (ठंडा लोहा, पृष्ठ २४)

भारती ने विशेष्यों के महक्षेत्रीय विशेषणों की जगह भिन्नक्षेत्रीय विशेषणों के प्रयोग किये हैं। इस प्रकार विशेष्य-विशेषण-विन्यास (कॉलोकेशन) को उन्होंने जबर्दस्त धक्का दिया है और भावक की सुस्थिर प्रत्याशी को विफल कर दिया है। पर इससे उन्होंने काव्य-भाषा के अन्दाज़ के जरिये अपनी विशिष्ट मौलिकता को प्रस्थापित किया है। 'गुनाहों' के लिए 'आदिम', 'स्वाद' के लिए क्रमशः 'इन्द्रधनुषी' और 'नृशंस' एवं खुमार के लिए 'नमकीन' के प्रयोग ऐसे ही हैं। यहाँ विशेष्य अपने आप में पर्युषित, घिसे-पिटे, बासी-से (स्टेल) है, पर विशेषण इन्हें अद्भुत ढंग से सप्राण और अभिनव बना रहा है। ऐसे स्थलों पर विशेषण-विपर्यय भी उत्सृजित हो उठे हैं जिनकी भारती के यहाँ एक लम्बी शृंखला है।

अभिनव एवं स्वनिर्मित विशेषण का प्रयोग

(क) रसमसाती धूप का ढलता पहर! (ठंडा लोहा, पृष्ठ ३)

(ख) वे पलकें दोनों　　　　थीं, अधखुल थीं। अन्धायुग पृष्ठ १२२

भारती ने सन्दर्भ और संवेदना की कोमलता का तालमेल बैठाते हुए अपनी शब्द-रचनात्मक शक्ति का अच्छा-खासा परिचय प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से उन्होंने विशेषण के कुछ खूबसूरत प्रयोग किये हैं। उल्लिखित पंक्तियों में यदि 'रसमसाती' विशेषण कई शब्दों के सहारे कही जाने वाली संवेदना को अकेले वाणी दे देता है तो 'अधखुली' की जगह 'अधखुल' का प्रयोग अपने ध्वनि-उच्चार मात्र से ही आधे खुलने का बड़ा ही सम्यक् रूप उभार देता है। उनकी कविता में ऐसे और भी उदाहरण मिलेंगे।

सर्वनाम विशेष्य के लिए बिम्बाधायक विशेषण के प्रयोग

(क) पर तुम खड़े रहे, अडिग, निर्लिप्त, वीतराग, निश्चल ! (कनुप्रिया, पृष्ठ १५)

(ख) आज वह जूड़े से गिरे हुए बेले-सा
टूटा है, म्लान है
दुगुना सूनसान है। (वही, पृष्ठ ८१)

ऊपर की पंक्तियों में प्रयुक्त विशेषण अपने-अपने सर्वनाम विशेष्य को पूरी तरह आवृत्त कर उठे हैं। यहाँ 'तुम' और 'वह' इन्हीं विशेषणों के कारण महत्त्वपूर्ण हो रहे हैं। ये विशेषण ही हैं जो अनाम सर्वनामों को बिम्बाधान से धन्यनाम कर रहे हैं।

सम्बोध्य अमूर्त विशेष्य के लिए मूर्त विशेषण का प्रयोग

सुनो, सच बतलाना मेरे स्वर्णिम संगीत। (कनुप्रिया, पृ० १४)

यहाँ संगीत सम्बोधन अनेकार्थी है। यद्यपि यह अमूर्त है, पर इसका विशेषण 'स्वर्णिम' मूर्त है। संगीत भी 'जिस्म के सितार' का है। अतः 'स्वर्णिम' विशेषण का विशिष्ट महत्त्व है। इस प्रकार यहाँ विशेषण-प्रयोग अर्थ के एकाधिक-सूत्री सम्बन्ध का नियोजन कर रहा है। 'दूसरा गीत' में वस्तुतः काव्य-भाषा और उसकी शैली का स्वरूप निखारने वाला एक वजनी शब्द है यह।

आवृत्तिपरक विशेषण के प्रयोग

१. सामान्य आवृत्तिमूलक—

टूटी जाँघों, टूटी कोहनी, टूटी गर्दन वाले
दुर्योधन के माथे पर रखकर पाँव।

यहाँ एकाधिक विशेष्य के लिए एक ही विशेषण 'टूटी' के आवर्तक प्रयोग हुए हैं। काव्य-भाषा मोचन-तत्त्व (रिलीज़) के सहारे फैलती गयी है। विशेषण आवृत्त होकर अर्थगूंज उठाता उसे स्थायित्व देता चला गया है।

२. विशिष्ट आवृत्तिमूलक—

(क) शब्दावृत्ति या वीप्सामूलक—

१. गोरी-गोरी सोंधी धरती कारे-कारे बीज
बदरा पानी दे ! (ठंडा लोहा, पृ० ३४)

२. गोरी-गोरी बाँहों पर बेहद फबता है ! (वही, पृ० ७०)

ऊपर के दोनों ही उद्धरणों में भारती ने विशेषण के विशिष्ट आवृत्तिमूलक प्रयोग किये हैं। भारती के यहाँ इसकी भी दो कोटियाँ हैं—१. शब्दावृत्तिमूलक और २. अर्थावृत्तिमूलक। शब्दावृत्तिमूलक विशेषण—'गोरी-गोरी' और 'कारे-कारे' का चयन आकर्षण-प्रबलता, लयवत्ता, और सहज उत्फुल्लता को दर्शाता है।

२

(ख) अर्थावृत्तिमूलक—

केवल कुछ बादल के पीछे छूटे टुकड़े
छायादार झाड़ियों में विश्राम कर रहे
जैसे धौरी उजली गायें। (सात गीत वर्ष, पृ० १२६)

'धौरी' और 'उजली' दोनों के प्रयोग में अर्थ की आवृत्ति है, पर यह आवृत्ति रंग का बड़े दृढ़ भाव से अभिज्ञान करा रही है।

कृदन्त विशेषण के प्रयोग

(क) बौर-लदी नाजुक टहनी-सी इस देह की! (सात गीत वर्ष, पृ० ११३)

(ख) बहते हुए अंधड़
गरजते हुए महासागर
झकोरों में नाचती हुई पत्तियाँ
धूप में खिले हुए फूल, और
चाँदनी में सरकती हुई पत्तियाँ। (कनुप्रिया, पृ० ४२)

कृदन्त-विशेषण में क्रियात्मक पक्ष मुखर रहता है। ये विशेषण अधिक ठोस होते हैं। इनका बिम्ब-विधान भी अधिक स्पष्ट होता है। साधारण विशेषण की अपेक्षा ये कालबोध-प्रमुख भी होते हैं। उद्धरण 'क' में और 'बौर-लदी' 'नाजुक' के बजाय अधिक मूर्त और स्पष्ट विशेषण है। उद्धरण 'ख' के सारे विशेषणों में यह गुण तो है ही। साथ ही आपस में मिलकर वे नैरन्तर्य की भी सृष्टि कर रहे है। उद्धरण 'क' में विशेषण की प्रकृति स्थिर है, पर उद्धरण 'ख' में गत्यात्मक!

संज्ञा का विशेषण के रूप में प्रयोग

(क) तुम्हारे चन्दन कसाव के बिना। (कनुप्रिया, पृ० ३२)

(ख) तुम्हारे स्पर्श की बादल-घुली कचनार नरमाई। (ठंडा लोहा, पृ० १८)

कवि को संज्ञा का क्रियात्मक अथवा विशेषणमूलक व्यवहार करने की विशेष छूट प्राप्त होती है।[१०] भारती की इन पंक्तियों में इस छूट की उत्तम प्रस्तुति हुई है। यहाँ यह 'चन्दन' और 'कचनार' जैसी संज्ञा अर्थोद्बोध की दृष्टि से विशेषण बन गयी हैं। यह विशेषण की साधारण हदबंदी से बाहर का प्रयोग है जिससे कवि की चयन-निपुणता का पता चलता है।

अपनी काव्य-भाषा के साज-सँवार में भारती का मन जितना विशेषण-शब्दों के बीच रमता है, उतना क्रिया-शब्दों में लीन नहीं हो पाता, फिर भी उनके यहाँ क्रिया का चयन मानी से भरा है। यह निजी और विशिष्ट भी है जिसमें काव्यात्मकता की पहचान बहुत साफ है। भारती ने निश्चित व्यापार के लिए बहुत सटीक उद्घाटिका क्रिया के प्रयोग किये हैं, लोकलय के संचार के लिए उसके पुट से भरी क्रिया के प्रयोग किये हैं, क्रिया की प्रक्रिया को स्पष्ट कर देने वाली पूर्वकालिक क्रिया के प्रयोग किये हैं, विकल्पों भरी विशिष्ट एवं साभिप्राय क्रिया के प्रयोग किये हैं, विशिष्ट संज्ञा के सन्दर्भ में विशिष्ट एव निश्चित क्रिया के प्रयोग किये हैं, बिम्ब उरेहने वाली अखण्ड एवं शृंखलाबद्ध क्रिया के प्रयोग किये हैं, साधित-नाम के रूप में गृहीत धातु-प्रत्ययी क्रिया के प्रयोग किये हैं एवं हिन्दी में सहज प्रचलित हो चुकी अंग्रेजी क्रिया के भी प्रयोग किये हैं।

निश्चित व्यापार के लिए सटीक उद्घाटिका क्रिया

क शाम ढोते दूर जब भटकी हुई गायें रम्हायें (ठंडा लोहा, पृ० १०)

(ख) ले विदा अमराइयों से चल पड़े ढोला हुमचकर। (ठंडा लोहा, पृ० ११)
(ग) और झुरमुट में छिपकर व्याकुलता से चहकों। (सात गीत वर्ष, पृ० ५३)
(घ) इस जिस्म के एक-एक कण में
बराबर टीसती रहती है। (कनुप्रिया, पृ० २०)
(ङ) वहाँ सैकड़ों निष्फल सीपियाँ छटपटा रही हैं। (कनुप्रिया, पृ० ७६)

उल्लिखित पंक्तियों की क्रिया यद्यपि काल-कोटि की दृष्टि से अलग-अलग प्रकार की है, तथापि उनके बीच समानता का भी एक बिन्दु है। ये सभी क्रियाएँ अपने व्यापार को जिस सटीकता से दर्शाती हैं, उस सटीकता से दूसरे विकल्प किसी भी रूप में इसे दर्शा नहीं पाते। अपने सही अर्थ में ये क्रियाएँ विकल्पहीन हैं। रँभाना, हुमचना, चहकना, टीसना और छटपटाना का कोई उपयुक्त पर्याय नहीं मिल सकता। ऐसे क्रिया-प्रयोग अर्थ-गूढ़ व्यंजना से भी भरे होते हैं। फलतः इनका चयन सन्दर्भ को औचिती प्रदान करता है।

लोकलय के संचार के लिए उसके पुट से भरी क्रिया :

(क) पर न अपना मन दुखाना, मोह क्या उससे
कि जिसका नेह टूटा, गेह छूटा। (ठंडा लोहा, पृ० १०)
(ख) पश्चिम की सुनहरिया धुंधरायी! (सात गीत वर्ष, पृ० ५४)
(ग) माथा छू
निंदिया उचटाती है
बाहर ले जाती है।
घन्टों बतियाती है। (सात गीत वर्ष, पृ० १०३)

भारती ने लोकलय के संचार के लिए विशेष तौर पर 'नामधातु' को स्थान दिया है। उन्होंने संज्ञा और विशेषण शब्दों से बनने वाली इस क्रिया के महत्त्व को पहचाना है। उद्धरण 'क' में 'दुःख' से 'दुखाना', उद्धरण 'ख' में 'धुंधला' से 'धुंधरायी' एवं उद्धरण 'ग' में 'उचाट' से 'उचटाती' तथा 'बात' से 'बतियाती' रूप सिद्ध किये गये हैं। इन क्रियाओं की व्यवहार-सहजता में काव्यभाषा का सौन्दर्य विद्यमान है।

क्रिया की प्रक्रिया को स्पष्ट कर देने वाली पूर्वकालिक क्रिया

(क) ये हवाएँ शाम की झुक-झूमकर बरसा गयीं। (ठंडा लोहा, पृ० ३)
(ख) कहर उस वक्त कोई
रुमझुमाकर और ढाता हो। (ठंडा लोहा, पृ० १५)

भारती ने पूर्वकालिक क्रिया का इस रूप में विशेष काव्यात्मक चयन किया है कि यह न केवल क्रिया की वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया को खोल देती है, बल्कि आत्मनिष्ठ होकर मुद्रा-विशेष का भी प्रत्यक्ष करा जाती है। 'झुक-झूमकर' में जो कोमल मस्ती भरी मुद्रा है और 'रुमझुमाकर' में जो मस्ती और मिठास भरी प्रेमिल हिलोर है, वह चयन के मामले में भारती को जौहरी की बेजोड़ खासियत सौंपती है। 'रुमझुमाकर' तो भारती का बिल्कुल निजी प्रयोग भी है।

विकल्पों-भरी विशिष्ट और साभिप्राय क्रिया

सूरज में नहाये हुए
नीले कमल सा यह पेत का नशीला दिन

मैंने बिताया नहीं
केवल गुजार दिया। (सात गीत वर्ष, पृ० ११२)

'चैत का एक दिन' की इन पंक्तियों में बड़ी बारीकी से क्रिया-विकल्पों का अन्तर स्पष्ट किया गया है। इस अन्तर में ही इन पंक्तियों का कवित्व सिक्त है। 'बिताना' में आत्मपरकता होती है, किन्तु 'गुजारना' मे वस्तुपरकता। आत्मपरकता में रुचि का समावेश है, किन्तु वस्तुपरकता मे रुचि के अभाव के साथ निस्संगता का बोध। कवि ने नशीले दिन की अनुभूति और प्रतीति को नकार दिया है। इसीलिए उसने उसे 'बिताया' नहीं, उसका उपभोग नहीं किया, बल्कि बतौर 'रुटीन' उसे गुजर जाने दिया, 'गुजार दिया'। चयन के इस विवेक को दाद देनी पड़ती है।

विशिष्ट संज्ञा के सन्दर्भ में विशिष्ट एवं निश्चित क्रिया

कोंपलों में फूटता है
पत्तों में हरियाता है
फूलो में खिलता है
फलों में गदरा आता है। (कनुप्रिया, पृ० ४४)

भारती ने संज्ञा की प्रकृति को देखते हुए भी विशिष्ट एवं सटीक क्रिया का चयन किया है। यहाँ उन्होंने स्वीकृत 'नाम' का निर्वाह किया है तथा कोई अवान्तरण नही दिखाया है। संज्ञा-क्रिया के इस मानक सम्बन्ध की स्थिरता यहाँ काव्य-सौन्दर्य का हेतु बन गयी है और काव्यार्थ बड़ा ही स्वानुभूत, बड़ा ही सहज हो उठा है।

बिम्ब उरेहने वाली अखण्ड एवं शृंखलाबद्ध क्रिया

(क) उसने तो प्यार किया, रीत गया, टूट गया
पीछे मैं छूट गया। (सात गीत वर्ष, पृ० ५८)

(ख) मेरी परछाँही
तू भी ऐसे ही तड़पेगी, मंडरायेगी, सिर पटकेगी। (ठंडा लोहा, पृ० ८२)

ऊपर क्रियाओं का एक गतागत सिलसिला है जो क्रिया-समाप्ति की साधारण या गद्यात्मक प्रत्याशा को तोड़ता एक काव्यात्मक प्रत्याशा की कड़ी जोड़ता है। क्रिया के ये अखंड एवं शृंखलाबद्ध प्रयोग चल बिम्बों की सृष्टि कर रहे हैं। कई छोटे-छोटे खण्ड-बिम्ब और फिर इनका सम्पूर्ण रूपक! कवि ने इस क्रियाक्रम का अत्यन्त समर्थ चयन किया है।

साधित नाम के रूप में गृहीत धातु-प्रत्ययी क्रिया

दो गाढ़ी मेंहदी वाले हाथों का जुड़ना
कँपना, बेबस हो गिर जाना। (सात गीत वर्ष, पृ० ५८)

यहाँ समापिका क्रिया का बिना प्रयोग किये ही धातु-प्रत्यय क्रिया (जुड़+ना, कँप+ना, गिर+जा+ना) के प्रयोग से सार्थकता प्राप्त की गयी है। पूरी 'आँगन' कविता में क्रिया-प्रयोग का यही स्तर है जहाँ क्रिया साधित नाम के रूप में उपस्थित होती है। निस्सन्देह ऐसा चयन काव्यभाषा की विशेष संरचना मे सहायक होता है।

हिन्दी में सहज प्रचलित हो चुकी अंगरेज़ी क्रिया

तेज़ी से तार फाँद लाइन कर गयी क्रास।
(सात गीत वर्ष, पृ० २८)

'कर गयी क्रास' में काटते हुए पार निकल जाने का भाव है जिसे 'क्रास' की ध्वनि बड़ी समर्थता से फेंकती है। ऐसे भी 'क्रास करना' हिन्दी में सहज-प्रचलित क्रिया है। भारती ने कविता के मर्म की पकड़ के लिए इसका प्रयोग किया है।

नवीन उपमानों की सर्जना

भारती के चयन-कौशल का एक द्रष्टव्य कोण उनकी कविता में नवीन उपमानों की सर्जना भी है। उन्होने अपने उपमानों की उत्कृष्टता का आप ही बखान भी किया है। यहाँ ऐसा लग सकता है कि वे प्रकारान्तर से कवि-गर्वोक्ति की परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं—

'हैं मेरे पास सजल मोती-सी उपमाएँ
ताजे वनफूलों-सी बेदाग़ नयी वाणी।' (ठंडा लोहा, पृ० ५५)

पर सच्चाई यह है कि कवि को अप्रस्तुत-विषयक अपनी चयन-क्षमता पर बहुत-बहुत भरोसा है। इसने उनके पूरे काव्य-संसार को श्री-सुषमा और विभूति प्रदान की है, बल्कि उपमानों की चोखी और अनोखी साज-सज्जा तो उनके कृतित्व की पहचान भी बन गयी है। उनके उपमान उपमा मे अधिक-से-अधिक बोलते हैं, पर कहीं-कहीं रूपक का ठाठ भी सज जाता है। उनकी भाषा में 'शरद के चांद-से उजले धुले-से पाँव' (ठंडा लोहा, ◦) हैं और हैं 'हरसिंगार-से' 'रोशनी के फूल' (वही) : चुम्बनों की पांखुरी के दो जवान गुलाब' (वही, पृ० ४), हैं और है 'पूजा-सा' प्रिया का 'रूप' (वही)। वहाँ 'कोंपलों-से नैन' (वही, पृ० ११) हैं, 'फूल-सी उँगली' (वही) है, कहीं 'कली-सा तन' है और 'किरन-सा मन' (वही, पृ० २२), तो कहीं 'कंचन तन' है और 'चन्दन मन' (वही, पृ० ४१) भी। वहाँ 'मन' के सादृश्य की शीघ्र 'इति' नही है। 'खिलते हुए बेले-सरीखा मन' (वही, पृ० १८) और 'बच्चों की ज़िद-सा अल्हड़ मन' (वही, पृ० २५) दोनों ही मिल जाएँगे। दिल है तो 'हंसों का-सा' (वही, पृ० २१), 'मृदुल बदन' है तो 'पान-फूल-सा' (वही, पृ० २५), 'दूधिया हँसी' है तो 'बच्चों की-सी' (वही, पृ० ८), 'पतले होंठ' हैं तो 'रतनारी सीपी-से' (सात-गीत वर्ष, पृ० ११५), सूरज है तो 'सिन्दूरी गुलाब जैसा' (कनुप्रिया, पृ० ७८), बादल हैं तो 'उदास फूलों के' (ठंडा लोहा, पृ० ६८) और मृदुल चाँदनी है तो 'नवल कल्पना की' (वही, पृ० ५३)। इसके विपरीत क्रूर और भयावह उपमानों में अँधियारा है तो 'महाकाल के जबड़े-जैसा' (ठंडा लोहा, पृ० ६३) और प्रश्नचिह्न हैं तो 'जहरीले अजगर-जैसे' (सात गीत वर्ष, पृ० २६)। वे कहीं नवम्बर की दोपहर के लिए 'जार्जेट के पीले-पल्ले' का उपमान ग्रहण करते हैं तो कहीं उसे 'क्वाँरेपन के कच्चे छल्ले-सी कसी' होने का औपम्य प्रदान करते हैं और कहीं उस धूप को 'सोने के हंसों-सी' सजी देखते हैं। कहीं वे 'जिस्म' के लिए उपमानों की भीड़ लगा देते हैं तो कहीं वे धूल-धूसर राह को 'उजली माँग-सी' और नदी को 'धनुष-सी दुहरी' दिखाते हैं।

* जार्जेट के पीले पल्ले-सी यह दोपहर नवम्बर की।
× × ×
जो क्वाँरेपन के कच्चे छल्ले-सी
इस मन की उँगली पर
कस जाए और फिर कसी ही रहे।
× × ×
सोने के हंसों-सी धूप यह नम्बर की (सातगीत वर्ष पृ० २७-२८

* बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चाँद
रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण-सा
मेरा यह जिस्म। (कनुप्रिया, पृ० ६१)

* खत्म होने को न आएगी कभी क्या
एक उजड़ी माँग-सी यह धूल-धूसर राह ? (सात गीत वर्ष, पृ० १०८)

* पाँव में लिपटी हुई यह धनुष-सी दुहरी नदी
बाँध देगी क्या मुझे बिल्कुल ? (वही, पृ० १०८)

कवि जब उपमानों के सहारे अपनी अभिव्यक्ति करता है, तब वह दो भिन्न सृष्टियों की आंशिक तुलना करता होता है। वह दूसरी कलायुक्तियों में अपने कथ्य का अव्यवहार्य रूपान्तर सिर्फ इसलिए करने को बाध्य होता है कि उसके कथ्य ठीक-ठीक खुल सकें और सम्प्रेषित हो सकें।'[११] इस दृष्टि से भारती का उपमान-चयन जरा भी 'कोल्ड' महसूस नहीं होता, बल्कि इनमें ग़जब की ऊष्मा, संजीवनी, प्रभविष्णुता और काव्यात्मकता प्राप्त होती है। क्षेत्र के लिहाज से उनके इन उपमानों का फैलाव वस्तुजगत् से कल्पनाजगत् और मिथक-जगत् तक है।

चयन और बिम्ब-सर्जन

किसी भी कवि के चयन-सामर्थ्य को परखने का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु बिम्ब-विधान भी है। काव्यभाषा में यह बिम्ब कहीं अलग से नहीं आता, बल्कि वह भाषा से ही भाषा में बनता, उभरता है। और यह भाषा भी कोई नयी भाषा नहीं होती। यह तो वही संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि वाले युक्तियुक्त शब्द-चयन एवं बहुतेरे उपमानों के अनेकशः रम्य विधानों वाली भाषा होती है। बिम्ब इन्हीं सबसे सृष्ट होता है। एक-दूसरे सन्दर्भ में प्रयुक्त भारती का एक वाक्यांश ग्रहण कर कहना चाहें तो कहेंगे कि सही और ऊँची काव्यभाषा 'धूपछाँही कपड़ों की आड़ी और तिरछी बनावट की तरह होती है, जब जो रंग झलकने लगे।'[१२] इसलिए जो एक दृष्टि से उपमान है, वह दूसरी दृष्टि से बिम्ब भी बन जाता है।

इन्द्रियग्राह्य संवेदना के कवि होने के कारण जहाँ भारती की काव्य-भाषा में ऐंद्रियता का प्रबल आग्रह है, वहाँ उनका बिम्ब-सर्जन भी प्राथमिक रूप में ऐन्द्रियक (सेनस्यूअस) है। बिम्बों का यह ऐन्द्रियक उभार उनकी काव्यभाषा में चाक्षुष, श्रौत, स्पर्श, घ्रातव्य और आस्वाद्य—पाँचों रूपों में प्राप्त होता है। किसी-किसी स्थल पर तो एकाधिक ऐन्द्रियक संवेदनाओं को मुखर करने वाली इसकी चित्रपट्टी-सी ही सज गयी है।

* चाक्षुष—तुम्हारी चितवनों से नरगिसों की पाँति शरमायी। (ठंडा लोहा, पृ० १८)

* श्रौत—भँवरों की पातें उतर-उतर
कानों में झुककर गुनगुनकर
हैं पूछ रही—क्या बात सखी ? (ठंडा लोहा, पृ० ८)

* स्पर्श—अर्चना की धूप-सी तुम गोद में लहरा गयीं
ज्यों झरे केसर तितलियों के परों की मार से ! (ठंडा लोहा, पृ० २)

* घ्रातव्य—बहुत दिनों के बाद खिला बेला, मेरा आँगन महका। (ठंडा लोहा, पृ० १६)

* आस्वाद्य—किसी के होठ पर बुन दूं अगर अंगूर की पर्तें। (ठंडा लोहा, पृ० २३)

कायिक ऐन्द्रियक संवेदनाओं का बिम्ब

कांपते हुए गुलाबी जिस्मों
गुनगुने स्पर्शों
कसती हुई बाँहों
अस्फुट सीत्कारों
गहरी सौरभ-भरी उसाँसों
और अन्त में एक सार्थक, शिथिल मौन ! (कनुप्रिया, पृ० ४६)

इनमें चाक्षुष और घ्रातव्य भारती के बहुत अपने बिम्ब हैं। चाक्षुष भी ऐसे, जिनमें प्रकृति-ऋतु की रंगारंग तसवीरें उभरी हों। बकौल भारती : "खुशबुएँ इलाहाबाद की अब भी याद आती हैं और याद आते हैं मौसम के रंग। गर्मी की दोपहर को सुबह ७ से रात ८ बजे तक की एक-एक ताप-लहर का एहसास कोई मुझसे पूछ ले। या जल की नमी। जमुना के किनारे जल की तरावट चेहरे को कुछ और संवेदन दे जाती है और बसन्त पंचमी की दोपहर को झूँसी की गंगा का जल कोई और अनुभव देता है। जन्माष्टमी के दिन की झींसी-फुहार और महावर की बरसात का पानी ही बिलकुल अलग होता है।...... इलाहाबाद नहीं था। सिर्फ एक बहुत पारदर्शी मन था, बहुत संवेदनशील, जो हर खुशबू, हर मौसम बटोरता था।"[१] निर्विवादतः उनकी काव्यभाषा में छाती-व्यापती खुशबू और मनभावन मौसम के ढेर-सारे बिम्ब भरे पड़े हैं। मौसम और मौसम के खास-खास क्षण एवं पल पर तो उनकी असंख्य कविताएँ और काव्य-पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं। 'सात गीत वर्ष' में 'नवम्बर की दोपहर' (२७), 'फागुन के दिन की एक अनुभूति' (२९), 'मेघ दुपहरी' (५०), 'कस्बे की शाम' (५४), 'धूल-भरी आंधी का गीत' (५६), 'रात अँधियारी : हवा तेज' (६४), 'यह ढलता दिन' (८२), 'शाम : दो मन.स्थितियाँ' (८६), 'ढीठ चाँदनी' (१०२), 'दिनढले की बारिश' (१०४), 'चैत का एक दिन' (११२), 'दूसरे दिन एक सुबह' (११६) जैसी अनेक कविताओं की कई-कई पंक्तियाँ बिम्बों के हाव-भाव से भरी हैं। उनके इन बिम्बों में कलियाँ, कोंपल, सौरभ, लाली, आम्रबौर, चन्दन, गुलाब, बेला, मेघ, घटा, बादल, पाटल, धूप, पुरवैया, झाड़, हरियाली, कोहरा, झील, खेत, लता, पत्ती, नदी, झरने—सबका रूपांकन हुआ है। और भी न जाने कितने रूप साकार हुए हैं। भाषा के चयन-नियोजन और ऋतु-रँगे, प्रहर-पगे बिम्बों के उभार के दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

* ढल रही है
  मेघ की चूनर लपेटे दोपहर। (सात गीत वर्ष, पृ० ५०)

* आजकल तमाम रात
  चाँदनी जगाती है
  मुँह पर दे-दे छींटे
  अधखुले झरोखे से
  अन्दर आ जाती है। (सात गीत वर्ष, पृ० १०२)

खुशबू के उनके बिम्ब भी बड़े सशक्त हैं। कहीं उड़-उड़ जाती हुई 'केसर की उसाँस' (ठंडा लोहा, पृ० ८) है तो कहीं 'गोरी-गोरी सोंधी धरती' (वही, पृ० ३४) ! कहीं 'उलझे, रूखे चन्दन-वासित केश' (कनुप्रिया, पृ० ३०) हैं तो कहीं 'आम के बौर की तुर्श महक' (वही, पृ० ३२) ! और फिर, ये दोनों घ्रातव्य बिम्ब क्या इसकी गवाही नहीं देते कि भारती के पारदर्शी और संवेदनशील मन में खुशबू के लिए कितनी आतुरता है, चाहे वह मानवी हो या प्राकृतिक

*　　वह भी थी आँगन की बेल
　　किन्तु
　　महक रही आज बड़ी दूर से। (सात गीत वर्ष, पृ० १०१)

*　　मैं मात्र एक सुगन्ध हूँ—
　　आधी रात महकने वाले इन रजनीगंधा के फूलों
　　की प्रगाढ़, मधुर गन्ध—
　　आकारहीन, वर्णहीन, रूपहीन। (कनुप्रिया, पृ० ३०)

भारती की काव्यभाषा को बिम्बों ने स्थिति और गति, दोनों ही का सौन्दर्य निछावर किया है—

*　　तो मैं लाज से धनुष की तरह दोहरी हो जाती हूँ
　　और अपने पाँव पूरे बल से समेट कर खींच लेती हूँ
　　अपनी दोनों बाँहों में अपने घुटने कस
　　मुँह फेर कर निश्चल बैठ जाती हूँ। (कनुप्रिया, पृ० २६)

*　　मन्त्र-पढ़े बाण-से छूट गये तुम तो कनु,
　　शेष रही मैं केवल
　　काँपती प्रत्यंचा सी ! (कनुप्रिया, पृ० ६३)

पहला बिम्ब मूलतः स्थितिपरक है और दूसरा गतिपरक। उनके यहाँ 'किंचित् मुड़ी हुई शंखग्रीवा' और 'उठी हुई चन्दन-बाँहें' जैसे वेगित मुद्रात्मक बिम्ब भी हैं। ऐसे बिम्बों के शृंगार में उनकी भाषा प्रसार और संकुचन की क्रीड़ागति से चलती है—

*　　तुम्हारा साँवरा लहराता हुआ जिस्म
　　तुम्हारी किंचित् मुड़ी हुई शंख-ग्रीवा
　　तुम्हारी उठी हुई चंदन-बाँहें
　　तुम्हारी अपने में डूबी हुई अधखुली दृष्टि। (कनुप्रिया, पृ० ७६)

ऊपर पहली पंक्ति में प्रसार है तो दूसरी में संकुचन, तीसरी में प्रसार है तो पुनः चौथी मे संकुचन !

क्षेत्र की दृष्टि से भारती के बिम्ब व्यावसायिक (चेकबुक पीली हो या लाल। दाम सिक्के हों या शोहरत—सात गीत वर्ष, पृ० ८६) और राजनीतिक (गुलाम कल्पना कभी न जीत बन बिखर सके—दूसरा सप्तक, पृ० १८२) भी हैं, पर इनका प्रकृत क्षेत्र पौराणिक, सामाजिक और प्राकृतिक ही है। व्यावसायिक और राजनीतिक बिम्ब अपेक्षया कम हैं—

पौराणिक :　　बाँसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर। (ठंडा लोहा, पृ० ३३)

सामाजिक :　　ट्रेन ने सीटी दी ...
　　दूर कहीं लोग अभी जीवित हैं —
　　चलते हैं, यात्राएँ करते हैं, मंजिल है उनकी। (सात गीत वर्ष, पृ० ६५)

प्राकृतिक :　　गाँव के सिवान पर तलैया में
　　एक जलकुम्भी फूटी और मौसम पूरे तालाब को
　　उढ़ा गया एक खुशनुमा बैंजनी चादर !

(भारती - 'तुम्हारे बावजूद', कल्पना, २०४, पृ० १०५)

चयन और प्रतीक-नियोजन

बिम्ब को देखते हुए भारती की कविता में प्रतीक के प्रयोग कम हुए हैं, फिर भी उनकी काव्यभाषा में प्रमुख तौर पर सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, प्राकृतिक एवं राजनीतिक प्रतीकों का नियोजन दीख पड़ता है। उनका 'अंधा युग' तो एक प्रतीक-सृष्टि ही है। उनके प्रतीक इस अर्थ में अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि वे नये सामाजिक अर्थों के गवाक्ष खोलते हैं और प्राचीन अर्थबोध को छिन्न कर समसामयिक संपृक्ति को स्वर देते हैं। इसके अतिरिक्त उनके यहाँ कई प्रतीकित शब्द परस्पर मिलकर काव्य की उस बड़ी इकाई की रचना भी करते हैं जिसे काव्यभाषा पर विचार करते हुए डॉ० देवराज ने 'भावचित्र' बताया है और कहा है कि 'यह भावचित्रों की भाषा ही वस्तुत: काव्यभाषा है।'[१४]

ध्यान देने योग्य है कि प्रतीक के रूप में भारती द्वारा व्यवहृत पौराणिक शब्द उनकी काव्य-भाषा की विशिष्ट पहचान भी बन गये हैं।

पौराणिक :

(क) हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग, अँधियारा है,
अश्वत्थामा है, संजय है
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है।
(ठंडा लोहा, पृष्ठ १३२)

(ख) मैं जो हूँ नृपति विराट का विश्वस्त दास
नृत्य, गीत, कविता, कलाओं का ज्ञाता
किन्तु हरदम भयाक्रांत
मेरा अज्ञातवास खुल न जाय
छिन न जाये मेरी आजीविका इसी भय से
पीछे सभी को धोखा देकर।
सामने सभी के झूठी कसमें खाता हुआ।
(सात गीत वर्ष, पृष्ठ ७७)

सांस्कृतिक :

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत —
इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर।
क्या जाने सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।
(सात गीत वर्ष, पृष्ठ ८०)

ऐतिहासिक :

सत्य है राजा हर्षवर्द्धन के हाथों से मिला हुआ
पान का सुगन्धित एक लघु बीड़ा
(चाहे वह झूठा हो)

उस पर लगा हुआ वर्कदार सोना था
हाय ! बाणभट्ट हाय !
तुमको भी, तुमको भी आखिर यही होना था । (सात गीत वर्ष, पृष्ठ ७५)

प्राकृतिक :

गुलाबी पाँखुरी पर एक हल्की सुरमई आभा
कि ज्यों करवट बदल लेती कभी बरसात की दुपहर !
इन फ़ीरोज़ी होठों पर !! (ठंडा लोहा, पृष्ठ १८)

राजनीतिक :

(क) असल में हुआ यह था
मेरे चारों भाई जूझते अकेले रहे
मैं तो किनारे खड़ा हर आने वाले से
घबराकर कहता था—इधर मत,
इधर मत, इधर मत आना जी तुम, इधर हम तटस्थ हैं ।
(सात गीत वर्ष, पृष्ठ ७८)

(ख) संजय अवध्य है
तटस्थ है ।
तटस्थ ?
मातुल मैं योद्धा नहीं हूँ
बर्बर पशु हूँ ।
यह तटस्थ शब्द
है मेरे लिए अर्थहीन । (अन्धायुग, पृष्ठ ३९-४०)

ऊपर निर्दिष्ट पौराणिक उदाहरण—'क' में 'अश्वत्थामा' और 'संजय' समसामयिक आम आदमी की पराजय और निराशा के प्रतीक हैं तो 'ख' में नृपति विराट का विश्वस्त दास : 'बृहन्नला' सामयिक बुद्धिजीवियों का प्रतीक ! उनकी कविता में यदि 'अन्धायुग' 'द्वापर' का ही अर्थ नहीं देता हुआ समसामयिकता का प्रतीकन कर उठता है तो 'कनुप्रिया' की राधा भी परम्परित राधा नहीं रहकर समसामयिक नारी के आत्मबोधपरक मूल्य को प्रतीकित कर बैठती है ।[१५] सांस्कृतिक उदाहरण में यदि 'रथ का टूटा हुआ पहिया' खण्डित एवं उपेक्षित व्यक्तित्व के महत्त्व को प्रतीकित कर रहा है तो इसी कविता में प्रयुक्त 'चक्रव्यूह' (इस दुरूह चक्रव्यूह में) जीवन-जगत् की सारी बाधक उलझनों का प्रतीक बन रहा है । ऐतिहासिक दृष्टान्त में 'हर्षवर्द्धन' सम्पत्तिशाली व्यवस्था-तंत्र को प्रतीकित करता है और 'बाणभट्ट' उस अकिंचन, लोभी एवं स्वार्थी कलाकार को, जो व्यवस्था का दास बन गया है ! प्राकृतिक प्रतीक का सुन्दर नमूना है 'गुलाबी पाँखुरी' जो होठों का प्रतीक है । भारती के यहाँ राजनीतिक प्रतीक का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है 'तटस्थ' । चाहे 'बृहन्नला' हो या 'अन्धायुग', दोनों ही स्थलों पर 'तटस्थ' व्यंग्यात्मक रूप में भारत की विदेशी नीति को प्रतीकित कर रहा है । बकौल डॉ० इन्द्रनाथ मदान : "क्या तटस्थता का बेकार और बेमानी होना भारत की विशेष नीति का संकेत देकर स्थिति को समकालीन नहीं बना डालता ।"[१६]

(२) संयोजन

भारती की काव्य-भाषा में चयन की दूसरी धुरी—संयोजन का भी सुन्दर संधान दीख पड़ता है । चयन की धुरी में जहाँ रचनाकार को एकाधिक विकल्पों में से किसी एक को चुनने की

छूट प्राप्त होती है, वहीं संयोजन की धुरी में सामने आये सारे विकल्पों को एकसाथ निबद्ध कर लेने की स्वतन्त्रता रहती है।[१७] यह संयोजन वितरण-व्यापार भी है। भारती की कविता में ऐसी अनेक पंक्तियाँ सहज ही मिल जाएँगी। यथा—

* नित्यप्रति बसी ही रहे, आँखों में, बातों में, गीतों में,
आलिंगन में घायल फूलों की माला-सी। (सात गीत वर्ष, पृष्ठ २७)

यहाँ आँख, बात, गीत और आलिंगन जैसे चार शब्दों में से किसी एक को ग्रहण करने पर भी बाह्य स्तर पर वाक्य-रचना पूरी हो जाती, किन्तु वाक्य-रचना की कम-से-कम अनिवार्य माँग तक ही अपनी अभिव्यक्ति को सीमित नहीं कर भारती ने एकाधिक अधिकरणमूलक शब्दों का सुन्दर संयोजन किया है। यह संयोजन यहाँ 'बसी ही रहे' क्रिया को व्यापकता और गूढ़ सार्थता प्रदान कर रहा है।

स्पष्ट है कि भारती की काव्यभाषा चयन के साथ संयोजन अथवा वितरण की श्रेष्ठ कला से भी सुसंस्कृत है। संयोजन अथवा वितरण अपने-आप में चयन का पूरक कर्म है। काव्य-भाषा जहाँ अपने खास सन्दर्भ में शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र को दृढ़ करती है, वहाँ कवि का वितरण-व्यापार ही प्रमुख होता है। इसीलिए जेलिग हेरिस ने 'वितरण' को 'शैली की कुंजी' कहा है। उनके अनुसार : "इसी के सहारे भाषिक प्रयोग किसी एक अभिव्यक्ति या कथ्य में समनुरूपता की ओर अभिमुख होते हैं जिससे एक ही पाठ में एकसाथ भिन्न-भिन्न शैलियों के घटित होने की सम्भावना रीत जाती है।"[१८] बर्नर्ड ब्लाख शैली के सन्दर्भ में संवहित सन्देश के लिए भाषिक विशेषताओं के बारम्बारतापरक वितरणों और अन्तर्वर्ती सम्भावनाओं के माध्यम का ज्ञापन करते हैं[१९] तो मिस जे० माइल्स बताती हैं कि भाषा की निरूपण-विधि में जैसे शैली सामग्री को चुनती और छाँटती है, वैसे ही उसे व्यवस्थित भी करती है।[२०] वितरण में कवि अपने द्वारा चुने गये शब्दों, पदबन्धों और उपवाक्यों को अपनी संवेदना के आलोक में संप्रेषण की अनिवार्यता और अपेक्षा का ध्यान रखकर वितरित-व्यवस्थित करता है जहाँ कभी-कभी परम्परित शब्द-सन्निधि और सामान्य व्याकरणिक अपेक्षा का बोध भी होता है। वितरण का महत्त्व इस दृष्टि से बहुत ज्यादा है कि वह काव्य की लय को रचता और प्रभावित करता है। दूसरे शब्दों में वह लय के बहिरंग और अन्तरंग दोनों का निर्धारक है।

इसमें कोई शक नहीं कि 'वितरण' (डिस्ट्रीब्यूशन) भारती की काव्य-भाषा को संसंजनपूर्ण (फुल ऑव कोहिजन) बनाता है। उनके यहाँ यह कवि-कर्म कई रूपों में सम्पन्न हुआ है—(१) अध्याहार, (२) आवृत्ति (नियमित और प्रभूत), (३) संरोध (एरेस्ट) और (४) मोचन (रिलीज)।

भारती ने अध्याहार या शब्द-लोप के सहारे यदि कविता की लय को बाँधा है तो त्वरित बिम्ब-बोध के लिए उसके बीच की दूरी भी कम कर दी है। इस सन्दर्भ में कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

* तुम जगी सुबह (में) या जगा तुम्हारी पलकों (के) बीच विहान !
(ठंडा लोहा, पृष्ठ २९)

* पाँवों (के) नीचे तक की धरती जिस रोज न दे हमको आश्रय।
(सात गीत वर्ष पृष्ठ ४१)

* घुट घुट कर मन (हो)-मन में बीज गया (सात गीत वर्ष पृष्ठ ५८

* मैं तो किनारे (पर) खड़ा रह आने वाले से। (सात गीत वर्ष, पृष्ठ ७८)

* पर हाय मुझे क्या मालूम था
कि इस वेला (में) जब अपने को। (कनुप्रिया, पृष्ठ १४)

* सारी शाम इस पर टिक (कर)
उन्होंने वंशी में बार-बार
तेरा नाम भर कर तुझे टेरा था। (कनुप्रिया, पृष्ठ ७०)

* मान लिया कि तू
उसकी रोम-रोम (से) परिचित है। (कनुप्रिया, पृष्ठ ७०)

कविता में ऊपर के कोष्ठगत शब्द लुप्त हैं। कवि ने विभक्ति, निपात और पूर्वकालिक क्रियासूचक का अध्याहार कर दिया है। फलतः पंक्तियाँ अर्थ की गहराई, बिम्ब की चमक और शब्द-लय की लचक से भर उठी हैं। ऐसे 'अध्याहार' काव्यभाषा का धर्म हैं, पर भारती की विशेषता यह है कि उनके यहाँ तत्सम-सामासिकता के कारण 'अध्याहार' नहीं उभरता, जहाँ अर्थ 'कूट' हो जाए, बल्कि वह बहुत आत्मीय और सहज रूप में सृष्ट होता है।

कविता की भाषा में कौशल से भरी आवृत्तिवश जहाँ एक विशेष राग बजता होता है, वहीं अर्थ की दीप्त लय भी तरंगित होती रहती है। यह आवृत्ति एक ओर वाक्य-प्रवचन के क्रम मे विभक्ति, निपात, संयोजक आदि से लेकर उसके भीतर स्वतन्त्र और आश्रित उपवाक्यों की आवृत्ति होती है तो दूसरी ओर पाठ की समग्रता में पूर्वव्यक्त वाक्यों की पुनः-पुनः आवृत्ति भी होती है। इसके तेवर को कहीं नियमित और कहीं अनियमित रूप में 'मार्क' किया जा सकता है। भारती की काव्यभाषा आत्यन्तिक रूप में इस आवृत्ति के चाप से मुक्त है।

विभक्ति की आवृत्ति :

बार-बार मुझ से मेरे मन ने
आग्रह से, विस्मय से, तन्मयता से पूछा है—
'यह कनु तेरा कौन है ? बूझ तो !'
बार-बार मुझ से मेरी सखियों ने
व्यंग्य से, कटाक्ष से, कुटिल संकेत से पूछा है
'कनु तेरा कौन है री, बोलती क्यों नहीं ?'
बार-बार मुझ से मेरे गुरु जनों ने
कठोरता से, अप्रसन्नता से, रोष से पूछा है :
'यह कान्ह आखिर तेरा है कौन ?' (कनुप्रिया, पृ० ३५)

संयोजक निपात की आवृत्ति :

और अगर यह रात मेरी प्रगाढ़ता है
और दिन मेरी हँसी
और फूल मेरे स्पर्श
और हरियाली मेरा आलिंगन।
.... (कनुप्रिया, पृ० ४८)

उपवाक्य की आवृत्ति :

सुनो मैं अक्सर अपने सारे शरीर को

पोर-पोर को अवगुंठन में ढँक कर तुम्हारे सामने गयी
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी
मैंने अक्सर अपनी हथेलियों में
अपना लाज से आरक्त मुँह छिपा लिया है
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी।
मैं अक्सर तुमसे केवल तम के प्रगाढ़ पर्दे में मिली
जहाँ हाथ-को-हाथ नहीं सूझता था
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी। (कनुप्रिया, पृ० १४)

वाक्य की आवृत्ति :

तुम्हारे माथे के मोर पंखों
से बेबस विदा माँगने लगीं —
मैं नहीं आयी
....
बिना तुम्हारे अपने-आप मुड़ गयीं —
मैं नहीं आयी
....
और कन्धों पर पतवारें रख चले गये —
मैं नहीं आयी।
....
और बैठे रहे, बैठे रहे, बैठे रहे
मैं नहीं आयी, नहीं आयी, नहीं आयी
....

× × ×

तुम्हें प्रणाम करते
नहीं आयी, नहीं आयी, नहीं आयी। (कनुप्रिया, पृ० २४-२५)

वाक्यांश की आवृत्ति :

तुम यह क्यों नहीं समझ पाते कि लाज
सिर्फ़ जिस्म की नहीं होती
मन की भी होती है।
..............................(कनुप्रिया, पृ० २२)
तुम्हारी भेंट का अर्थ जो नहीं समझ पाती
तो मेरे साँवरे लाज मन की भी होती है। (कनुप्रिया, पृ० २७)

पहले उद्धरण में 'से' विभक्ति की आवृत्ति हुई है जिससे पूरी नौ पंक्तियों में एक पद्धति बनती है। मध्य की यह आवृत्ति नियमित और संतुलित है। दूसरे उदाहरण में संयोजक निपात 'और' की आवृत्ति हुई है। यह भी नियमित है। इस कोटि की अधिक-से-अधिक आवृत्ति उनकी 'कनुप्रिया' में देखने को मिलती है। तीसरा काव्य-सन्दर्भ उपवाक्य की नियमित आवृत्ति का है। यहाँ वितरण के क्रम में 'मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी' पंक्ति दोहरायी गयी है जिससे अर्थ

की अनोखी लय सँवर उठी है। चौथे दृष्टान्त में 'मैं नहीं आयी' वाक्य का नियमित और अनियमित दोनों ही रूपों में आवर्तक वितरण किया गया है। यहाँ स्पष्टतः प्रथम आवृत्ति की अपनी एक सहज पद्धति है जिससे बाद की दो आवृत्तियों की पद्धति अलग है। इस प्रकार अलग-अलग नियमित होकर भी अपने पूरेपन में यह आवृत्ति नियमित-अनियमित हो उठी है। पाँचवाँ उदाहरण अनियमित आवृत्ति का ही है जहाँ कनुप्रिया के तेईसवें पृष्ठ पर आया एक वाक्यांश पुनः सत्ताईसवें पृष्ठ पर अपने और लघुतर रूप में आवृत्त हुआ है। इस प्रकार विभक्ति और निपात की आवृत्ति में हम जहाँ चाप और लय के साथ-साथ सन्तुलन का प्रभाव प्राप्त करते हैं, वहाँ उपवाक्य और वाक्य की आवृत्ति में हम पुनः-पुनः अर्थ के भागते अतीत की ओर लौटते हैं। यहाँ उजागर हो चुके एक पूरे कथ्य के पश्चात् पूर्व-प्रतिष्ठापित या संवेदित अभिप्राय को हम बड़े रागात्मक संस्पर्श से भरकर स्मरण करते हैं। इस क्रिया में पहले का अनुभूत और व्यक्त संवेदन अन्तिम आवृत्ति तक पहुँचते ही ऋद्ध-सिद्ध हो उठता है। निस्सन्देह आवृत्ति की यह सन्तुलना और सिद्धि भारती की संवेदित कवि-भाषा के रूप में उनकी सन्दर्भित काव्य-भाषा को शक्ति प्रदान करती है।

वाक्य-रचनागत 'वितरण' की दृष्टि से काव्यभाषा में सिंक्लेयर-निरूपित संरोध (एरेस्ट) और मोचन (रिलीज) का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[२८] पहले में वाक्य-संरचना अपनी साकांक्षता पूरी होने के पहले बीच में अन्तरायित और व्यवहित हो जाती है जबकि दूसरे में ठीक इसके प्रतिकूल सामान्य व्याकरणिक कोटि के पूर्ण हो जाने के बावजूद यह संरचना विस्तृत और दीर्घायित स्वरूप ग्रहण कर लेती है। काव्यभाषा में 'वितरण' के इन दोनों ही धर्मों का महत्त्व है। यूँ खोजने से भारती के यहाँ इन दोनों ही धर्मों के उदाहरण मिल जाएँगे, पर मूलतः भारती का कवि-कर्म अपनी प्रकृति में संरोध-प्रमुख नहीं होकर मोचन-प्रमुख ही है। दूसरे शब्दों में भारती का वितरण-व्यापार संरोधात्मक होने के बजाय मोचनात्मक है। उनकी यह भाषा-सम्बन्धी खासियत उनकी अपनी होने के साथ-साथ 'नयी कविता' की भाषा-विशेषता भी है। संरोध के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

* क्या जाने कब
इस दुरूह चक्रव्यूह में
(अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ)
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाए। (सात गीत वर्ष, पृ० ७८)

* झूठे हैं ये स्तुति वचन, ये प्रशंसा वाक्य
कृष्ण ने किया है वही
मैंने किया था जो पांडव-शिविर में
(सोया हुआ नशे में डूबा व्यक्ति
होता है एक-सा)
उसने नशे में डूबे बन्धु जनों की
की है व्यापक हत्या। (अन्धा युग, पृ० १२२)

* मैं अक्सर तुमसे तम के प्रगाढ़ पर्दे में मिली
(जहाँ हाथ-को-हाथ नहीं सूझता था)
मुझे तुमसे कितनी लाज आती थी। (कनुप्रिया, पृ० १४)

ऊपर संरोध-पक्ष को उजागर करने वाली पंक्तियों की पहचान बताने के लिए उन्हें कोष्ठ

में दिखाया गया है। यहाँ ये सारी संरोधात्मक पंक्तियाँ भाषा-व्यवस्था में व्याकरणिक दृष्टि से वाक्य की साकांक्षता को अन्तरायित कर रही हैं, किन्तु इन पंक्तियों ने काव्यभाषा को विस्तारक बिम्बधर्मिता और उसके दो भिन्न कथ्यों को तुलनात्मक सान्निधि प्रदान की है। पहले उद्धरण मे 'अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ' कृदन्त विशेषणमूलक संरोधात्मक उपवाक्य है, दूसरे उद्धरण में 'सोया हुआ नशे में डूबा व्यक्ति, होता है एक-सा' स्वतन्त्र उपवाक्य है और तीसरे उद्धरण मे 'जहाँ हाथ को हाथ नही सूझता था' विशेषणमूलक आश्रित उपवाक्य है। स्पष्ट है कि वाक्य के संरोधात्मक वितरण से भारती ने अपनी काव्यभाषा को सौन्दर्य और शक्ति-सम्पन्न बनाया है।

'मोचन' के सन्दर्भ में भारती की इन पंक्तियों को लिया जा सकता है—

* यह बादल का ताना-बाना
बेहद डूबा-डूबा सा जी
(जैसे कोहरे में डूबी हो
रंगीन गुलाबों की घाटी।) (सात गीत वर्ष, पृ० ८३)

* और मेरा मन
कभी उस फूल के अन्दर कभी बाहर
भटकता है—
(उस भ्रमर-सा
फूल ने जिसको न रक्खा क़ैद
लेकिन मुक्त भी छोड़ा नहीं।) (सात गीत वर्ष, पृ० ८८)

* कौन था, कनु, वह
तुम्हारी बाँहों में
जो सूरज था, जादू था, दिव्य था, मन्त्र था! (कनुप्रिया, पृ० ६२)

* अब सिर्फ मैं हूँ, यह तन है—
और संशय है
बुझी हुई राख में छिपी चिनगारी-सा
रीते हुए पात्र की आखोरी बूँद-सा
पाकर खो देने की व्यथा-भरी गूँज-सा। (कनुप्रिया, पृ० ६३)

ऊपर 'यह ढलता दिन' ('सात गीत वर्ष' में संकलित) की पंक्तियों मे 'बेहद डूबा-डूबा-सा जी' तक 'अँधेरे के पुल' (सात गीत वर्ष) की पंक्तियों में 'भटकता है' तक और 'कनुप्रिया' की पंक्तियों में क्रमश: 'तुम्हारी बाँहों में' तथा 'और संशय' तक आते-आते सामान्य तौर पर वाक्य की सारी व्याकरणिक आकांक्षा पूरी हो गयी है, फिर भी भारती ने 'मोचन' का सहारा लेकर उन वाक्यों को दीर्घायित किया है। इस विस्तार से काव्यभाषा में उपलक्षित बिम्ब-विधान के सहारे लक्षित बिम्ब को स्पष्टता एवं तीव्रता मिली है तथा बारीकियों को उजागर करने वाली विशेषण-मयता आयी है। इस प्रकार 'मोचन' का कौशल 'वितरण' की दृष्टि से काव्यभाषा की समर्थ बुनावट में सहायक हुआ है।

(३) विचलन

काव्यभाषा में साभिप्राय विचलन का बहुत प्रमुख 'रोल' होता है। सामान्य तौर पर कवि अपनी भाषा के चयन, वितरण, व्यवस्थापन और सम्प्रेषण के सिलसिले में गद्य भाषा और प्रचलित

व्याकरणिक पद्धतियों के मानक से विचलन करता है। वह प्रत्याशित लीक को छोड़कर सहसा असम्बद्ध लगने वाले उतार-चढ़ाव का सहारा लेता है जहाँ शुद्धि और प्रचलन के परे उसका विशिष्ट भाषा-व्यवहार एक 'प्रयोग' बन जाता है। साधारण दृष्टि में दूषण लगने वाला 'यह प्रयोग अपने पाठ, सन्दर्भ और उसकी आकांक्षा में बहुत-बहुत साभिप्राय होता है।' इस प्रकार 'विचलन' वह माध्यम है जिसकी संघटना के सहारे कवि रूढ़ और व्याकरणसिद्ध मानकों को तोड़ता है और काव्यभाषा में गुणात्मक स्तर पर गहरे उतरने के लिए रूपात्मक स्तर पर भाषा का नया आयाम उद्घाटित करता है। यहाँ इसके कई स्तर बनते हैं : अत्यन्त सामान्य से असाधारण स्तर तक। भारती की भाषा में विचलन के ये दोनों ही छोर मिलते हैं। उनकी कविता में शब्द लय की मसृणता के लिए सतही वर्तनीगत विचलन के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। 'एक' के लिए 'इक' (ठंडा लोहा, पृ० १२), 'समर्पण' के लिए 'समर्पन' (वही १९) और 'अरुण' के लिए 'अरुन' (वही, पृ० २७) के प्रयोग ऐसे ही हैं। इससे भी आगे उनके यहाँ वर्तनीगत विचलन कहीं-कहीं ध्वनि और अर्थ के अन्तःसम्बन्ध के आधार पर हुआ है। भारती ने 'नागिन ने ही काटा' की जगह 'काटने' के परुष दंश का अवबोध करते हुए 'नागिन' के स्त्रीत्व में भी काटने के पुरुषत्ववश 'नागन ने ही काटा' का व्यवहार किया है। यहाँ इस रूप में 'इ'कार से बहुत उचित और युक्तियुक्त विचलन किया गया है। (ठंडा लोहा, पृ० १३)। क्रम-सम्बन्धी विचलन प्रायः काव्यभाषा की अपनी पहचान होती है। भारती के यहाँ और कवियों की तरह ही इसके ढेरों उदाहरण भरे पड़े हैं, पर इनमें एक भी उदाहरण बेमानी नहीं है। ऐसी संघटना जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ क्रम-भंग के सहारे वाक्यांश-विशेष को अवधान का मुख्य केन्द्र बनाया गया है। 'अन्धा युग' में बलराम कृष्ण को कहते हैं : 'जानता हूँ मैं तुमको शैशव से। रहे हो सदा से मर्यादाहीन, कूट-बुद्धि'। (पृ० ६३)। यहाँ एक ओर हमारा ध्यान सर्वप्रथम क्रियारूपों—'जानता हूँ' और 'रहे हो' पर जाकर टिक जाता है तो दूसरी ओर 'कूटबुद्धि' पर आकर स्थिर हो जाता है, क्योंकि यह अन्तिम शब्द है, कूटस्थ और बिम्बोद्भावक।

विचलन अपने सर्वाधिक सर्जनात्मक रूप में वहाँ प्रशंस्य बन जाता है जहाँ वह बाह्य संरचनात्मक स्तर पर अपूर्ण प्रतीत होता है। भारती की एक पूरी कविता ही काव्यभाषा के इस गुण के बतौर मीमांसित की जा सकती है :

आँगन

बरसों के बाद उसी सूने-से आँगन में
जाकर चुपचाप खड़े होना
रिसती-सी यादों से पिरा-पिरा उठना
मन का कोना-कोना
कोने से फिर उन्हीं सिसकियों का उठना
फिर आकर बाँहों में खो जाना
अकस्मात् मंडप के गीतों की लहरी
फिर गहरा सन्नाटा हो जाना
दो गाढ़ी मेंहदी वाले हाथों का जुड़ना,
कंपना, बेबस हो गिर जाना
रिसती-सी यादों से पिरा पिरा उठना

मन का कोना-कोना
बरसों के बाद उसी सूने-से आँगन में
जाकर चुपचाप खड़े होना। (सात गीत वर्ष, पृ० ५८)

इस कविता में कहीं भी समापिका क्रिया का व्यवहार नहीं हुआ है। वहाँ क्रिया-पदबन्ध संज्ञा-पदबन्ध में रूपान्तरित हो गया है। दूसरे शब्दों में कवि ने सामान्य व्याकरणिक पद्धति से विचलन करते हुए सभी वाक्यों में केवल क्रिया-साधित नाम के प्रयोग किये हैं—'खड़े होना', 'पिरा-पिरा उठना', 'खो जाना', 'सन्नाटा हो जाना', 'हाथों का जुड़ना' और 'गिर जाना'—फलतः पूरी कविता एक अनोखी रोशनी में बिम्बात्मक हो उठी है। यहाँ समापिका क्रिया के लोप से कवि को परस्पर व्यापार-बिम्बों की क्रमबद्ध सन्निकटता का बोध भी अभीष्ट है। कविता का आरम्भ होते ही 'बरसों के बाद उसी सूने से आँगन में जाकर चुपचार खड़े होना' के समानाधिकरण रूप मे चित्रित सारे व्यापार अपनी तीव्र प्रभविष्णुता के साथ उजागर हो उठते हैं। फिर तो थिर और गतिशील, मुखर और मौन, संयुक्त और वियुक्त जैसे एकाधिक खण्ड-बिम्ब मिलकर एक पूर्ण बिम्ब-एकक की रचना कर देते हैं। इस कविता में एक और स्तर पर भी संरचनात्मक दृष्टि से वाक्य को अधूरा छोड़ा गया है। जहाँ सामान्य वाक्य-गठन की पद्धति से विचलन हुआ है—'अकस्मात् मंडप के गीतों की लहरी। फिर गहरा सन्नाटा हो जाना।' स्पष्ट है कि कविता की सातवीं पंक्ति मे 'लहरी' के बाद वाक्य अपनी साकांक्षता पूरी नहीं कर पाता है। वह खंडित होता है। यहाँ सामान्यतः 'लहरी का उठना' जैसी वाक्य-रचना काम्य थी। पर इसके अभाव में खण्डित-रूप मे 'लहरी का प्रयोग उसे एक उद्भासक' (फोकट)[२२] में परिवर्तित कर देता है जिससे 'लहरी' के बाद का 'गैप' 'अकस्मात्' की आकस्मिकता को सार्थकता प्रदान करता है। इससे भी आगे वाक्य का अचानक टूटना 'लहरी' के टूटने की आकस्मिकता को गहन अर्थ दे जाता है। दूसरे, यहाँ 'लहरी' के 'उठने' के ऊपर 'गहरा सन्नाटा' का वजनी बोध भी है जिससे 'लहरी' के बाद की गोपनीयता या अन्तराली स्थिति सार्थक सिद्ध होती है। तीसरे, इस कविता का केन्द्रीय भाव भी लहरी के टूटने और गहरे सन्नाटे का भाव है। यहाँ अर्थ बाह्य परिवेश से अन्तर परिवेश की ओर मुड़ जाता है। इस प्रकार भारती की कविता के अन्य उदाहरणों में भी 'विचलन' के सहारे सर्जनात्मक भाषा की सिद्धि और सम्प्रेषण की साभिप्रायता को अवरेखित किया जा सकता है। रूपात्मक गठन से गुणात्मक ऋद्धि तक की इस भाषा-यात्रा पर निस्सन्देह भारती को अधिकार प्राप्त है।

(४) विपथन

विचलन (डिविएशन) की तरह विपथन (डिफ्लेक्शन) भी श्रेष्ठ सर्जनात्मकता का एक माध्यम है। इसकी प्रकृति विधेयात्मक होती है जिससे इसमें प्रायः प्रत्याशित आवर्तक पद्धतियो से मुक्तता या छूट जाहिर होती है।[२३] इसमें कवि अपनी ही कविता में बन रहे भाषागत 'नार्म' या 'मैनरिज्म' को तोडकर उससे इतर भाषिक विस्थापना या विपथन के जरिये उपलब्धि प्राप्त करता है। भारती की 'फागुन के सूखे दिन की एक अनुभूति' में 'जैसे शीश से चटखे दरार' पंक्ति भाषिक विपथन का उत्तर उदाहरण है—"फागुन के सूखे दिन कस्बे के स्टेशन की धूल-भरी राह बड़ी सूनी-सी/ट्रेन गुजर जाने के बाद/पके खेतों पर खामोशी पहले से और हुई दूनी-सी/आँधी के पत्तों-से। अनगिन तोते-जैसे टूट गिरे/लाइन पर, मेड़ों पर, पुलिया के आसपास/(सब-कुछ निस्तब्ध शान्त मूर्च्छित सा अकस्मात्) चौकन्नी मोहरिया उछली और तेजी से तार

फाँद लाइन कर गयी क्रास/जैसे शीशे में चटखे दरार।" यही वह पंक्ति है जो फागुनी परिवेश के बीच कविता के केन्द्र भाव 'अनुभूति' का प्रत्यक्ष सम्भव करा पाती है। अनुभूति की प्रकृति और उसके आकस्मिक त्वरागम को भी यही पंक्ति ध्वनित करती है। इस प्रकार यह भाषागत विपथन सिर्फ लय तक और उच्चार-प्रसार तक सीमित न रहकर गहरे उतर जाता है। कविता में बाह्य लय से भीतरी लय तक करवट ले लेती है: "जैसे शीशे में चटखे दरार! सहसा यह मुझको एहसास हुआ/यह सब है और किसी का/यह पगडंडी, यह गाँव-खेत, सुग्गों के हरे पंख/गति, जीवन/सबका सब और किसी का/मेरा है केवल निर्वासन, निर्वासन, निर्वासन···।" (सात गीत वर्ष, पृष्ठ २८) भाषिक विपथन के और उदाहरण भी भारती के यहाँ मिलेंगे। इस प्रकार अनुभूत संवेदना के अभिव्यंजन-क्रम में उनके यहाँ भाषा-कौशल के कई आयामों का उपयोग स्पष्ट होता है।

इतने रंगों, इतनी खुशबुओं, इतनी लहरों और इतनी नयी-नयी अदाओं से भरी एवं बहुविध कौशलों से पुरी भारती की आर-पार दर्श्य भाषा-प्रकृति को उन्हीं की कुछ पंक्तियाँ बहुत अच्छी तरह स्पष्ट कर देती हैं: "जल-सी निर्मल/मणि-सी उज्ज्वल/नवल, स्नात/हिम-धवल ऋजु/तरल/मेरी वाणी।" (सात गीत वर्ष, पृष्ठ ४७)। सचमुच कला के बहुतेरे ढबों और उसकी बारीक बुनावटों से भरी जाली के बीच भी उनकी भाषा अन्यतम रूप से पारदर्शी हो उठी है। इसीलिए उनके यहाँ यदि कहीं मौन के गह्वर में प्रवेश है तो उसका रास्ता बिल्कुल साफ और सीधा है, यदि कहीं बिन्दुओं (डाट्स) और कोष्ठकों (ब्रैकेट्स) का अभिनिवेश है तो वहाँ भी तीव्रता या धीमापन सर्वथा अप्रच्छन्न है, यदि कहीं कथ्य व्यंजित या साभिप्राय है तो वह भी निगूढ़ नहीं होकर गम्य है। उनकी वाणी में जल-सी निर्मलता और मणि-सी उज्ज्वलता है। संवेदना और अभिव्यंजना को ईमानदार तौर पर पूरी सजीवता से एकमेक कर देने वाली! उनकी काव्य-भाषा में स्थापत्य से लेकर कोण-सन्धान और मण्डप-वितान तक में नवीनता है जो उनकी शक्ति बन गयी है। यह भाषा उनके कवि-संस्कार मे शिरा-शिरा स्नात है, पगी हुई है। पाठक के चित्त पर इसका हिमधवल, शीतल और मुग्धकर प्रभाव है और इसका सम्प्रेषण भी जटिल नहीं होकर ऋजु है जो हर कहीं गद्यवत् ठोस नहीं होकर तरल है, तरल कविता है। इसी कारण चाहे वह गेय हो या पाठ-प्रवाही, चाहे स्वालापी हो या वार्तालापी, उसमें काव्य के 'कान्तासम्मित' संवादी सुरों की स्थिति है। संवेदना के मुताबिक इसमें कहीं आवेग है तो कहीं प्रवाह, कहीं थिरता है तो कहीं तरलता और ज्यादातर रोमान की सनसनी।

भारती की काव्यभाषा व्यापकता और गहराई—दोनों ही तत्वों से उपेत है। यह वह अकेला दर्पण है जिसमे एकसाथ—(१) हिन्दी भाषा की अपनी शक्ति, (२) हिन्दी काव्य की कवि-प्रसिद्धियों और विशेष 'पोयटिक रजिस्टर' वाली जीवन्त एवं प्रवहमान भाषा-परम्परा, (३) आधुनिक हिन्दी काव्य-भाषा के विकास-बिन्दु (४) छायावादोत्तर नयी कविता के परिवर्तित भाषिक भावरिंगण (मूड्स) और (५) सर्वथा वैयक्तिक स्तर पर निजी काव्यभाषा के उपलब्धिमूलक सम्प्रयोग—सबके-के-सब प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। भाषिक दृष्टि से फलक की यह विशालता उनके अन्य समकालीन हस्ताक्षरों के यहाँ नहीं है। उनकी काव्यभाषा की बिल्कुल अपनी विकास-यात्रा है जहाँ सरस्वती प्रौढ़ा नहीं होकर चिरयौवना रही है। कवि-भाषा और काव्य-भाषा दोनों के संयोग से अपनी काव्यभाषिक प्रकृति स्पष्ट करने वाली भारती की भाषा ने केवल दृष्टि के लिए कहीं भी कवित्व की उपेक्षा नहीं की है। आधुनिक हिन्दी काव्य में भाषा को साभिप्राय दृष्टि से तीन भिन्न प्रकारों के कवि मिलते हैं। एक प्रकार के कवि अपनी भाषा सर्जना मे विद्रोह के प्रवर्तक हैं, दूसरे प्रकार के कवि अपनी भाषा-सर्जना में आभिजात्य के क हैं

और तीसरे प्रकार के कवि अपनी भाषा-रचना में संवेदना-सहजता के समर्थक हैं। तीनों ही प्रकार के कवि अपने-अपने विशिष्ट क्षेत्र का बोध कराते हैं। तीनों ही की हिन्दी में अलग-अलग परम्परा चल रही है। व्यवहार-जगत् की तरह भाषा-संसार में भी विद्रोही जहाँ तोड़ता है, वहाँ अभिजात जोड़ता है। इन दोनों ही के लिए भाषा का रचाव इनके चेतन मस्तिष्क से जुड़ा हुआ है। पर संवेदना-सहज कवि अपनी अभिव्यक्ति में अधिक निश्छल और ईमानदार होता है, उसकी भाषाई दुनिया उसके उपचेतन मानस की रचना होती है। विद्रोही कवि और अभिजात कवि को अपनी अधिकाधिक भाषा-जागरूकता के कारण अभिव्यक्ति के बीच-बीच में कृत्रिम हो उठने का खतरा भी बना रहता है, पर संवेदना-सहज कवि की भाषा सर्वत्र अकृत्रिम और अनवगुंठित होती है। आधुनिक हिन्दी-काव्य-भाषा में यदि 'निराला' विद्रोही कवि के शिरमौर हैं और मुक्तिबोध एवं शमशेर उनकी परम्परा में आते है, 'अज्ञेय' अभिजात कवियों का नेतृत्व करते हैं, तो धर्मवीर भारती संवेदना-सहज कवियों की परम्परा के समर्थ और शक्त प्रतिनिधि सिद्ध होते हैं। संवेदना उनके काव्य में चन्दन-वास की तरह रसी-बसी है और उनकी काव्यभाषा इसके आत्यन्तिक प्रभावक तरल-शीतल है : बकौल भारती 'चन्दन शीतल मेरी वाणी'।

संदर्भ-संकेत

१. गिउलिओ सी० लेप्शी : अ सर्वे ऑव स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स (फ़ेबर ऐण्ड फेबर, लण्डन, १९७०), पृ० ५६। २. द्रष्टव्य—दामोदर ठाकुर : 'द नेचर ऐंड स्कोप ऑव स्टाइलिस्टिक्स', लीथो प्रति, प्रथम अखिल भारतीय शैली वैज्ञानिक संगोष्ठी (२४ दिसम्बर, १९७२), केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा-दिल्ली। ३. वही। ४. द्रष्टव्य—सी० एफ० हॉकेट : अ कोर्स इन माडर्न लिंग्विस्टिक्स (मैकमिलन, न्यूयार्क, १९५८)। ५. 'लिटरेरी स्टाइल : अ सिम्पोजियम' (सं० एस० चैटमैन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९७१), पृ० १७।

६. विशेषणं तु द्विविधमान्तरं बाह्यमेव च।
तत्राव्यवहितं सद्यदर्थकारि तदान्तरम् ॥१।८०॥
स्फटिक यस्यैव लाक्षादि, द्वितीयमुभयात्मकम्।
आयसस्येव तत्कान्तं, तदपि द्विविधं मतम् ॥१।८१॥ —महिमभट्टः व्यक्तिविवेक।

७. डॉ० ब्रजमोहन : महिमभट्ट, पृष्ठ १५४। ८. जे० एम० सिक्लेयर : 'टॅकिंग अ पोयम टु पीसेज़' निबन्ध, रोगर फाउलर द्वारा सम्पादित 'एसेज इन स्टाइल ऐंड लेंगुएज' (रूटलेज ऐंड कीगेन पाल) द्रष्टव्य। ९. एलेन टेट : 'टेंसन इन पोयट्री' निबन्ध, 'ऑन द लिमिट्स ऑव पोयट्री : सेलेक्टेड एसेज' : १९२८-१९४८ (डेनवेर : एलेन स्वैलो, १९४८), पृष्ठ ८३। १०. डोनाल्ड डेवी : आर्टिकुलेट एनर्जी (रूटलेज ऐंड कीगन पाल, लण्डन), पृष्ठ १४५। ११. रेने वेलेक और आस्टिन वारेन : थियरी ऑव लिटरेचर (पेंगुइन बुक्स लि०, हारमांड्सवर्थ, द्वितीय संस्करण, पुनर्मुद्रण, १९६८), पृष्ठ १८६। १२. धर्मवीर भारती : 'आदिम प्रार्थना का समर्पण' (२५ सितम्बर, १९६५) पश्यन्ती, प्रारम्भ-अंक (अप्रेल-जून १९७४), पृष्ठ ९८। १३. धर्मवीर भारती : 'आदिम प्रार्थना का समर्पण' (२५ सितम्बर १९६५), पश्यन्ती प्रारम्भ अंक (अप्रेल-जून, १९७४), पृष्ठ ९७-९८। १४. डॉ० देवराज : 'प्रतिक्रियाएँ' (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली), पृ० १७२। १५. डॉ० कुमार विमल : 'कनुप्रिया : पुरानी कथा, नया कथ्य', ज्ञानोदय, मार्च, १९६८, पृ० १२७। १६. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : 'आधुनिकता और हिन्दी नाटक' : स्वतन्त्रता रजत जयन्ती अभिनन्दन ग्रन्थ, हिन्दी के २५ वर्ष : सं० गो व्यास दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन,

कनाट प्लेस, नयी दिल्ली, १५ जुलाई, १९७३), पृ० ४९९। १७. प्रो० एच० सी० त्रिवेदी : 'ऐन एप्रोच टु स्टाइलिस्टिक एनालिसिस ऑव पोयट्री—१६ अक्टूबर, १९७३ को केन्द्रीय हिन्दी संस्थान में आयोजित चतुर्थ अखिल भारतीय भाषाविद् अधिवेशन में पठित।' १८. 'स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स' (शिकागो, १९६०), पृष्ठ १०-११। १९. 'लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर ऐंड लिंग्विस्टिक एनालिसिस' लेख, ए० ए० हिल सम्पादित 'रिपोर्ट आन द फोर्थ एनुअल राउंड टेबुल मीटिंग आन लिंग्विस्टिक्स ऐंड लैंगुएज टीचिंग' (वाशिंगटन, डी० सी०, १९५३), पृ० ४०। २०. जे० माइल्स : 'स्टाइल ऐंड स्टाइल' लेख : लिटरेरी स्टाइल : अ सिंपोजियम : (सं० एस० चैटमैन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लण्डन, १९७१), पृ० २५। २१. द्रष्टव्य—रोगर फाउलर द्वारा सम्पादित : 'एसेज इन स्टाइल ऐंड लैंगुएज' (रूटलेज ऐंड कीगेन पाल)। २२. द्रष्टव्य—सिक्लेयर के सोपान, बी० काचरू और हरबर्ट एफ० डब्ल्यू० स्टालक : करेन्ट ट्रेंड्स इन स्टायलिस्टिक्स। २३. एस० चैटमैन : लिटरेरी स्टाइल : अ सिंपोजियम, 'एडिटर्स इन्ट्रोडक्शन' (ऑक्सफोर्ड यू० प्रेस, ७१) पृ० १३।



—मकान ४८५६
गुरु अर्जुनदेव नगर, चाह सिहंगा,
डाकखाना : खालसा 'कॉलिज'
अमृतसर

नाट्य-काव्य : परम्परा और प्रासंगिकता

डॉ० (श्रीमती) इन्दु वशिष्ठ

व्यक्ति की अनुभूति और वस्तुगत यथार्थ की प्रेरणा, विभिन्न काव्य-रूपों की सृष्टि का कारण है। काव्य-रूप की जितनी भी सृजनात्मक संभावनाएँ हैं, उनका मूल स्रोत बाह्य जगत् है। बाह्य जगत् के प्रति सतत् संवेदनशील मानव-मन है। मानव-मन की संवेदनशील प्रतिक्रिया ऋग्वेद में नाटकीय कविता के रूप में हुई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में उर्वशी और पुरुरवा एवं यम-यमी के प्रेम-प्रसंगों को लेकर लिखे गये सूक्त में मार्मिक तथा गत्यात्मक कार्य-व्यापार से युक्त आख्यान भावप्रवण संवादात्मक शैली में पिरोया गया है। इसमें नाटकीय कविता का यह उत्कृष्ट प्रमाण उपलब्ध है।[1]

वेदों से इतर संस्कृत के अन्तर्गत कालिदास द्वारा रचित रघुवंश का दूसरा सर्ग एवं छठा सर्ग अपने मार्मिक संवादों के कारण नाटकीय कविता को सजीवता प्रदान करता है। 'रघुवंश' से प्रेरित होकर कवि गिरिजाकुमार माथुर ने इन्दुमती नामक नाटकीय कविता की रचना की है। 'धूप के धान' में इसे देखा जा सकता है। 'कुमारसम्भव' ने 'नैषधचरित' में नाटकीय क्रिया-व्यापार के अनुकूल संवादात्मक शैली को आधार बनाया गया है। संस्कृत महाकाव्यों व नाटकों में नाटकीय प्रसंग एवं कविता के सामंजस्य ने नाटक और कविता के घनिष्ठ सम्बन्धों को उजागर किया है।

भक्तिकाल एवं रीतिकाल —कविता के माध्यम से मुखर हुआ है। मानस में 'लक्ष्मण-परशुराम संवाद' तथा 'अंगद-रावण संवाद', नाटकीय कविता-शैली का प्रश्रय लिए हुए हैं। केशव की रामचन्द्रिका में इस प्रकार के असंख्य प्रसंग हैं। ऐसे प्रसंगों में संवाद-शैली का प्रयोग किया गया है। सत्रहवीं शती के केशव के 'विज्ञानगीत', कृष्णजीवन के 'करुणाभरण', यशवन्त सिंह के 'प्रबन्ध चन्द्रोदय', अट्ठारहवीं शती के नेवाज कवि के 'शकुन्तला', आलम के 'माधवानल कामकन्दला' और उन्नीसवीं शती के महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन', मंजु के 'हनुमान नाटक', मनसाराम के 'रघुनाथ रूपक', कृष्णशर्मा साधु के 'रामलीला बिहार नाटक', हरिराम के 'जानकी-रामचरित नाटक', ब्रजवासीदास के 'प्रबन्ध चन्द्रोदय नाटक' जैसे नाटकों की परम्परा मिलती है।[3] उपर्युक्त कृतियाँ नाटकीय शैली में लिखित काव्य-ग्रन्थ होने पर भी नाटक के उत्कर्ष और कवित्व से रहित हैं। डॉ० दशरथ ओझा के अनुसार, "ये तो नाममात्र के नाटक हैं, ये या तो अधिकांश अनुवादित हैं या रामायण और महाभारत की कथाओं पर आधारित पद्यात्मक कृतियाँ हैं।"[4]

आधुनिक युग में जिन नाट्य-काव्यों का सृजन हुआ है, उनका कथ्य और शिल्प आधुनिक युग की संवेदनाओं और जटिलताओं से युक्त होने पर भी अभिनय-सम्बन्धी शिल्प और सुविधाओं के विकास के कारण अधिक प्रभावशाली, हृदयग्राही व स्वाभाविक हैं। नाट्य-काव्यों की प्रासंगिकता और उनके प्रस्तुतीकरण ने भावपूर्ण, संगीतमयी कवित्व-प्रधान विधा को अपनाकर उसे कलात्मक रूप और संवेदना से युक्त किया है। पिछले दो दशकों के नाट्य-काव्यों की शिल्पविधि पर रेडियो-

रूपकों के शिल्प का भी प्रभाव है जिससे उनमें दृश्य व्यापार को श्रव्य माध्यम से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति की प्रचुरता है।''[५]

आधुनिक शैली का सर्वप्रथम प्रस्तुतीकरण जयशंकर प्रसाद के ''करुणालय'' में हुआ है। स्वयं प्रसाद ने इसके मुखपृष्ठ पर इस काव्य को गीति-नाट्य नाम दिया है। कवि ने इसको अधिकाधिक अभिनेय बनाने की चेष्टा की है। प्रसाद के शब्दों में ''यह दृश्य काव्य गीति-नाट्य के ढग पर लिखा गया है'''यद्यपि हिन्दी में इस ढंग की कविता का प्रचार नही है, तथापि अन्य भाषाओं में (जैसे संस्कृत में कुलक, अंग्रेजी में ब्लैंक वर्स, बंगला में अमिताक्षर छंद आदि) इसका उपयुक्त प्रचार है। हिन्दी में भी इस कविता का प्रचार कैसा लाभदायक होगा, इसी विचार के लिए आज यह काव्य पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है।''[६] ऐतरेय ब्राह्मण में लिखित शुनःशेफ की कथा पर 'करुणालय' की कथावस्तु आधारित है। बलिकर्म के लिए यज्ञ-यूप से बंधे असहाय शुनःशेफ की करुण अभिव्यक्ति है जो परमात्मा के सम्मुख मार्मिक किन्तु प्रभावोत्पादक ढंग से अभिव्यक्त हुई है।

मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' एवं सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' क्रमशः आदर्शात्मक, उत्पाद्य और प्रतीकात्मक नाट्य-काव्य हैं। इनमें तीन प्रकार के संवादों का सम्मिश्रण है जो पौराणिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक हैं। सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' नाट्य-काव्य-संवाद शैली में अपने सुन्दर, भव्य प्रवाह को लिये है। संक्षिप्त मार्मिक संवाद, अभिनेय दृष्टि से प्रभावशाली है। कहीं-कहीं सुदीर्घ संवादों की योजना अतिनाटकीयता का कारण बनी है जो सौन्दर्य को आघात पहुँचाने वाली है।

'तारा' भगवतीचरण वर्मा द्वारा लिखित नाट्य-काव्य 'पुण्य-पाप' की समस्या को नये ढग से प्रस्तुत करता है। यह फ्रायड की विचारधारा से प्रभावित है। नायिका तारा स्वच्छन्द कामवृत्ति एवं पातिव्रत्य के मध्य जिस मानसिक द्वंद्व से साक्षात्कार करती है, वहाँ पति बृहस्पति के उपदेश निरर्थक सिद्ध होते हैं। तारा चन्द्रमा की ओर आकर्षित होती है। स्वयं को समर्पित कर देती है। अन्त में चन्द्रमा व तारा दोनों ही इदम् (इड) और नैतिक चेतना (सुपर ईगो) के मध्य भीषण द्वंद्व में पिसते हैं, किन्तु एक-दूसरे के प्रति समर्पित हो जाते हैं। अन्तर्द्वन्द्व की तीव्रता प्रस्तुत नाट्य-काव्य में नाटकीयता और कवित्व दोनों के सौन्दर्य को उभारती है। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्थितियों के उतार-चढ़ाव के सजीव चित्रण के कारण यह नाट्य-काव्य सफल है।

नाट्य-काव्य में उदयशंकर भट्ट का अपना विशेष महत्त्व एवं स्थान है। विश्वामित्र और दो भावनाट्य मत्स्यगंधा, राधा, एकला चलो रे, संत तुलसीदास, कालिदास, विक्रमोर्वशी तथा अश्वत्थामा आदि नाट्य-काव्य पौराणिक कथावस्तु पर आधारित हैं जिनका मूल्यांकन वर्तमान त्रासदी व सामाजिक मूल्यों की नैतिक व्याख्या के अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से किया गया है। नहुष निपात तथा मत्स्यगंधा कामांधता का प्रतीक है।[७] जिसको आज के जीवन में मनोविज्ञान का शास्त्रीय आधार मिल गया है। काम-कुण्ठा के कारण पाप-पुण्य का अन्तर्द्वन्द्व, सामाजिक संकीर्णताओं से आवेष्टित पात्रों का चेतन मन उनके हर कुकृत्य का औचित्य व अनौचित्य सिद्ध करता है। किन्तु उनके सामने छाया रूप में अवस्थित उनका मुक्त अवचेतन मन एक-एक करके उन सब पापों का अनावरण करता चलता है।[८] ''अन्तर्मन्थन हुआ निरन्तर, सब कुछ बदल रहा था भीतर।''[९] अन्तर्मन्थन की व्यथा कथा को मार्मिकता के साथ, किन्तु प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। युगीन जीवन पर आरोपित वर्जनाओं का तिरस्कार व सहज स्वाभाविक रूप से जीने की ललक नाट्य-काव्यों की

मूल ध्वनि है। नाट्य-काव्यों की रचना में भट्ट जी को अत्यधिक सफलता मिली है। "भट्ट जी मूलतः कवि हैं, उनका नाटककार उनके कवि का ही अभिन्न अंग है। भट्ट जी ने केवल नाटक की रचना ही नहीं की है, वरन् उन्होंने अभिनेता के रूप में विभिन्न नाटकों में भाग भी लिया है।"[१०]

छायावाद के आधार-स्तम्भ कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने नाट्य-काव्यों की रचना रेडियो के लिए की है। इनके नाट्य-काव्य शिल्पी, रजत-शिखर-सौवर्ण आदि हैं। 'शिल्पी' के अन्तर्गत कवि शिल्पी की अन्तर्द्वन्द्वों से युक्त मानसिकता को उकेरता है। युग-जीवन के सत्य को वह कलाकृति के माध्यम से सजीव करना चाहता है। इस प्रयास में कवि सफल नहीं हो पाया है क्योंकि सभी पात्र आदर्श के फ्रेम में इस तरह गढ़े जाते हैं कि उनका व्यक्तित्व गौण हो जाता है। 'रजत-शिखर' काव्यरूपक है। इसमें भी कवि का चिन्तक रूप अस्वाभाविक और विशुद्ध सैद्धान्तिक है। भाषा धुँधली और काल्पनिक बिम्बों की प्रचुरता लिये है। 'सौवर्ण' काव्यरूपक में पन्त जी ने संक्रमण-कालीन मानव-मूल्यों के विकास को प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यंजित किया है। आदर्श और यथार्थ का संघर्ष इसमें है। भाषा आरोपित तथा कृत्रिम है, इसलिए अस्पष्ट भी। यदि काव्य-रूपक का रेडियो-रूपक की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाये तो भी इसकी काल्पनिक बिम्बात्मक भाषा को सामान्य श्रोताओं के लिए आत्मसात् कर पाना बहुत कठिन है। इसलिए इन्हें सफल नहीं कहा जा सकता।

छायावादी युग के कुछ अन्तराल के पश्चात् दो दशकों में अनेक नाट्य-काव्य लिखे गये। दिनकर जी का 'उर्वशी' नयी कविता के युग सन् १९६१ में प्रकाशित हुआ, किन्तु इसकी मूल चेतना रोमांटिक (छायावादी) है। उर्वशी कामाध्यात्म की यात्रा से गुंफित है। नर-नारी के प्रेम-सम्बन्ध के भोग से लेकर अध्यात्म पक्ष तक का मनोरम चित्रण है। सारी रचना पाँच अंकों में विभाजित है। कवि रंगमंच को अभिनेयता को दृष्टि में रखकर आगे बढ़ा है, इसलिए स्थान-स्थान पर उसने निर्देश भी दिये हैं। तृतीय अंक को छोड़कर अन्य चारों अंकों में कवित्व के साथ नाटकीयता सन्तुलित भाव लिए चलती है, किन्तु तृतीय अंक में भावों की तीव्रता निर्बन्ध हो गयी है। "अनुभूति के सशक्त प्रकाशन, भावपूर्ण नवीन बिम्ब-योजना, प्रवाहमयी समर्थ भाषा आदि की दृष्टि से उर्वशी एक प्रभावपूर्ण कृति है। यद्यपि उसकी बिम्बात्मक सजीव भाषा नाटकीयता और कवित्व दोनों के उत्कर्ष में सहायक है, तथापि उसके सफल अभिनय के लिए अपेक्षित काट-छाँट द्वारा उसे नाटकोपयोगी गठन प्रदान करना होगा।"[११]

सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश सिद्धनाथकुमार द्वारा रचित नाट्य-काव्य हैं। इनमें क्रमशः युद्ध की विभीषिका व उसके परिणाम, औद्योगिकता के कारण उत्पन्न विषमताएँ, कल्पना से जुड़े, वस्तुजगत से कटे कलाकार का आत्म-पीड़न तथा व्यक्तिवादी विचारधारा से उत्पन्न जीवन और व्यक्ति के मूल्यों का विघटन सशक्त अभिव्यक्ति पा सका है। पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। शिल्प की दृष्टि से ये सभी नाट्य-काव्य कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं।

नयी कविता के युग में संत्रास, कुण्ठा, विषमता, विसंगति और मूल्यहीनता के चिन्तनीय पक्ष को लेकर चलने वाले नाट्य-काव्य में धर्मवीर भारती कृत 'अंधायुग' विशेष उल्लेखनीय है। 'कनुप्रिया' एक दूसरे भावपक्ष को लेकर चलने वाला नाट्य-काव्य है। भारती जी के अनुसार गान्धारी, युयुत्सु और अश्वत्थामा के माध्यम से एक समस्या पर दृष्टिपात किया जा सकता है 'कनुप्रिया' उससे सर्वथा पृथक् बिलकुल दूसरे बिन्दु से चलकर उसी समस्या तक पहुँचती है, उसी

प्रक्रिया को दूसरे भाव-स्तर से देखती है और अपने अनजाने में ही प्रश्न के ऐसे सन्दर्भ उद्घाटित करती है जो पूरक सिद्ध होते हैं।[१२] डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त ने इसमें कवित्व तथा नाट्य-गुणों के सुन्दर समन्वय के कारण इसे काव्य-रूपक एवं काव्य-नाटक का नाम दिया है।[१३] भारती जी ने परिवेशगत प्रासंगिकता को मनोविज्ञान की जमीन पर उतारा है। इसके पीछे उनकी निजी मानसिकता का संसार रहा है। "द्वितीय महायुद्ध में परिणामस्वरूप राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त संशय, ग्लानि, मर्यादाहीनता, बर्बरता और सामाजिक मूल्यों के विघटन की समस्या की ओर कवि आकृष्ट हुआ है। इस बोध की पुष्टि कवि को विष्णु पुराण में दिये गये कलियुग के वर्णन में मिली है।[१४] यही नहीं, पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शन के क्षणवाद और वरण की स्वतन्त्रता-परतंत्रता के आधार पर अस्तित्व की सार्थकता-निरर्थकता की धारणाओं से भी कवि के कथ्य को बल मिला है।[१५] कवि ने कथ्य में प्राचीन और अर्वाचीन का सामंजस्य किया है। भारती जी के शब्दों में "अतीत, वर्तमान और भविष्य एक-दूसरे में प्रसुप्त है और इस प्रकार समस्त इतिहास एक प्रकार से समकालीन इतिहास है। काव्य मानवीय सत्य और ऐतिहासिक परिवेश को उसे विशेष बिन्दु पर पकड़ने का प्रयास करता है।"[१६] 'अन्धायुग' का कथानक पाण्डव एवं कौरवों के मध्य हुए महाभारत के अन्तिम यानी अट्ठारहवे दिन से प्रारम्भ होता है। युद्ध की विभीषिका और सर्वनाश की गाथा हर ओर बिखरी हुई है। प्रतिशोध, प्रतिहिंसा और आत्मग्लानि का नग्न नृत्य चारों ओर है। इन सबके मध्य उभरती करुण तस्वीर जाने कितने प्रश्न-चिन्ह लगा जाती है। इन सभी का प्रस्तुतीकरण 'अंधा युग' में हुआ है।

'पृथ्वी कल्प' इसी कड़ी में लिखा गया गिरिजाकुमार माथुर का नाट्य-काव्य है। हैदराबाद से प्रकाशित 'कल्पना' पत्रिका ने इसके प्रतिनिधित्व करने वाले अंश छापे थे। इसका कथानक वैचारिक धरा से जुड़ा हुआ है, अत्यधिक सूक्ष्म है। इसमें धरती से लेकर अन्तरिक्ष ग्रहों, उपग्रहों की यात्रा है। कवि ने एक वैज्ञानिक मनोगाथा के रूप में 'पृथ्वीकल्प' की रचना की है। कथानक अनुभूति-प्रेरक सन्दर्भों से कटा होने के कारण प्रभावशाली व स्वाभाविक नहीं लगता है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित 'सूखा-सरोवर' नाट्य-काव्य है। कवि ने लोकगाथा से प्रेरित होकर इसका सृजन किया है, इसीलिए अपने इस काव्य को उन्होंने 'लोकधर्मी गाथा-नाट्य' कहा है। राजा को सामान्य व्यक्ति की संज्ञा देने के कारण सरोवर सूख जाता है। कवि ने इस मूल चेतना को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया। इसमें कई कथाएँ आकस्मिक ढंग से आकर जुड़ जाती हैं जिसके कारण कथानक घटना वैचित्र्य और रहस्यात्मकता से बोझिल हो गया है। वस्तुतः कवि जिस सामाजिक विघटन की समस्या को कथ्य के रूप में प्रस्तुत करता है, वह अनुरूप कथानक, पात्रों और संवादों की सृष्टि नहीं कर सका है। कथ्य एवं शिल्प, दोनों ही दृष्टियों से यह सफल नाट्य-काव्य नहीं है।

'संशय की एक रात' के रचयिता श्री नरेश मेहता हैं। इस नाट्य-काव्य का कथानक राम-कथा के उस अंश से है जहाँ राम, रावण के साथ युद्ध करने की तैयारी कर चुके हैं। समुद्र पर सेतु बँध चुका है और वे लंका की ओर प्रस्थान करने वाले है। इसकी समस्या युद्ध-सम्बन्धी है और उससे जुड़े प्रश्नो से है। नरेश मेहता ने अपनी इस कृति को खण्डकाव्य तथा डॉ० रामदरश मिश्र ने इसे प्रबन्ध-काव्य की संज्ञा दी है। नाटकीय शैली के कारण यह नाट्य-काव्य के अधिक निकट है।

दुष्यन्तकुमार ने भी पौराणिक कथ्य पर आधारित 'एक कंठ विषपायी' की रचना की है। इसका कथानक 'दक्ष-यज्ञ विध्वंस के प्रसंग पर आधारित है ऋग्वेद में इस प्रसंग का प्राथमिक

संकेत मिलता है। पुनः इस कथा का विस्तार महाभारत एवं पुराणों में हुआ है। दक्ष प्रजापति का जन्म स्वयंभुव मनवंतर ब्रह्मा जी के दक्षिण अँगूठे से हुआ था और ब्रह्मा जी के बायें अँगूठे से उनकी पत्नी उत्पन्न हुई थी।[१७] दक्ष की उत्पत्ति व जीवन से सम्बन्धित अन्य बहुत-सी कथाओं का ताना-बाना इसमें बुना हुआ है। दुष्यंतकुमार के 'एक कंठ विषपायी' की कथावस्तु भागवतपुराण और देवी भागवतपुराण से ली है, किन्तु अन्य स्रोत-ग्रन्थों का भी सहयोग लिया गया है। इस नाट्य-काव्य के अन्तर्गत इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु के युद्ध-सम्बन्धी विचार-विमर्श द्वारा आधुनिक-प्रजातांत्रिक संसदीय पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। जनता के प्रतिनिधियों को भाग लेने व इस क्षेत्र में सक्रिय रहने का आग्रह किया गया है। कथानक एक नवीन दृष्टि और दिशा की ओर इंगित करता है। महत्त्वपूर्ण समस्याओं की उलझन और उसके विकास का भी किंचित् प्रयत्न है। नाट्य-शिल्प की दृष्टि से यह नाट्य-काव्य की सार्थकता घोषित करता है और अपनी सशक्तता का प्रमाण भी देता है।

अज्ञेय द्वारा रचित 'उत्तर प्रियदर्शी' गीति-नाट्य है। इसका कथानक प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के पूर्वजन्म से जुड़ा है। गौतम बुद्ध का आशीर्वाद पूर्वजन्म के बालक को मिलता है, वही बाद में अशोक सम्राट् बनता है। ऐतिहासिक होने पर भी इसमें पौराणिक तत्त्व अधिक हैं। यह प्रतीकात्मक नाट्य-काव्य है। इसमें, आज के जीवन में धुंधलाये मानव-मूल्यों की पुनः तलाश का प्रश्न है। नये सन्दर्भों को इन मूल्यों से जोड़ पाना सहज नहीं, कवि का प्रयत्न फिर भी सराहनीय है। अति आदर्शात्मकता अविश्वसनीय एवं बोझिल प्रतीत होती है।

'अग्निलीक' भारतभूषण अग्रवाल की अधूरी कृति है। इसका प्रकाशन १९७६ में कवि की मृत्यु के उपरान्त हुआ। कवि अपनी इस रचना को समर्थ काव्य-नाटक बनाने के लिए उत्सुक थे। 'अग्निलीक' के मुखपृष्ठ पर 'एक दृश्यकाव्य' नाम लिखा गया है। नेमिचन्द्र जैन ने 'अग्निलीक' नाटक की नाटकीय तथा काव्यात्मक संभावनाओं के संयुक्त स्वरूप को रेखांकित किया है।[१८] यह एक पौराणिक नाट्य-काव्य है जिसका आधार सीता-निर्वासन है। तुलसी रामायण में यद्यपि यह प्रसंग नहीं है, किन्तु वाल्मीकि रामायण तथा भवभूति के उत्तररामचरित मे इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। 'अग्निलीक' नारी-जीवन की मर्मान्तिक पीड़ा का इतिहास है।

परम्परागत लीक से हट कर सीता, राम की भर्त्सना करती है। उन्हें निर्मम, निष्ठुर, महत्त्वाकांक्षी, ढोंगी, विजय-लिप्सा, साम्राज्यवादी दूषित प्रवृत्तियों की मूर्ति घोषित करती है। रघुवंश में पनपते भ्रष्टाचार एवं रूढ़िगत परम्पराओं को वह नारी-पतन के लिए उत्तरदायी ठहराती है। इन सम्पूर्ण बन्धनों की उपेक्षा कर वह स्वयं को स्वतन्त्र एवं मुक्त घोषित करती है। वे धरती फटने की प्रतीक्षा नहीं करतीं, अपितु पुत्रों एवं आचार्य वाल्मीकि के रोकने पर खड्ड में कूदकर प्राणान्त कर लेती हैं। राम इस सम्पूर्ण व्यथा-कथा का अन्त देखते हैं। वे अपनी खोखली मर्यादा के पीछे छिपी जीवन-दर्शन-सम्बन्धी दृष्टि को पहचानते हैं। उनके भीतर नये बोध और नयी चेतना का जन्म होता है। सीता के अभाव को उनके स्मारक में तलाशते राम प्रायश्चित करते हैं। राम की मार्मिक वेदना द्रष्टव्य है—

> वे ही मेरे कृत्यों के दायी हैं
> जिन्होंने मेरी दृष्टि को यश-धूम के क्षितिज में जड़ा है
> और मेरे श्रवणों को श्लोकों से रूंधा है[१]

इन पंक्तियों में आदर्शों का जर्जर रूप व उनकी आज के युग में मूल्यहीनता की ध्वनि सुनाई पड़ती है। रूढ़ि और परम्पराओं से जुड़ कर आज का युग नहीं जी सकता। यदि जी भी गया तो कुण्ठा और त्रासदी की फाँसी के बीच छटपटायेगा। दिशा बदलने का प्रयास तथा प्रगति और अपेक्षाओं को देखते हुए परिवर्तन आवश्यक है।

छायावादी युग तक मर्यादा, आदर्श और प्रेम—ये अपनी सांस्कृतिक जमीन पर खड़े विभिन्न रूपों में प्रकट होते रहे, किन्तु उसके पश्चात् मार्क्स, फ्रायड, डार्विन, सार्त्र आदि के दार्शनिक चिन्तन ने भारतीय मनीषियों और साहित्यकारों को नये आयाम दिये। "नयी कविता की संवेदना के मूल में स्थित जिस आधुनिकता और आधुनिक युगबोध का उल्लेख किया जाता रहा है, उसकी प्रेरणा, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, विकासवाद, अस्तित्ववाद, सापेक्षवाद आदि विदेशी दर्शनों तथा विज्ञान-जनित औद्योगीकरण से उत्पन्न भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की जटिल परिणतियों और समस्याओं से प्रकीर्ण भारतीय परिवेश से मिली है। वस्तुतः अपने सहज रूप में प्रत्येक युग की आधुनिकता अतीत की जीवन्त परम्पराओं से अनुप्रेरित, वर्तमान से प्रतिबद्ध और भविष्य के प्रति सजग जीवन-दृष्टि का परिणाम होती है।"[१०]

उपर्युक्त सभी नाट्य-काव्यों में पौराणिक कथाओं के अन्तर्गत बिखरी विषमताओं और विसंगतियों को आधुनिक युग के फ्रेम में जड़ा गया है। प्रतीकात्मक अर्थों में उनकी व्याख्या की गयी है। विघटित जीवन-मूल्यों एवं मानव-मूल्यों को घटना-क्रम में इस तरह गूँथा गया है कि दो युगों का अन्तराल कहीं विलुप्त हो गया है। आधुनिक युग के नाट्य-काव्य अपने युग की समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं। युद्ध को मानव-नियति का सबसे बड़ा अभिशाप घोषित करते हैं। 'अन्धा युग', सर्वाधिक सशक्त नाट्य-काव्य है। अन्याय, अधर्म, मर्यादाहीन आचरण और अंधी ममता युद्ध का कारण है। युद्ध की विघटनकारी परिणतियों का दंश पक्ष-विपक्ष, दोनों को झेलना पड़ता है। संशय की एक रात, सूखा सरोवर, उर्वशी, पृथ्वीकल्प, उत्तर प्रियदर्शी, एक कंठ विषपायी व अग्निलीक में मुख्यतः वर्तमान ज्वलन्त व गम्भीर समस्याओं को रूपायित किया गया है। प्रत्येक रचनाकार विभिन्न कोणों से समस्याओं को उद्घाटित करता है। बुद्धिजीवी उनका समाधान तलाशते हैं, किसी न किसी निष्कर्ष पर पहुँचते भी हैं। व्यवस्था, विवशता, महत्त्वाकांक्षा की धुरी पर नाचते पहिये, अर्थहीन जमीन पर आकर रुकते हैं और वहीं से समस्या के सुलझाव की खिड़कियाँ खुलती हैं। रचनाकार की रचनाधर्मिता मानव-अस्मिता के प्रश्न का उत्तर पाठक, श्रोता व दर्शक में तलाशती है और उसे विवश कर देती है कि वह कुछ विचार करे, सोचे। यहीं आकर रचनाकार अपनी रचना की सार्थकता व उसकी सामाजिक उपादेयता को स्वीकार कर सकता है।

संदर्भ-संकेत

१. ऋग्वेद, (१०, ९५)। २. वही, (१०, १०)। ३. हिन्दी साहित्य कोश, डॉ० दशरथ ओझा—नाटक, प्रधान सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ३८१-८२। ४. वही, पृ० ३५२-३५३। ५. नयी कविता के नाट्य-काव्य—डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ० ८८-८९। ६. जयशंकर प्रसाद—करुणालय, पृ० ८। ७. उदयशंकर भट्ट, नहुष निपात, भूमिका। ८. नयी कविता के नाट्य-काव्य डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ० १०४ ५ ९ सन्त तुलसीदास, उदयशंकर भट्ट पृ० १८। १० उद्धृत—नयी

कविता के नाट्य-काव्य, पृ० १०६। ११. नयी कविता के नाट्य-काव्य—डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ० १०८। १२. कनुप्रिया—धर्मवीर भारती—भूमिका। १३. हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन—सं० डॉ० यश गुलाटी—ले० डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, अंधायुग—पृ० ६५४-५५। १४. विष्णुपुराण—चतुर्थ अंश, अ० २४ श्लोक ७०-८४। १५. नयी कविता के नाट्य-काव्य—हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ० ११५। १६. नयी कविता अंक २, १९५३—सं० जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० ४८-४९। १७. श्री हरिवंश पुराण, द० पर्व अ० १ श्लोक ५२। १८. नयी कविता के नाट्य-काव्य—डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ० ३४५। १९. अग्निलीक—भारतभूषण, पृ० ३६। २०. नयी कविता के नाट्य-काव्य—डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ० ३६७-६८।

२—१—२७०।११,
नल्लाकुंटा,
हैदराबाद—५०००४४

नए प्रकाशन

'जायसी'

लेखक—विजयदेवनारायण साही
प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
मूल्य—१५/- रु०

जायसी को 'सूफी' और 'पद्मावत' को सूफी मत का ग्रन्थ मान लेने से एक अत्यन्त दु:समाधेय समस्या पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की सम्यक् अन्विति से सम्बद्ध उठ खड़ी होती है, इसीलिए आचार्य शुक्ल तक पूर्वार्द्ध की कथा को महत्त्वपूर्ण और मुख्य मानते हैं तथा उत्तरार्द्ध की कथा को 'मेराबा' के नाम पर खपाकर संतोष कर लेते हैं। साहीजी को यह सब खटकता है—अतः उन्होंने जायसी को निराधार जनश्रुति पर आधारित सूफी प्रभामण्डल से पृथक् कर दिया और अंतःसाक्ष्य के आधार पर केवल कवि माना है और माना है कि अपने युग का कंठ जायसी युगसत्य को—हिन्दू-तुर्क-संघर्ष को—मुखर करता है। इसमें उनके 'विषाद का विजन' मूर्त हुआ है। पद्मावत एक ट्रेजेडी है जिसमें मानव-देह को क्षार और पृथिवी को झूठी बताया गया है। फलतः जहाँ प्रेम के साथ युद्ध भी हो, उसे केवल सूफी प्रेमाख्यान कहना सर्वथा असंगत है।

साहीजी की स्थापना और उधेड़ बुन में वज़न है, पर एक बात मन में आती है और वह यह कि जायसी कहता है—

"परगट लोक चार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासों राता।।"

स्पष्ट रूप से लोकाचार की बात कहो, पर आंतरिक संकेत गोपनीय ढंग से उसी का हो जिस पर मन लगा हो। साहीजी के इस कथन से मैं सहमत हूँ कि जायसी का मार्ग हठयोग का नहीं है, वस्तुतः वे रागमार्गी है। साहीजी का यह भी कहना सही है कि वे किसी वैकुंठी प्रेम के उपासक नहीं हैं, अपितु उस प्रेम के उपासक हैं जिससे मनुष्य ही वैकुन्ठ बन जाय। रचनाकार जायसी का निष्कर्ष साहीजी के अनुसार फिर यह कैसे हो सकता है—

"छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्हि उड़ाइ पिरथिमवी झूठी।।"

रचनाकार अपने 'कहे' से 'अनकहे' मे ज्यादा उभरता है। यदि भौतिक पिंड और पृथिवी झूठी है तो 'सत्य' की अवधारणा की अपेक्षा में ही। यह 'सत्य' बचा है, वह 'अनकहा' है और

समूचे प्रबन्ध में व्यंग्य है। व्यंग्य है कि इस भौतिक पिण्ड तथा पृथिवी के चक्कर से ऊपर उठने वाला ही 'राग' के माध्यम से 'सत्य' को पा सकता है। इस निष्कर्ष तक पहुँचने में जायसी का कवित्व और तसव्वुफ, दोनों ही सहायक हैं। फिर साहीजी के शब्दों में, जायसी भौतिकों में आध्यात्मिक भी हैं, यह बात भिन्न है कि वे आध्यात्मिकों में भौतिक भी हैं। एक बात और भी है। जिस प्रकार किसी कृति की कथावस्तु की अखण्डता अथवा एकान्विति अनिवार्य है और इसके प्रतिकूल पड़ने वाली दृष्टि निवार्य, उसी प्रकार कृतिकार की समस्त कृतियों के साक्ष्य पर उभरने वाला उसका अविभाज्य रूप भी अनिवार्य है और विरोधी कल्पना निवार्य। इस अखण्डता और सखण्डता की अनिवार्यता और निवार्यता के सन्दर्भ में 'अखरावट' तथा 'आखिरी कलाम' के आलोक में जायसी का व्यक्तित्व सूफी माना जाय और 'सोवड़ पंथ मुहम्मद केरा' की ऊर्ध्वबाहु घोषणा करने वाले 'पद्मावत' के सन्दर्भ मे गैर-सूफी — यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। तीसरे, साम्प्रदायिकता सदा कवित्व के प्रतिकूल ही नही जाती। सच्चा कवि साम्प्रदायिकता को पचा लेता है— अर्थात् व्यक्तिगत साधना के लिए वह उसे अनिवार्य मानकर गोप्य रखता है और प्रकट में लोकमंगल या समाजमंगल से जुड़ता है। सर्वोच्च उपलब्धि के मार्ग के प्रति, जो साधक की रुचि और संस्कार के अनुकूल पड़ता हो—आग्रह होना ही चाहिए, दुराग्रह नहीं। बुरा दुराग्रह होता है, आग्रह नहीं। आग्रह में 'सत्' की भी सम्भावना रहती है, बशर्ते कि वह उच्चतम जीवन-मूल्य तक ले जाने वाला हो। मध्यकाल के विशिष्ट व्यक्तित्व को आज की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। चौथे, यह कि क्या जायसी को सूफी मानकर 'पद्मावत' की कथा की संगति लगाई ही नही जा सकती? यदि 'प्रकट' रूप में पद्मावत को ट्रेजेडी ही माना जाय, तो 'गुपुत' की सम्भावना ही निःशेष हो जाती है। मेरी तो धारणा यह है कि जिस प्रकार कौसुम्भी राग चढ़ाने के लिए पहले द्रव्य-विशेष का प्रयोग करना पड़ता है, वैसे ही पारमार्थिक राग को तेज करने के लिए संसार की ओर से उसे हटाना हो पड़ता है और वैसा करने के लिए यही आवश्यक है कि संसार को 'विरसावसायी' दिखाया जाय। मैं तो 'ट्रेजेडी' शब्द की अपेक्षा आनन्दवर्द्धन की यही शब्दावली ज्यादा उपयुक्त समझता हूँ। महाभारत के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने यही शब्दावली प्रयुक्त की है। साथ ही यह भी कहा है कि 'भगवान् वासुदेवोऽयकीर्त्यते हि सनातन:'। उन्होंने ऋषिकल्प कवियो की पद्धति यही बताई है कि 'रहस्य' को सदा संकेतित ही रहने देना चाहिए— क्योंकि रचनाकार 'अनकहे' से ज्यादा कहता है और वही उसका प्रतिपाद्य होता है। यह अवश्य है कि सामग्री से उसका अभिप्रेत रूप में संकेत हो, यह नहीं कि वह थोपा हुआ लगे। ऐसी स्थिति में यदि जायसी सूफी भी हों, तो कोई दुःसंगति नही है।

आचार्य शुक्ल जायसी को सूफी मानते हैं, इसीलिए सूफी मत की मसनवी शैली में लिखे गए प्रेमाख्यान-काव्य की परम्परा में ही 'पद्मावत' को स्वीकार करते हैं। साहीजी की यह आपत्ति जँचती है। हमारे यहाँ 'दृष्टि-सृष्टिवाद' भी एक पक्ष है जिसका मतलब यह है कि जैसी दृष्टि होती है, वैसी सृष्टि होती जाती है। साहीजी की गैर-सूफी दृष्टि अपने अनुरूप सृष्टि करती जाती है और उधेड़-बुन में डाल देती है। मेरा कहना यह है कि 'सत्य' 'झूठ' की पीठिका पर ज्यादा उजागर होता है। पूर्वार्द्ध की कथा सत्य को उजागर करती है— प्रेमाख्यान के माध्यम से, जबकि उत्तरार्द्ध की इतिहास-कथा 'भौतिकता' को विनश्वर सिद्ध करती है। इस दृष्टि से देखने पर दोनों की अन्विति भी हो जाती है और पूर्वार्द्ध की कथा के प्रतिपाद्य का रंग ज्यादा चटक हो जाता है। मध्यकाल की यह प्रतिनिधि दृष्टि भी रही है संसार को विरसावसायी और विनश्वर सिद्ध करने की यद्यपि सूफी दर्शन की प्रतिनिधि उक्ति सृष्टि को मूलकर्त्ता का रूपान्तरण मानती

है और शुहूदिया वाले भावाभावमय मानते हैं—भाव को अभावगत प्रतिबिम्ब मानते हैं। इस प्रकार चाहे वे प्रतिबिम्ब मानें या मूल का रूपान्तरण, उभयथा जगत् अनिन्द्य ही माना जाता है। जायसी की दृष्टि सूफी मत से कहाँ मेल खायेगी— यदि जगत् विनश्वर या विरसावसायी माना गया—हाँ, इन्सानुल कामिल जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति की तुलना में वह अवश्य अधूरी है। अस्तु, जो भी हो, उत्तरार्द्ध में संसार की निःसारता तो दिखाई ही गई है। इस आपत्ति के निरासार्थ भी मेरा कहना यह है कि संसार ग्राह्य भी है और अग्राह्य भी। भेदवादी दृष्टि से विषय रूप में देखने पर आसक्ति का हेतु होने से अग्राह्य और विनश्वर, जबकि अभेदवादी दृष्टि से देखने पर ग्राह्य और अमृत भी। दृष्टिभेद से रचनाकारों में जगत् के प्रति ऐसे विरोधाभासी उद्गार मिलते ही रहते हैं। जग-सम्बन्धी तुलसी की उक्तियों में भी यह विरोधाभास मिलता है।

इस प्रकार जायसी को सूफी और 'पद्मावत' को सूफी काव्य कहने में कोई अड़चन या असंगति मुझे नहीं दिखाई देती। 'नामूला प्रसिद्धिः' के अनुसार जनश्रुति भी सर्वथा निराधार नहीं होती।



डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
हिन्दी विभाग,
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन

डॉ० जगदीश गुप्त, सचिव एवं कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित
एवं बीना प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज- इलाहाबाद द्वारा मुद्रित।

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

भाग ४४ — अप्रैल-जून

अङ्क २ — सन् १९८३ ई०

प्रधान सम्पादक

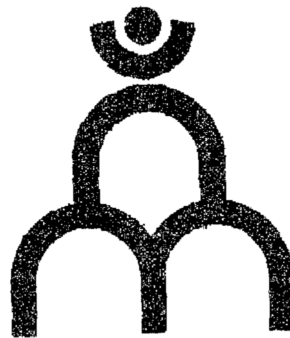
डॉ० रामकुमार वर्मा

सम्पादक

डॉ० जगदीश गुप्त

सहायक सम्पादक

डॉ० रामजी पाण्डेय



मूल्य : ५ रुपये]

[वार्षिक : २० रुपये

अनुक्रमणिका

भारतीय संस्कृति में ललित कला का महत्त्व

□

डा० जयदेव सिंह

किसी भी देश अथवा जाति की संस्कृति उसकी शताब्दियों की अर्जित आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, कलात्मक, दार्शनिक इत्यादि की परम्परागत उपलब्धियों का भण्डार है। संस्कृति प्रत्येक जाति या देश का वादी स्वर है। मनुष्य शैशवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक अपने देश की संस्कृति से ही शिक्षित, पोषित और प्रभावित होता है। संस्कृति ज्ञान, भाव और कर्म का सामञ्जस्य है।

संस्कृति एक व्यक्ति की देन नहीं होती। उसके निर्माण में देश के महापुरुषों का योगदान होता है। संस्कृति विलास के लिए नहीं होती, उसका मुख्य परिदान है जीवन का विकास। संस्कृति ही एक ऐसी उपलब्धि है जो भूत, भवत् और भविष्य को एक सूत्र में ग्रथित करती है। संस्कृति मानव की चाभी है। संस्कृति के कुछ तत्त्व सार्वभौमिक हैं, किन्तु प्रत्येक देश की संस्कृति में कुछ तत्त्वों का प्राधान्य होता है।

भारतीय संस्कृति में वैदिक, तांत्रिक, श्रमण और मुसलमानों का अंशदान रहा है। भारतीय संस्कृति का मुख्य स्वर आध्यात्मिक है। इस संस्कृति मे ललित कलाओं का क्या स्थान है, क्या महत्त्व है —इसी पर हमें विचार करना है। हम इन दृष्टियों से इस पर विचार करेंगे —

(१) कला का तात्पर्य

(२) कलात्मक मनोभाव (Aesthetic attitude)

(३) प्रत्येक ललित कला की विशेषता

(४) ललित कलाओं मे भारतीय संस्कृति की विशेषता।

प्रत्येक कला मानव के सौन्दर्यबोध की अभिव्यक्ति है। सौन्दर्यबोध पर पाश्चात्य देशों मे बहुत ही विचार हुआ है और वहाँ एक नये दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ है जिसे Aesthetics कहते हैं। भारत में सौन्दर्यबोध पर व्यापक विचार नहीं हुआ है। यहाँ मुख्य विचार काव्य और नाटक के परिप्रेक्ष्य में हुआ है, किन्तु वह अनुपम है।

कला का तात्पर्य

पहले हम कला के तात्पर्य को समझने की चेष्टा करेंगे।

कला के विषय में एक मत यह है कि कला महत्त्वपूर्ण रूप (significant form) है। इसके मुख्य प्रतिपादक क्लाइव बेल (Clive Bell) हैं। महत्त्वपूर्ण रूप का सर्जन एक विशेष अवलोकन-शक्ति (vision), एक विशेष दृष्टि का कार्य है। हम सभी एक भूदृश्य को देखते हैं, किन्तु हम लोग प्राय: उसे पहाड़ो गाय इत्यादि पशु, खलिहान, वृक्ष इत्यादि के मिले-जुले समूह के रूप मे ही तो देखेंगे। परन्तु एक चित्रकार उस भूदृश्य को रेखाओं और वर्णों (रंगों) के समन्वित रूप मे ही देखेगा। उसके लिए यह दृश्य एक महत्त्वपूर्ण रूप है जिसको वह रेखाओं और वर्णों के पारस्परिक सम्पर्क के द्वारा अभिव्यक्त करता है यह वस्तु स्थिति को एक महत्त्वपूर्ण आकृति के रूप में देखता और य उसको कला है इस मतावलम्बियों का यह कहना है कि किसी भी वस्तु को देखने को

दो विधाएँ हैं—व्यावहारिक (practical) और कलात्मक (aesthetic), और कलात्मक दृष्टि व्यावहारिक दृष्टि से अधिक सत्य है।

कला के सभी दार्शनिक इस तथ्य से सहमत हैं कि कलात्मक सर्जन एक तात्विक उपक्रम है, सत्ता की चरम विशेषताओं की अभिव्यक्ति है। कला के रूपवादी मत में साहित्य का समावेश कठिन है। इसलिए इस मत के समर्थक साहित्य को शुद्ध कला मानते ही नहीं। साहित्य की विषय-वस्तु सूचनात्मक और अनुबोधात्मक है, उसमे मानव के प्रत्ययों की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य संगीत और चित्र दोनों से भिन्न है और उसका स्पष्टीकरण केवल शुद्ध रूप से नहीं हो सकता। साहित्य में बहुत-सी सामग्री ऐसी होती है जो केवल रूपात्मक सौंदर्य नहीं होती, जो सर्वथा वर्णनात्मक, सूचनात्मक और अनुबोधात्मक होती है। साहित्य तो घटनाओं और अवधारणाओं से सम्बद्ध है। यह मुख्यतः बौद्धिक है। इसलिए हम उसे शुद्ध कला नहीं कह सकते।

डकेस का कहना है कि वही वास्तविक कला है जो हमारे भावों को अभिव्यक्त करती हो। विरों का मत है कि भाव और रूप का समन्वय ही वास्तविक कला है। रीड कहते हैं कि केवल भाव नही, विषयवस्तु की अभिव्यक्ति का भी सुन्दर संघटन कला है। केवल रूप के सन्निवेश को हम कला नहीं कह सकते। रूप का अर्थ है एक विन्यास और विषय का अर्थ है वह भाव अथवा विचार जो एक विन्यास-विशेष में अभिव्यक्त किया जाय। जब इन दोनों का एक सुन्दर संघटन हो सके, तभी कला का प्रादुर्भाव होता है।

अत: एम० मारिस वाइत्स का यह निष्कर्ष है कि कला विषय और शैली का वह सुसंघटित समवाय है जो कि ऐन्द्रिय माध्यम के द्वारा उन तत्त्वों से व्यक्त होता है जिनमें अभिव्यंजना-शक्ति होती है और जो पारस्परिक सम्बन्धों से जुड़े हुए होते हैं।

इस परिभाषा में तीन मुख्य तथ्य हैं—(१) प्रत्येक कला विषय और शैली का सुसंघटित समवाय है। इस कथन का यह तात्पर्य है कि यह वह समवाय है जिसका मानसिक विश्लेषण तो हो सकता है, किन्तु जिनके तत्त्वों का वास्तविक विच्छेद नही हो सकता। (२) दूसरा तथ्य यह है कि कला का माध्यम ऐन्द्रिय होता है। कला या तो दृश्य होती है, या श्रव्य, या दोनों। ललित कलाओं में से चित्र दृश्य है; काव्य और संगीत श्रव्य हैं; नाटक दृश्य और श्रव्य दोनों है। (३) तीसरा तथ्य यह है कि इसके तत्त्व वे होते हैं जिनमे अभिव्यंजना-शक्ति होती है और जो परस्पर संवादी गुणों से संश्लिष्ट होते हैं।

यह परिभाषा अपने में बहुत अच्छी है, किन्तु फ्रांसीसी अस्तित्ववादी मार्सेल ने कला की एक और विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि कला एक दिव्य उपस्थिति का सर्जनात्मक आह्वान है—"Art is the creative invocation of a presence" कोई भी तथ्य जब कला का रूप धारण करता है, तब उसमें एक दिव्य भाव की उपस्थिति हो जाती है। यदि इस भाव को भी हम उपर्युक्त परिभाषा मे जोड़ दें तो उसका सर्वाङ्गीण रूप हमारे सामने आ जायगा। अब हमारी परिभाषा कुछ इस प्रकार की हो सकती है—"कला विषय और शैली का वह सुसंघटित समवाय है जो कि ऐन्द्रिय माध्यम के द्वारा उन तत्त्वों से व्यक्त होता है जिनमे अभिव्यंजना-शक्ति होती है, जो पारस्परिक सम्बन्धों से संश्लिष्ट होते है और जो एक दिव्य उपस्थिति का सर्जनात्मक आह्वान है।"

यहीं पर हम फ्रायड के कला-सम्बन्धी मत पर भी विचार कर लें।

फ्रायड का कहना है कि कला रतिलिप्सा की कल्पनात्मक तृप्ति है। फ्रायड के अनुसार रतिलिप्सा ही मानव की मूल प्रवृत्ति है। समाज के नियमों, बन्धनों के कारण इस रतिलिप्सा की तृप्ति नहीं हो पाती। अतः वह लिप्सा मन के अचेतन स्तर में बलपूर्वक दबा दी जाती है। फ्रायड का मत है कि कला इसी रतिलिप्सा की कल्पनात्मक तृप्ति है।

फ्रायड ने कला के मुख्य ध्येय को समझा ही नहीं है। कलाकृति रतिलिप्सा की अभिव्यक्ति नहीं है। वह जीवन की भाव-क्षेत्र में सम्यक् दृष्टि है। कला की अनुभूति रतिलिप्सा की कल्पनात्मक तृप्ति नहीं है। वह तो व्यक्तिगत भावों का अतिक्रमण है, व्यक्तिगत भावों का साधारणीकरण है, दूसरों के भावों से तन्मयता है।

कलात्मक मनोभाव या अभिवृत्ति (Aesthetic attitude)

कलात्मक अभिवृत्ति वह है जिसमे केवल आनन्द की अनुभूति होती है, जिसमें कोई व्यावहारिक लाभ या स्वार्थ नही होता, जो जीवन के व्यावहारिक पक्ष से हमें पृथक् कर देती है। इसी को बुलो (Bullough) ने Psychological process of distancing, अर्थात् दूरीकरण की मानसिक प्रक्रिया कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि कला अपने मनोरंजक गुणों के द्वारा विषय को हमारे व्यावहारिक लाभों और स्वार्थों से दूर कर देती है, पृथक् कर देती है। यदि 'शाकुन्तल' नाटक के देखने में हम अपनी प्रेयसी के व्यवहारों को सोचने लग जाते हैं, तो हम नाटक का आनन्द नहीं ले रहे हैं, अपने व्यक्तिगत जीवन के तथ्यों को उलट-पलट रहे हैं।

दूरीकरण के दो पक्ष हैं—एक विलोमात्मक या निषेधात्मक पक्ष है जो विषयों के व्यावहारिक गुणों से और हमारी उनके प्रति व्यावहारिक अभिवृत्ति का विच्छेद कर देता है। दूसरा अनुलोमात्मक या विध्यात्मक पक्ष है जो दूरीकरण की निषेधात्मक प्रक्रिया द्वारा प्रसूत नवीन आधार पर प्रतिष्ठित सुसम्पन्नता को विकसित करता है।

इसके द्वारा चेतना का वह उभार होता है जो दैनिक जीवन के कार्यकलाप के एक अल्पकालिक विरोध से प्रकट होता है।

कलात्मक अभिवृत्ति में एक विचित्र निरपेक्षता (disinterestedness) होती है जिसको पाश्चात्य और पौर्वात्य दार्शनिकों ने समान रूप से रेखांकित किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इस अभिवृत्ति में अवधान की कमी हो जाती है, प्रत्युत इसमे प्रगाढ़ अवधान होता है। निरपेक्षता का भाव केवल यही है कि कलात्मक अभिवृत्ति में किसी व्यक्तिगत व्यावहारिक आवश्यकता से सम्बन्ध नहीं रहता।

कला की विशेषताएँ

कलाकृति केवल देखने या सुनने की वस्तु नहीं है। इसमें प्रेक्षक की तल्लीनता, ध्यानमग्नता होती है, भाव के माधुर्य की चर्वणा होती है।

चित्र कोई रेखांकित फलक नही है। वास्तविक देश वह है जिसमें वस्तुएँ रखी होती हैं, जिसमें गति होती है। इसके विपरीत चित्रित देश वह है जिसमे रेखाओं और वर्णों का अंगांगिसश्लिष्ट भाव विद्यमान हो।

कला भौतिक द्रव्यों के माध्यम द्वारा ऐसी सर्जना करती है जो भौतिक द्रव्यों से अतीत होती है।

आकृति मात्र कला नहीं होती। जब वह संवेदनशीलता से आप्लावित होता है, तभी वह कला का रूप धारण करती है

कला में एक व्यवस्थात्मकता, एक निश्चयात्मकता होती है। उसके भिन्न-भिन्न अंगों में एक विचित्र संश्लेषण होता है।

कला की अनुभूति अपरोक्ष होती है। उसका माध्यम दृश्य हो या श्रव्य, उसके तत्त्व रेखा, वर्ण, स्वर, लय, शब्द, छन्द कुछ भी हों, किन्तु उसकी अनुभूति अपरोक्ष होती है। और, वह अनुभूति आह्लादकर, आनन्ददायक होती है।

कला नानात्व में, विविधता में एकत्व की अनुभूति है। रेखाओं और वर्णों में सामंजस्य, समानुपात, स्वरों में संवाद की अनुभूति है।

कला और सौन्दर्यबोध

'सुन्दर' शब्द कला के परिप्रेक्ष्य में एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। व्याकरण के अनुसार सुन्दर का निर्वचन इस प्रकार है—सु+उन्द्+अर—सुष्ठु उनत्ति आर्द्रयति चित्तम्—जो चित्त को अच्छे प्रकार से आर्द्र कर दे, वह सुन्दर है।

श्री हरद्वारीलाल शर्मा ने अपनी पुस्तक 'सुन्दरम्' में सुन्दर के भिन्न-भिन्न भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है :

(१) सुन्दर रहस्य है जिसका चमत्कार यह है कि हम इसे देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते। यह रहस्य अक्षय और अनन्त है। इसे छोड़कर मन अन्यत्र कहीं जाता भी नहीं। (वेद)

(२) सुन्दर आनन्द से भरा छलकता प्याला है जो आकाश से पृथ्वी पर उलट रहा है। जो है, वह आनन्दमय है। हम इसी आनन्द में जीते हैं, पलते हैं और समा जाते हैं। (उपनिषद्)

(३) सत्य ही सुन्दर है। सत्य की सीमा नहीं। शरीर की सीमा में सिमटा हुआ 'मैं' अछूत हूँ। यज्ञ में ये सीमाएँ गल जाती हैं, क्योंकि यज्ञ का स्वरूप ही समर्पण है। तब 'मैं' की परिधि के पार सुवर्णकुम्भ-सा प्रोज्ज्वल सत्य उगता है, अनृत को भस्म करने के लिए उठती ज्वालाओं के जाल-सा, निस्सीम तेज का प्रसव। इसीलिए सत्य उज्ज्वल होता है और सुन्दर। (शतपथ ब्राह्मण)

(४) प्रेम ही सुन्दर है (रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं भक्तिदर्शन)। आदिम संस्कृतियों में भी उत्कट प्रेम को सुन्दर के रूप में देखा गया है। इस्लाम-पूर्व अन्धकार-युग के कवियों के प्रेमोद्गार में, विशेषतः उमर-पुत्र अबू-रबिया और जामिल के प्रेम-गीतों में, प्रेम को सौन्दर्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यूनानी कवि हेसियड प्रेम का कवि है।

(५) शक्ति ही सुन्दर है जिसमें शरीर-सौष्ठव व अंग-प्रत्यंग के स्वास्थ्य के संकेत रहते हैं। शरीर जो शक्ति को प्रकट करता है, दिव्य और लोकोत्तर होता है। जो लोकोत्तर है, अपूर्व, अतुलनीय एवं अनोखा, वही सुन्दर होता है। (होमर—इलियड)

(६) महान् सुन्दर होता है जो हमको ओज और तेज से अभिभूत कर सके, हमारे मन और मस्तिष्क पर छा जाय। अतएव सुन्दर महनीय होता है। (व्यास, वाल्मीकि, लोंजाइनस, काण्ट)

(७) सुन्दर परम विवेक (Reason) का प्रकट रूप है। अतएव सुन्दर में हम ऐसी विकट अर्थ-ज्योति का साक्षात्कार करते हैं जिसमें सारे वाद-विवाद समाहित हो जाते हैं। (हीगल)

(८) सुन्दर ललित होता है। (हजारीप्रसाद द्विवेदी)

(९) सुन्दर जीवन का परिचय है; जीवन-बोध, युग-बोध, समष्टि-चेतना की अभिव्यक्ति। (नूतन काव्य और कला, पृ० ५८ ६०)

सब का निचोड़ यह है कि सुन्दर सृष्टि का प्राणतत्त्व है और सुन्दर की अभिव्यक्ति के लिए कलाकार सर्जन करता है।

सुन्दर का स्वरूप

मूलतः एकत्व का, सामंजस्यपूर्ण एकत्व का वेदना द्वारा अनुभव सुन्दर है। जिसके विषय में हृदय चमत्कृत होकर कह उठे 'अहा !', वह सुन्दर है; उसका बुद्धि के द्वारा अनुभव 'सत्य' है और उसका क्रिया और आचरण में अनुभव 'शिव' है।

सुन्दर का उत्स आनन्द है। क्षेमराज ने सच कहा है : "आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना"—अनुत्तर के आनन्द से शक्ति उच्छलित होकर सृष्टि के रूप में, विश्व के रूप में अभिव्यक्त होती है। उस आनन्द की अनुभूति हमें सौन्दर्य के द्वारा होती है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार, जब हमें सौन्दर्य का साधारण अनुभव होता है, तब हम उसे 'प्रिय' कहते हैं; जब हम उसका सचेत रसास्वादन करते हैं, तब हम उसे 'मोद' कहते हैं और जब हम उसमें डूब जाते हैं, तब हम उसे 'प्रमोद' कहते हैं।

उसके अनुभव के तीन स्तर हैं—इन्द्रियों द्वारा, बुद्धि द्वारा, तन्मयता द्वारा। सुन्दर का एक अटूट, अभेद्य, सम्पूर्ण अनुभव होता है जिसके प्रमाता और प्रमेय, द्रष्टा और दृश्य आवश्यक अंग हैं। एक ही चेतना व्यक्ति मे प्रमाता है और व्यक्त में प्रमेय होती है।

सौन्दर्य की अभिव्यक्ति

सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला द्वारा होती है। महेश्वर सबसे बड़ा कलाकार है। सृष्टि उसकी एक बृहद् कला है :

"जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मन्यात्मतूलिकया।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः।"

जगत्-चित्र को चित्रित करने के लिए वही फलक है, वही तूलिका है, वही चित्रकार है, वही द्रष्टा है, वही आनन्द लेने वाला है।

कला के द्वारा सर्जना होती है। सर्जना में सौन्दर्य की अनुभूति होती है।

सौन्दर्यबोध की परिपूर्णता

सौन्दर्यबोध के तीन स्तर हैं। प्रथम स्तर वह है जहाँ हमे इन्द्रियों द्वारा सुन्दर का परिचय मात्र होता है। यह गोचर होता है। इससे उच्चतर स्तर वह है जो अगोचर है, जो एक आन्तरिक अनुभूति है। सबसे उच्चतम स्थिति वह है जहाँ चित्र का सौन्दर्य मे समावेश हो जाता है।

आकार और विषय

कला के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि कला की विशेषता किसमें है—आकार (form) में या विषय (content) में ? पहले तो आकार से हमारा क्या तात्पर्य है, इसे समझना होगा। प्रायः लोग आकार से उन तत्त्वों को समझते हैं जो किसी कला के मूलभूत साधन हैं, जैसे चित्रकारी में रेखा, वर्ण इत्यादि का ढाँचा; काव्य में शब्द, छन्द, अलंकार इत्यादि की योजना; संगीत में स्वर और लय का प्रयोग। किन्तु क्लाइव बेल इत्यादि विद्वानों की यह मान्यता है कि कला का आकार साधन मात्र नही है। एक चित्र में केवल रेखा और वर्ण मात्र उसका आकार नही है। वास्तविक आकार रेखा, वर्ण समानुपात (proportion), सन्तुलन (balance) का समन्वय और सामञ्जस्य है इसी प्रकार काव्य मे शब्द छन्द अलकार का समन्वय आकार है और

संगीत में स्वर और लय का पारस्परिक सन्निवेश वास्तविक आकार है। कला की दृष्टि से यही व्यञ्जक आकार (significant form) है। विषय वह भाव है जिसे हम अभिव्यक्त करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रश्न को यों व्यक्त कर सकते हैं कि कला 'क्या' और 'कैसे' अभिव्यक्त करती है। इस प्रश्न का समाधान जो चिन्तकों ने निकाला है, वह यह है कि कला में हम 'क्या' और 'कैसे', विषय और शैली, आकार और भाव को समझने के लिए पृथक् कर सकते हैं, इन दोनों का हम मानसिक विश्लेषण कर सकते हैं, किन्तु इनका वास्तविक विच्छेद नहीं कर सकते। कोई भी चित्र, कविता अथवा गान पूर्णरूपेण वही है जिसमें भाव और भाषा, वर्ण्य और वर्ण इस प्रकार से, इतनी सुन्दर रीति से परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं कि यदि उनमें से हम एक को भी दूसरे से विच्छिन्न कर दें तो वह वही चित्र या कविता नहीं रह जायगी। कोई भी चित्र या कविता एक अंगी है। रेखा, वर्ण, शब्द, छन्द इत्यादि उसके अंग हैं।

कला में विषय और शैली में अङ्गाङ्गि भाव है। जिस प्रकार एक अंगी से हम उसके एक अंग को पृथक् नहीं कर सकते, उसी प्रकार एक चित्र अथवा कविता से उसके रचनात्मक तत्त्व को पृथक् नहीं कर सकते। ऐसा करने से वह चित्र या कविता ही नष्ट हो जायगी। 'क्या' और 'कैसे' एक-दूसरे के अभिन्न अंग हैं। अतः इन दोनों के पृथक्त्व का प्रश्न ही भ्रान्तिपूर्ण है, कला के मर्म के विरुद्ध है। तो फिर क्या वर्णनाशक्ति विषय से महत्तर या उच्चतर नहीं है? यदि हम उन्हें पृथक् रूप में देखें तो वर्णनाशक्ति को विषय से महत्तर कह सकते हैं, जैसे कि एक उर्दू के कवि ने कहा है "दिल के क़िस्से कहाँ नहीं होते। हाँ, वो सबसे बयाँ नहीं होते।" किन्तु एक विशेष चित्र अथवा कविता में वर्ण्य और वर्णना इतने सुन्दर रूप में संश्लिष्ट रहते हैं कि हम उन्हें भिन्न नहीं कर सकते।

सामान्य और विशेष

कला के सम्बन्ध में जो दूसरा प्रश्न उठता है, वह यह है कि कलाकृति सामान्य की होती है या विशेष की। 'शाकुन्तल' नाटक शकुन्तला-दुष्यन्त-सम्बन्धी ही तो है। 'रघुवंश' काव्य तो रघुवंश से ही सम्बन्ध रखता है। 'मेघदूत' यक्ष-यक्षिणी के विरह का वर्णन ही तो है।

निस्सन्देह कोई चित्रण, कोई रचना विशेष की होती है, किन्तु ललित कला की विशेषता यह है कि उस विशेष की रचना इस ढंग से होती है कि वह सामान्य का संकेत करती है। शकुन्तला नाटक की रचना इस प्रकार से हुई है कि वह केवल शकुन्तला या दुष्यन्त के ही मनोभाव को चित्रित नहीं करती, अपितु उस स्थिति-विशेष में मानव-मात्र के मनोभाव को चित्रित करती है।

अतः वर्णन या चित्रण यद्यपि विशेष का होता है, किन्तु कला की कला यही है कि वह विशेष के द्वारा सामान्य का संकेत करे।

इसी से मिलता-जुलता प्रश्न यह उठाया जाता है कि कलाकार अपने व्यक्तिगत भावों का कला के माध्यम से वर्णन अथवा चित्रण करता है, अथवा वह कलाकृति में अपनी व्यक्तिगत सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि कलाकार का अनुभव केवल व्यक्तिगत भावों तक सीमित नहीं है। वह अपनी कल्पना, अनुभव, संवेदना, अनुकम्पा और सहभाव के द्वारा मानव-मात्र के हृदय को समझ लेता है। वह फ्रायड के मतानुसार अपनी दबी हुई अभिलाषाओं की कला के द्वारा कल्पना के स्तर पर तृप्ति या भोग नहीं करता। उसका हृदय विश्व के साथ स्पन्दन करता है। वह केवल अपने व्यक्तिगत अनुभवों का वर्णन नहीं करता। उसकी कल्पना इतनी विशाल होती है कि वह समस्त विश्व को उसमें समेट लेता है।

शेक्सपियर ने अपने नाटक में दुष्ट, दुरात्मा (villain) का चित्र चित्रित किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अपनी व्यक्तिगत दुष्टता के अनुभव का वर्णन कर रहे हैं, अथवा उसके माध्यम से अपनी अभिलाषाओं का भोग कर रहे हैं।

कालिदास ने 'शाकुन्तल' नाटक में एक विदूषक का बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वह व्यक्तिगत अनुभवों का उस विदूषक के माध्यम से भोग कर रहे हैं।

कलाकार की विशेषता यही है कि एक व्यक्ति होते हुए वह निर्वैयक्तिक होता है। उसकी संवेदनशीलता इतनी विशाल होती है कि वह वैयक्तिक सीमा का अतिक्रमण कर जाता है।

वास्तववादी अथवा भावनावादी

कला के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी है कि वह वास्तववादी है अथवा भावनावादी। क्या कला यथातथ्य का वर्णन करती है या भावनाप्रसूत तथ्यों का? इसका समाधान यह है कि कला की प्रक्रिया ही वस्तुवर्णन की प्रक्रिया से भिन्न है। जीवन में मनुष्य चलता है, किन्तु शुष्क चलने मात्र से वह नृत्यकला नहीं हो सकती। नृत्यकला तो लय और ताल में थिरकना है जो कि नर्तक को छोड़कर दूसरा न करता है, न कर सकता है।

जीवन में तो कोई छन्द में नहीं बोलता, किन्तु कवि तो शब्दों की रचना छन्द में करता है। जीवन में तो कोई अधिक-से-अधिक लिखने का कार्य कर सकता है, किन्तु चित्रकार का माध्यम तो रेखा और वर्ण है। जीवन मे व्यक्ति अपने भावों को शब्दों में व्यक्त करता है। किन्तु गायक तो स्वर और लय में अपने भावों को व्यक्त करता है। यदि निरा वास्तववाद का हठ किया जायगा तो कोई भी कला सम्भव नहीं होगी।

यह बात तो हुई माध्यम की दृष्टि से। किन्तु वास्तविकता की दृष्टि से भी कलाकार अपनी एक निराली सृष्टि का निर्माण करता है। Andre Malraus एक फ्रांसीसी समालोचक ने कहा है, "Les grands artistes en sont pas les transcripteurs du monde; ils en sont les invaux." अर्थात्, महान् कलाकार वास्तविक जगत् के अनुलेखक या अनुकर्ता नहीं होते। वे तो स्रष्टा के प्रतिद्वन्द्वी या प्रतिस्पर्धी होते हैं। वे अपनी कला के माध्यम से औचित्य की दृष्टि से एक नये जगत् की सृष्टि करते हैं। विश्व की वास्तविकता उनका आधार-मात्र होता है। कला में वास्तविकता का रूपान्तरण हो जाता है।

कलाकार के पैर पृथ्वी पर अडिग रहते हैं, किन्तु उनकी टकटकी नक्षत्रों की ओर लगी रहती है। कलाकार पृथ्वी का शिशु है, किन्तु स्वर्ग का उत्तराधिकारी।

मम्मटाचार्य ने 'काव्यप्रकाश' के मंगलश्लोक में यहाँ तक कह डाला है—

"नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

वास्तविकता तो नियतिकृत नियमसहिता है, किन्तु कवि की सृष्टि नियतिकृत नियमरहिता है। वास्तविकता में तो केवल कमल में ही सौरभ, सौन्दर्य और कोमलता होती है, किन्तु कविता में अपनी प्रेयसी के मुख मे कमल की सुगन्ध उसकी आँखों मे कमल का सौन्दर्य उसके शरीर में कमल की कोमलता रहती है

ब्रह्मा की सृष्टि में सुख-दुःख दोनों का अस्तित्व है, परन्तु कला केवल ह्लादैकमयी है, केवल आनन्द-ही-आनन्द है। करुण रस भी आनन्दपूर्ण है। वास्तविकता में पदार्थ एक-दूसरे पर आश्रित हैं, अन्य-परतंत्र हैं, किन्तु कलाकार अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त किसी अन्य सामग्री पर आश्रित नहीं है। इसलिए कला अनन्य-परतंत्र है। प्रकृति में तो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त केवल छह ही रस हैं, किन्तु काव्य में नव रस हैं। प्रकृति के सभी रस आनन्ददायक नहीं होते, जैसे कटु सहजतः आनन्ददायक नहीं होता। किन्तु, काव्य में तो बीभत्स और रौद्र रस तक रुचिर अर्थात् आनन्ददायक होते हैं। इसलिए कवि की भारती नवरसरुचिरा है।

सच बात यह है कि कलाकार प्रेक्षक, पाठक और श्रोता के चित्त को एक-दूसरे धरातल पर पहुँचा देता है जहाँ केवल आनन्द-ही-आनन्द है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने कवि को ब्रह्मा के अतिरिक्त एक दूसरा प्रजापति माना है। वह अपनी प्रतिभा के अनुकूल एक नयी सृष्टि करता है :

"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथा विपरिवर्तते ॥"

अपार काव्य-संसार का केवल कवि ही प्रजापति है। जैसी उसकी रुचि होती है, वैसे ही विश्व परिवर्तित हो जाता है।

कलाकार एक मधुमक्षिका के समान है। जिस प्रकार मधुमक्षिका पुष्पों का रस पीकर उसे अपनी पाचनक्रिया से मधु में परिणत कर देती है, उसी प्रकार कलाकार वास्तविकता से कुछ तत्वों को लेकर अपनी भावनामयी प्रतिभा के द्वारा एक नई मधुमय सृष्टि करता है।

कला वस्तु की सीमाओं में परिच्छिन्न नहीं होती। वह यह संकोच करती है कि वस्तुसत्ता से उच्चतर एक और सत्ता है जिसका अनुभव केवल इन्द्रियों और तार्किक बुद्धि से नहीं हो सकता, जिसका अनुभव केवल हृदय के स्पन्दन में ही हो सकता है।

सत्य-असत्य

उपर्युक्त के साथ ही सत्य-असत्य का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। कला में सत्य का निरूपण होता है या नहीं। कला अपना विश्व आप बनाती है। उसमें उसकी स्वायत्तता है। उसके बाहर के विश्व से उसका केवल प्रतीकात्मक संवाद होता है। जीवन के इष्ट सदा कला के इष्ट नहीं होते। उन इष्टों के मापदण्ड से हम कला के महत्त्व को नहीं माप सकते। तर्कशास्त्र के प्रमाण से हम कला के सत्य को नहीं परामर्श कर सकते।

ध्वन्यालोककार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

"काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति।
तत्र प्रमाणान्तर-व्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते।"

अर्थात्, "काव्य के क्षेत्र में जहाँ व्यंग्य द्वारा प्रतीति होती है, सत्य-असत्य का निरूपण व्यर्थ है। उसकी परीक्षा अन्य प्रमाणों से करना केवल उपहास ही सिद्ध होगा।"

जिन मापदण्डों से हम अपने दैनंदिन जीवन के विषय में धारणा बनाते हैं, उन्हें हम काव्य में यथावत् लागू नहीं कर सकते। काव्य का मापदण्ड औचित्य है।

ध्वन्यालोककार ने कहा है :

"अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
॥

अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का दूसरा कोई कारण नहीं होता। प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का सबसे महान् रहस्य है।

कला का उत्स

अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' के प्रारम्भिक श्लोक में कला का मुख्य स्रोत बतला दिया है। वह इस प्रकार है :

"अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां, जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत् सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते।"

जो सरस्वती का तत्त्व कारणांश के बिना ही अपूर्व वस्तु की रचना और विस्तार किया करता है जो पाषाणवत् नीरस जगत् को अपने रस के प्राचुर्य से सरस बना देता है, क्रमशः प्रख्या और उपाख्या की निर्बाध गति से उस जगत् को कान्तिमय बना देता है, वह कवियों और सहृदयों में भलीभाँति स्फुरित होने वाला सरस्वती का तत्त्व विजयशील हो रहा है।

प्रख्या और उपाख्या कला के दो मुख्य तत्त्व हैं। प्रख्या प्रतिभा है और उपाख्या अभिव्यक्ति या वर्णनाशक्ति। इस पर कौमुदी व्याख्या यह कहती है :

"द्वे वर्त्मनी गिरां देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्॥"

वाणी देवी के दो पंथ हैं : शास्त्र और काव्य। आद्य अर्थात् शास्त्र प्रज्ञा के द्वारा अन्तःकरण में आप-से-आप उपजे हुए ज्ञान से प्रतिपादित होता है और अन्तिम अर्थात् काव्य-प्रतिभा द्वारा सृष्ट होता है। स्पष्ट है कि कौमुदीकार प्रतिभा को प्रज्ञा की उपज्ञा से अधिक उत्कृष्ट मानता है।

प्रज्ञा द्वारा उद्वेलित आन्तरिक सूझ-बूझ Intuition से मिलती-जुलती है। शास्त्र भी केवल तार्किक बुद्धि से नहीं निर्मित हो सकता है। उसे प्रज्ञा की उपज्ञा चाहिए। परन्तु कला की सर्जना प्रज्ञा की उपज्ञा से जो बढ़कर शक्ति है, उसी से सिद्ध हो सकती है। वह शक्ति है प्रतिभा। 'प्रतिभा' शब्द genius या inspiration से मिलता-जुलता है। 'ध्वन्यालोक' में एक जगह आया है—

"अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।"

जिसके द्वारा लोकसामान्य से अतीत अनुभव का प्रस्फुरण होता है, वह प्रतिभा है।

प्रतिभा का प्रतिपक्षी शब्द 'व्युत्पत्ति' है। व्युत्पत्ति वह प्रवीणता है जो अर्जित की जाती है, प्रतिभा नैसर्गिक, अन्तर्जात होती है।

आनन्दवर्धन से पहले के काव्य-समालोचक अलंकार और गुण पर बल देते थे। वे इसी को काव्य-कला का मुख्य साधन मानते थे। परन्तु आनन्दवर्धन ने काव्य-मीमांसा को एक नया मोड़ दिया।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने प्रतिभा, कल्पना, रस और ध्वनि पर अधिक बल दिया है। इस विषय पर हम तीसरे व्याख्यान में विस्तार से विचार करेंगे।

प्रतीकीकरण

आनन्दवर्धन ने व्यञ्जनाशक्ति पर प्रचुर बल दिया है। पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी गवेषणा से यह पता लगाया है कि व्यञ्जना का मूल स्रोत प्रतीकीकरण या symbolization है। प्रतीकीकरण के उदाहरण मुख्यतः साहित्य और चित्रकला में मिलते हैं। प्रतीकीकरण का विकास फ्रेञ्च साहित्य में

१८८० शती में प्रारम्भ हुआ जिसके मुख्य प्रतिपादक मलार्मे थे। धीरे-धीरे यह रूस और इंग्लिस्तान मे फैला। इंग्लिस्तान में ह्वाइटहेड ने प्रथमतः इसका वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ किया।

प्रतीक प्रस्तुत और प्रायः स्थूल पदार्थ होता है जो किसी अप्रस्तुत और सूक्ष्म भाव या अनुभूति का मानसिक आविर्भाव करता है। हमारे सूक्ष्म प्रत्यय प्रतीकीकरण के द्वारा प्राप्त होते हैं। प्रतीक 'अल्प' में 'अनल्प', 'सान्त' में 'अनन्त' का अनुभव कराता है। किसी स्थूल संकेत को पाकर मन में प्रतीतियों का उभार होता है। प्रायः प्रतीक ही मन में व्यञ्जनावृत्ति को जन्म देता है। इसका चित्रकला में उदाहरण रायकृष्णदास ने "मध्यकालीन चित्रशैलियाँ" में दिया है जिसको डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा ने 'सुन्दरम्' में उद्धृत किया है। प्रतीक के द्वारा रेखा में भी "गति दीखती है, जैसे मध्ययुगीन कुछ चित्रों में, हाथी की गम्भीर-मन्थर चाल, घोड़ों की दौड़, नृत्य की लय, यात्रियो के थके हुए क़दम, सैनिकों की अकड़, कहारों की मस्तानी चाल।" (पृ० १४०)

मूर्तिकला तक में पाषाण के कटाव, घुमाव, उभार इत्यादि के प्रतीक द्वारा हमारे मानसिक पटल पर न जाने कितनी अनुभूतियाँ, स्मृतियाँ अंकित हो जाती है।

वेद में प्रतीकीकरण की प्रचुरता पाई जाती है। वृत्र राक्षस मेघ के रूप में पर्वत पर कई वलयों में लेटा हुआ था जिसे इन्द्र ने मार गिराया था। यह राक्षस आध्यात्मिक अंधकार का मूर्त रूप ही था।

चतुष्पाद (चौपाया) पूर्णता, समग्रता का प्रतीक है। गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् मे ब्रह्म को चतुष्पाद इसीलिए बतलाया है कि वह स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम में व्याप्त है।

पुराणों में विष्णु की मायाशक्ति के कई प्रतीकात्मक उदाहरण मिलते हैं, जैसे एक मोहिनी नारी के रूप में नारद को मोहित करना। ज़िमर ने अपने "Myths and Symbols in Indian Art" में प्रतीकीकरण के बहुत से उदाहरण दिये हैं। कला में मिथिक और प्रतीकीकरण का कलाकार पूरा उपयोग करता है और प्रायः यही उसके मोहक, मादक प्रभाव का निमित्त बनता है।

प्रतीकीकरण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण नटराज का विश्वनर्तन है जो कि नृत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला तीनों में व्यक्त किया गया है। मूर्तिकला में कलाकार ने नटराज को पाषाण और कांस्य, पीतल, ताँबा इत्यादि धातुओं में बनाया है और चित्रकला मे सुन्दर रंगों में। ज़िमर ने अपने ग्रन्थ "Myths and symbols in Indian Art and Tairilization" में इस प्रतीक का सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। सृष्टि एक अनवरत प्रवाह है। इसका नृत्य ही सर्वोत्तम प्रतीक हो सकता है, क्योंकि उसमें गति, स्थिति और विश्रान्ति तीनों हैं। शिव की न्यायमूर्ति विश्व-सृष्टि को व्यक्त करती है।

यह प्रतीक एक चित्रमय रूपक है। नटराज के ऊपरी दाहिने हाथ में डमरू है जो ध्वनि का प्रतीक है। ध्वनि आकाश का गुण है। पञ्चमहाभूतों मे सबसे पहले आकाश की सृष्टि हुई है। उसी तत्त्व में से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का उन्मीलन हुआ है। ध्वनि ही स्रष्टा की सर्जन-प्रक्रिया का आद्यरूप है। ब्रह्म को नादब्रह्म या शब्दब्रह्म कहा ही है। ऊपर की ओर बाएँ हाथ में जिसकी अँगुलियाँ अर्धचन्द्र मुद्रा में हैं, एक प्रदीप्त ज्योतिशिखा है। ज्योतिशिखा या अग्नि विश्व के संहार का प्रतीक है। नटराज के विश्वनर्तन में दोनो हाथो के द्वारा सृष्टि और संहार का सुन्दर सन्तुलन व्यक्त किया गया है। दूसरा दाहिना हाथ अभय मुद्रा मे है जो सभी प्राणी को अभय और शान्ति का आश्वासन देता है शेष बायाँ हाथ जो कि वक्ष स्थल के ऊपर लटका हुआ है, नीचे की ओर उठे

हुए बाएँ पैर की ओर इंगित करता है। यह बायाँ पैर मुक्ति का संकेत करता है। बायाँ हाथ जो उसको इंगित करता है, गजहस्तमुद्रा में है जो शिव के पुत्र गणेश के विघ्न-निवारण का प्रतीक है। नटराज नीचे दबे हुए एक खर्व वामन के ऊपर नाच रहे हैं जो अपस्मार पुरुष का प्रतीक है। यह अपस्मार पुरुष अन्धकार या अज्ञान का प्रतीकीकरण है। इस पर विजय अज्ञान और बन्धन से मुक्ति का बोधक है। शिव से प्रभामण्डल निकलकर उनको चारों ओर घेरे हुए है। यह जीवनी-शक्ति और ज्ञान का प्रतीक है।

शिव का विश्वनर्तन उनके पञ्चकृत्य का बोधक है। वे पञ्चकृत्य हैं :

(१) सृष्टि, (२) स्थिति, (३) संहार, (४) तिरोभाव या विलय, और (५) अनुग्रह।

उनके ऊपर के तीन हाथ सृष्टि, स्थिति और संहार के प्रतीक हैं, जो पैर भूतल पर स्थिर है, वह विलय का प्रतीक है और जो पैर उठा हुआ है, वह अनुग्रह का प्रतीक है।

एकीकरण

कला का सबसे बड़ा महत्त्व है एकीकरण का। विज्ञान विश्व और जीवन का खण्डशः अध्ययन करता है। ज्योतिष नक्षत्रों का अध्ययन करता है, उसका वृक्ष और खनिज पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राणिशास्त्र केवल जीवों या प्राणियों का अध्ययन करता है, वह नक्षत्र से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। भौतिकविज्ञान (Physics) केवल भूतद्रव्य का अध्ययन करता है।

विज्ञान की खण्ड दृष्टि है किन्तु कला और उसमें भी काव्य की दृष्टि अखण्ड है। काव्य विश्व को उसकी समग्रता में देखता है।

'उत्तररामचरित' में सीता के विलाप के साथ 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—पत्थर भी रोता है, वज्र का भी हृदय फट पड़ता है।

विज्ञान इसको आरोपवाद कहेगा। वह कहेगा कि मानव अपने भावों को जड़ पदार्थ पर आरोपित करता है। किन्तु काव्य ने विश्व को, जीवन को और अधिक गहराई से देखा है। उसकी यह मान्यता है कि समस्त जीवन एक सूत्र में ग्रथित है। उपनिषद् एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। ईशावास्य उपनिषद् का यह वाक्य प्रसिद्ध है, "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"। सारे जीवन में एकत्व के अनुभव करने वाले को कोई मोह, कोई शोक नहीं हो सकता।

इन्द्रिय और मन के द्वारा देखने और समझने में सभी पृथक् हैं, किन्तु हृदय की संवेदनशीलता में सारा जीवन एक रहस्यमय सूत्र में ग्रथित है।

यही कारण है कि प्रकृति के प्रति एक कलाकार का जो अनुराग है, वह कलाविहीन का नहीं। सावन में जब साँवले मेघ हमारे आँगन के ऊपर से अपना पंख फैलाये उड़ते हुए जाते हैं तो क्या हमारी मानवता का गौरव इसी में है कि हम उनकी अवहेलना कर अपने घर के एक कोने में बैठे अपने जूते पर पालिश रगड़ने पर लगे रहें ?

संगीत में मेघ, मल्हार इत्यादि राग और कजरी इत्यादि धुनें प्रकृति के साथ हमारे तादात्म्य को व्यक्त करती है। वसन्त ऋतु में जब बकुल पुष्पों का शृंगार कर अपनी भुजा फैलाये हुए हमसे मिलने के लिए अपनी आतुरता प्रदर्शित करता है, तब क्या हम उसके मूक निमन्त्रण की अवहेलना कर ताश पीटते बैठेंगे ?

निराला ने लिखा है, 'सखि वसन्त आया। भरा हर्ष वन के मन नव प्रमोद छाया।' संगीत ने तो ऐसे समय के लिए वसन्त-बहार इत्यादि राग मानव को उसका स्वागत करने के लिए दिया है

पशु, पक्षी भी प्रकृति के साथ तादात्म्य का भाव रखते हैं। वर्षा में मयूर नाच उठता है, वसन्त में गगनविहारी कोकिला गा उठती है।

काव्य में प्रकृति-वर्णन, चित्र में चित्रण और संगीत में उसके स्वागत का मधुर गान कला के एकीकरण और तादात्म्य के सिद्धान्त को घोषित करता है। आज का मानव तो मशीन हो गया है। यंत्रीकरण केवल आधुनिक सभ्यता का ही द्योतक नहीं है, वह आधुनिक मानव का भी द्योतक है।

संवेदनशीलता मानव की एक विशेषता है। जिसका हृदय शुष्क हो गया है, वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक समान है'। यही कारण है कि कला ने इस संवेदनशीलता को जीवित रखा है, नही तो पृथ्वी मरुभूमि हो जाती और जीवन एक भयंकर श्मशान।

ललित कलाओं की विशेषता

तीन मुख्य ललित कलाएं मानी जाती हैं—चित्रकारी, काव्य और संगीत। प्रत्येक ललित कला की अपनी विशेषता है।

चित्रकारी के अंग

चित्रकारी कुछ अभिव्यंजक अंगो का एक संश्लिष्ट रूप है। वे अंग मुख्यतः निम्नलिखित हैं—वर्ण (रंग), रेखा, विन्यास (textures), भूमि (plane), परिमा (volume), अवकाश (space), प्रकाश (light), छायांश (shadow), विषयवस्तु, निरूपण, अभिकल्प (design), रेखांकन (drawing), संरचना (composition), गति।

इनमें वर्ण मुख्य तत्त्व है। पहले चित्र में वर्ण अलंकरण मात्र समझा जाता था, किन्तु वर्ण के विशेष महत्त्व हैं। पहले केवल रंगपट्टिका पर रंगों को मिलाते थे, अब कैन्वस पर मिलाने लग गये हैं। सिज़ाने ने वर्ण के प्रावैगिक गुणों को पहचाना। अब वर्ण को केवल वस्तु के द्योतक होने के नाते ही नहीं चुनते, अपितु उनकी द्युति, आभा, भराई और व्यञ्जनात्मक गुणों के नाते चुनते हैं। आजकल इस पर बल दिया जा रहा है कि विशेष वर्णों में विशेष भावों की व्यञ्जकता का गुण है। लाल और पीले रंग ओजस्वी और भड़कीले समझे जाते हैं। नीले और हरे रंग शीतल और शान्त समझे जाते हैं। भूरे और काले रंग अवसादक और विषादी समझे जाते हैं।

विन्यास चित्र के बाह्याकार का द्योतक है। चित्र की आधुनिक कला में विन्यास पर पर्याप्त बल दिया जा रहा है। विन्यास में विशेष रंगलेप स्थूलता का द्योतक होता है। चित्र के बाह्य तल का किस प्रकार विन्यास रखना चाहिए, इस पर आजकल पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है।

रेखाओं का विशेष अध्ययन किया गया है। आड़ी रेखा प्रायः विश्राम और शान्ति का द्योतक समझी जाती है। सिज़ाने के "View of Anvers" नामक चित्र में इसका बहुशः प्रयोग हुआ है। खड़ी रेखा गरिमा, उदात्तता और गम्भीरता का द्योतक समझी जाती है। लहरदार या तरंगित रेखा का प्रयोग प्रायः उत्तेजना, विचारमग्नता, व्यथा इत्यादि को प्रकट करने के लिए होता है। विषम रेखा का प्रयोग बहुशः संघर्ष, तनाव, क्षुब्धता, प्रचण्डता इत्यादि को व्यक्त करने के लिए होता है।

वक्र रेखा के द्वारा कोमलता, कमनीयता, विलासिता व्यक्त की जाती है। यह रेखा मधुरता का प्रतीक है। प्लेन के द्वारा गहराई को व्यक्त किया जाता है। परिमा के माध्यम से संहति (mass) को प्रकट करते हैं।

अवकाश का तात्पर्य दैशिक अवकाश नहीं है, चित्र-सम्बन्धी अवकाश है। यह

भराव के लिए है। प्रकाश और छायांश वर्णिक परिमण्डल को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

अभिकल्प (design) सापेक्षता अथवा अन्वितता का तत्त्व है। ड्यूई ने परिकल्प के दो अर्थ बतलाये हैं – विन्यास (arrangement) और उद्देश्य। चित्रकारी में अभिकल्प का वही स्थान है जो उपन्यास में कथावस्तु या प्लॉट का है।

रेखांकन भी एक सापेक्षता या अन्वितता का तत्त्व है। संरचना में सन्तुलन, समानुपात, प्रमाण इत्यादि का समावेश है। गति को चित्र में रेखाओं, वर्ण इत्यादि के द्वारा व्यक्त करते हैं। गति का यह अर्थ नहीं है कि चित्र के तत्त्वों में संचलन होता है, बल्कि उसका यह तात्पर्य है कि भिन्न-भिन्न तत्त्व इस प्रकार चित्रित होते हैं कि वे हमारी आँखों को एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व की ओर जाने के लिए विवश करते हैं।

ऊपर के सभी तत्त्व चित्र में विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं।

चित्र में प्रतीकों का प्रयोग होता है, किन्तु प्रत्येक संस्कृति के प्रतीक प्रायः अलग-अलग होते हैं। आधुनिक चित्रकला में प्रतीक का प्रचुर प्रयोग होता है।

भारत में गुप्तकाल में चित्रकला का परमोत्कर्ष हुआ था। विशेषकर अजन्ता की गुफ़ाओं मे जो चित्र बने हुए हैं, वे भारतीय चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। राय कृष्णदास जी ने उसके चित्रों की विशेषता इस प्रकार बतलाई है :

"इन चित्रों की तैयारी की रूपरेखा बहुत जोरदार, जानदार और लोचदार है। उसमें भाव के साथ-साथ वास्तविकता है एवं उसमें चीन की तथा उससे उत्पन्न जापानी और ईरानी चित्रकारी की वे सपाटे वाली कोणदार रेखाएँ नहीं हैं जिनका उद्देश्य भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकरण ही होता है। रंगों की योजना प्रसंगानुकूल, बड़ी आढ्य और चित्ताकर्षक है—कहीं फीके या बेदम रंग नहीं लगे हैं। आवश्यकतानुसार उनमें विविधता भी है। यथोचित हलका साया लगाकर चित्रों के अवयवों मे गोलाई, उभार और गहराई दिखाई गई है। हाथ-पाँव, आँख और अंग-भंगी की भाषा से अर्थात् भाव बताने की भाषा से, दूसरे शब्दों में हाथ की मुद्राओं से, आँख की चितवनों से और अंगों के लचाव तथा ठवन से अधिकांश भाव व्यक्त हो जाते हैं।

यद्यपि इन चित्रों का विषय सर्वथा धार्मिक है और इसमें वह विश्व-करुणा अथ से इति तक पिराई हुई है जो भगवान् बुद्ध की भावना का मूर्त रूप है, फिर भी जीवन और समाज के सभी अगों और पहलुओं से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सभी अंग और पहलू इनमें पूरी सफलता से अंकित हुए हैं। इतना ही नहीं, सारे चराचर जगत् से यहाँ के कलाकारों की पूर्ण सहानुभूति है और उन सबको उन्होंने पूरी सफलता से अंकित किया है। (भारत की चित्रकला, पृ० २४-२५)

अजन्ता, एलोरा और बाघ की गुफ़ाओं में भारतीय चित्रकारी की गुप्तकालीन शैली का सुन्दर उदाहरण देखने को मिलता है। इस शैली का प्रभाव सम्पूर्ण मध्य एशिया की चित्रकारी पर पड़ा। इसी युग में विष्णु-धर्मोत्तर पुराण का चित्रसूत्र प्रतिपादित हुआ। उसमें प्रतिपादित वर्ण-विधान, रेखा-संयोजन और सुलेखन के देखने से यह पता चलता है कि गुप्तकालीन चित्रकला कितनी उत्कृष्ट अवस्था मे विद्यमान थी।

भिन्न-भिन्न राजवंशों ने बाघ, अजन्ता, बादामी, सित्तन-वासल, एलोरा इत्यादि गुफ़ाओ में भित्तिचित्र बनवाये जिनको देखकर मनुष्य मुग्ध हो जाता है

१०वीं से १५वीं शती ईसवी के बीच दक्षिण भारत में सचित्र पोथियों का मनोहर कार्य

सम्पादित हुआ। इस शैली की तीन शाखाएं थीं—द्राविड़, केसर और नागर। द्राविड़ शैली का प्रादुर्भाव दक्षिण में हुआ। नागर शैली उत्तर भारत से दक्षिण गयी।

दक्षिण में कुछ मुस्लिम शासकों द्वारा इस शैली को प्रोत्साहन मिला जो बाद में 'हिन्दिया कला' के रूप में विकसित हुई। इसमें बाहरी साज-सज्जा में इस्लामी प्रभाव है, किन्तु उसके भीतरी भाव-विधान में अजन्ता का प्रभाव है।

१५वीं और १७वीं शती के बीच राजपूत-शैली के बहुत से चित्र बने जो अब बहुत ही कम उपलब्ध होते हैं। राजपूत-शैली का प्रादुर्भाव राजस्थान में हुआ। उसका प्रभाव मध्यप्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश, हिमाचल तक फैल गया। राजस्थानी शैली में रागमाला और कृष्णलीला इत्यादि के बहुत से चित्र बने।

१५२७ ई० मे उत्तरी भारत में जब बाबर का राज्य प्रारम्भ हुआ, तब मुगल-शैली प्रकाश में आयी। बाबर कलापारखी था। वह स्वयं कवि था और 'चित्रकला' को बहुत प्रोत्साहन देता था। उसकी एक सचित्र 'शाहनामा' की प्रति एशियाटिक सोसायटी, लंदन में सुरक्षित है। बाबर ने अच्छे-अच्छे चित्रकारों को आश्रय दिया। हुमायूं ने भी चित्रकला को प्रोत्साहन दिया।

चित्रकला को सबसे अधिक प्रोत्साहन अकबर से मिला। अकबर की एक बड़ी भारी चित्रशाला थी। उसके पोथीखाने में बहुत ही सचित्र पोथियाँ एकत्र की गई थीं।

राय कृष्णदास ने विषयों की दृष्टि से अकबर-काल के चित्रों के चार विभाग किये हैं :

(१) अभारतीय कथाओं के चित्र, जैसे क़िस्सा अमीर हम्ज़ा शाहनामा, इत्यादि

(२) भारतीय कथाओं के चित्र, जैसे रामायण, महाभारत, नल-दमयन्ती, इत्यादि

(३) ऐतिहासिक चित्र, जैसे तवारीखे-खानदाने-तैमूरिया, अकबरनामा, इत्यादि

(४) व्यक्ति-चित्र, जैसे अकबर और उमराओं के चित्र।

अकबर के राजकाल में ईरानी, कश्मीरी और राजस्थानी शैली के समन्वय से चित्रकारी की एक नई शैली का विकास हुआ जिसे मुगल-शैली कह सकते हैं।

राय कृष्णदास लिखते हैं, "इस एकता को हम रेखाओं की गुलाई, आलेखन में डौल, गति, एकचश्म चेहरों, हस्तमुद्राओं, वस्त्रों की शिकन तथा फहरान, वृक्षों के स्वाभाविक आलेखन एवं अभिव्यंजक संयोजन के रूप में पाते हैं जो सभी अकबरी ग्रन्थ-चित्रों में सर्वथा एक हैं। इस एकता को हम चित्रों की दो और बातों में पाते हैं—एक तो प्रायः सभी ऐसे चित्र एकाधिक, बहुत करके तीन चित्रकारों के सहयोग से बने हैं। एक ने टिपाई की है, दूसरे ने गदकारी (=रंगामेजी) और तीसरे ने खुलाई। दूसरे, इनके अधिकांश कलाकार, प्रायः पंचानवे प्रतिशत, हिन्दू हैं।

इस प्रकार अकबरी कला अपने विकसित रूप में, अपना निजत्व प्राप्त कर लेने पर भी, सर्वथा भारतीय रहती है, क्योंकि एकता की उक्त विशेषताएँ ईरानी शैली से सर्वथा विपरीत एवं पूर्णतः भारतीय हैं। (भारत की चित्रकला, पृ० १३६-३७)

पहाड़ी शैली

यह शैली जम्मू, कुल्लू, चम्बा, बसौली, काँगड़ा, गुलेर, मण्डी, टेहरी-गढ़वाल इत्यादि पहाड़ी प्रदेशों में पनपी। यद्यपि इस शैली का प्रादुर्भाव लगभग १७वीं शती में हुआ, तथापि इसका विकास १८वीं शती से हुआ। इसके विकास में कश्मीरी, राजस्थानी और मुग़ल शैली का सहयोग रहा। इस शैली में चित्रकारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, काव्य-सम्बन्धी बहुत से चित्र बनाये। इसका कँड़ा, वर्णिका, विधान इत्यादि मुग़ल शैली से प्रभावित हैं और गति अभिव्यक्ति कश्मीरी

शैली से प्रभावित हैं। इसकी भाव-भंगिमा, मुद्राओं, वस्त्रों की फहरान, मुकुट इत्यादि में भी कश्मीर-शैली का आभास मिलता है। इस शैली की प्रत्येक रेखा में प्राण, स्पन्दन और प्रवाह है।

ठाकुर शैली

श्री हैवेल के प्रभाव से अवनीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा एक नवीन शैली का निर्माण हुआ। यतः इस शैली का प्रारम्भ अवनीन्द्रनाथ ठाकुर से हुआ, अतः राय कृष्णदास ने इसको ठाकुर शैली से अभिहित किया है। अवनीन्द्रनाथ बहुत ही प्रतिभाशाली चित्रकार थे। इन्होंने अजन्ता शैली को अपना आधार बनाया, किन्तु मुग़ल, पहाड़ी, चीनी, जापानी और पश्चिमी कला के सार को समन्वित करके एक नई शैली का निर्माण किया जिसने सब शैलियों के सौन्दर्य को आत्मसात् कर लिया है, किन्तु पूर्णतः वह भारतीय है।

श्री अवनीन्द्रनाथ के अग्रज गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इस शैली में बहुत सफल प्रयोग किये हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस शैली में कई छायावादी चित्र बनाये हैं।

अवनीन्द्र ठाकुर के प्रधान शिष्य नन्दलाल बोस में ठाकुर शैली अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त हुई है। उनकी अनुपम कल्पना और अंकन-विधान में उनकी प्रतिभा की स्पष्ट झलक विद्यमान है।

देवीप्रसाद रायचौधुरी, असितकुमार हालदार, समरेन्द्रनाथ दासगुप्त भी इसी शैली के कलाकार हैं।

काव्यकला की विशेषताएँ

जिस प्रकार वर्ण, रेखाएँ, विन्यास, भूमि इत्यादि चित्रकारी के घटक हैं, उसी प्रकार शब्द, छन्द, अलंकार, प्रतिमा इत्यादि काव्यकला के अंग हैं। काव्यकला की विशेषता में भारतीय चिन्तकों का विशेष योगदान रहा जिसका प्रतिपादन हम आगे करेंगे।

संगीत की विशेषताएँ

संगीत के स्वर, लय और ताल विशेष घटक हैं। जिस प्रकार चित्रकारी की कुछ मुख्य शैलियाँ हैं, काव्य की कुछ मुख्य विधाएँ हैं, इसी प्रकार संगीत की भी ध्रुवपद, खयाल, ठुमरी, टप्पा इत्यादि प्रधान शैलियाँ हैं।

हम यहाँ इन कलाओं की एक विशेष समस्या पर ही विचार करेंगे। समस्या यह है, क्या इन कलाओं की कोई नियत भाषा है, नियत शब्दावली है? क्या ये कलाएँ पारस्परिक विचारों के संचार का माध्यम बन सकती हैं? पारस्परिक विचारों के संचार के लिए एक ऐसा माध्यम चाहिए जिसका नियत और सामान्य अर्थ हो जिससे सभी लोग एक सामान्य तथ्य को समझ सकें।

काव्य में शब्दों का प्रयोग होता है जिनका एक सामान्य अर्थ होता है। किन्तु काव्य के माध्यम में प्रायः शब्दों का ऋजु प्रयोग नहीं होता, वे अलंकार, लक्षणा इत्यादि के द्वारा इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं कि उनका एक सामान्य अर्थ ग्रहण करना सहज नहीं होता।

चित्र और संगीत में तो शब्दों का सहारा भी जाता रहता है क्या रेखा, वर्ण इत्यादि का

कोई नियत अर्थ है जिससे सभी एक सामान्य अवधारणा पर पहुँच सकें ? संगीत में तो और कठिनाई है। इसमे तो केवल स्वर और लय है जिनका कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता।

ऊपर हमने चित्रकारी के रेखा, वर्ण इत्यादि का कुछ भाव बतलाया है; किन्तु क्या सभी श्वेत या रक्त या पीत रंग द्वारा एक ही भाव से प्रभावित होते हैं ? क्या ऋजु अथवा वक्र रेखा का तात्पर्य सभी के लिए समान है ? क्या चित्रकारी की भाषा का कोई नियत प्रतीक है ? यदि नहीं तो क्या चित्र केवल सौन्दर्य और अलंकरण के लिए है ? क्या ये कुछ व्यक्त नहीं करते ? यदि रेखा, वर्ण इत्यादि कुछ व्यक्त भी करते हैं तो उनकी कोई सामान्य अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

श्वेत रंग एक चीनी के लिए एक विशेष भाव का प्रतीक हो सकता है और एक भारतीय अथवा एक ईरानी के लिए एक अन्य भाव का प्रतीक हो सकता है। कभी-कभी तो एक ही रंग भिन्न-भिन्न संस्कृति के व्यक्ति के लिए विपरीत भाव का द्योतक बन जाता है।

इस समस्या के समाधान के लिए कुछ विद्वानों का यह मत है कि प्रत्येक कला का एक स्वाभाविक कार्य या धर्म है, यही उसकी अपूर्णता है और उसके माध्यम की विशेषता से सुनिश्चित होता है।

उदाहरण के लिए, चित्रकारी का माध्यम द्वि-आयात्मक (Two dimensional) बाह्य रूप है जिसमें केवल लम्बाई और चौड़ाई होती है। उसके निर्माण का उपादान वस्त्र, लकड़ी, कागज, शीशा कुछ भी हो सकता है, किन्तु वह दो आयामों की सीमा से परिसीमित होता है। इसके अतिरिक्त चित्र भी वाटरकला, टेम्पेरा अथवा तैल के आधार पर बन सकता है। प्रत्येक की अभिव्यंजनात्मक शक्ति की सीमा है जिसमे अधिक चमक की आवश्यकता है, वह वाटरकलर की अपेक्षा तैलचित्र में अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त हो सकता है।

चित्रकारी वह कला है जिसमें आकृतिक गुण अच्छे ढंग से व्यक्त किये जा सकते हैं। यह कला रंग, रेखा, अवकाश आदि की सुन्दर सम्भावनाओं को ही व्यक्त कर सकती है। यही इस कला का अनोखापन है। घटना का वर्णन या मानसिक भावों को व्यक्त करने का प्रयास इस कला के लिए व्यर्थ है। यह कार्य साहित्य कहीं अधिक अच्छा कर सकता है। इस कार्य को साहित्य के ही लिए छोड़ देना चाहिए। इसका मुख्य कार्य होना चाहिए आकृतिक सौन्दर्य और इस सीमा के भीतर भावों का संकेत। सिज़ाने से लेकर पिकासो तक इसी मत के हैं।

कला—भाषा और तथ्य

कला के विषय में पहले यह धारणा थी कि यह वास्तविकता के सार्वलौकिक धर्म की अनुकृति है अथवा प्रकृति के सौन्दर्य की अनुकृति है।

लगभग २००० वर्षों तक यही मत रहा। इसके द्वारा कल्पनाशील कला का स्पष्टीकरण सम्भव न हो सका, तब यह मत प्रचार में आया कि कला कल्पना की सृष्टि है। इससे कला के सामाजिक और संवादवाहक वैशिष्ट्य का स्पष्टीकरण न हो सका। तब यह मत निर्धारित किया गया कि कला मुख्यतः एक प्रकार की भाषा है। आजकल यही मत प्रचलित है। इस मत से कला के व्यंजनात्मक वैशिष्ट्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। कला के भिन्न-भिन्न घटक प्रतिमा या प्रतीक की भाँति कार्य करते हैं, इनका अभिव्यंजनात्मक वैशिष्ट्य है। अतः आजकल इसी मत को मान्यता मिली है। किन्तु इस मत के सम्बन्ध मे जो प्रश्न उपस्थित होता है, वह यह है कि यह किस प्रकार की भाषा है ? जो सबसे प्रभावशाली और बहुमान्य उत्तर मिला है वह यह है कि कला एक [illegible] भावप्रवण भाषा है इस मत के अग्रगण्य हैं क्रोचे और आइ० ए० रिचर्ड्स।

डकेस का कहना है कि कला मुख्यतः एक प्रकार की भाषा है—भावों, वेदना, भावाभिवृत्ति की भाषा है। यह भाषा निश्चयात्मक कथन (Language of assertion) से भिन्न है।

रिचर्ड्स का कहना है कि भाषा को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रतीकात्मक और भावात्मक। प्रतीकात्मक भाषा का कार्य है वर्णन, कथन, विचारों का संचारण। भावात्मक भाषा का कार्य है आह्वान, भावों की व्यंजकता, भावों अथवा अभिवृत्तियों का उद्दीपन। यदि हम यह कहें कि 'यह चित्र पिकासो की कृति है', तो यह केवल एक सूचनात्मक कथन है। किन्तु यदि हम यह कहें कि 'यह चित्र अति सुन्दर है', तो हम उस चित्र के विषय में अपनी भावाभिवृत्ति को व्यक्त करते हैं।

कला का कार्य है भाषा का भावात्मक प्रयोग। कला का कार्य ज्ञान अथवा तथ्यान्वेषण नहीं है, उसका कार्य है हमारे भावों की अभिव्यक्ति। कला संकेतों की वह पद्धति है जो किसी वास्त-विकता या तथ्य का निर्देशन नहीं करती। वह केवल भावों या अभिवृत्तियों की अभिव्यक्ति अथवा उद्दीपन करती है।

कार्नप ने इस मत का शारीरिक चेष्टाओं और भंगिमाओं द्वारा समर्थन किया है। उनका कहना है कि जब हम हँसते या रोते हैं अथवा अपना पैर पृथ्वी पर पटकते हैं तो हम कोई वक्तव्य नहीं देते, हम केवल अपने भावों या अभिवृत्तियों को व्यक्त करते हैं। इनके द्वारा हम किसी सत्य अथवा असत्य का निरूपण नहीं करते, हम केवल अपने भावों को व्यक्त करते हैं। कला की भाषा भी शारीरिक चेष्टाओं और भंगिमाओं के समान है। साहित्य, चित्र, संगीत केवल भावों की अभिव्यक्ति हैं।

यह मत एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करता है। क्या कला केवल भावात्मक भाषा है अथवा उसके द्वारा किसी तथ्य की भी अभिव्यक्ति होती है? टी० एम० ग्रीन का कहना है कि कला केवल भावों की अभिव्यक्ति नहीं है, वह तथ्य की भी अभिव्यक्ति है।

हास्पर्स इत्यादि विद्वानों का कहना है कि माना कि कला स्पष्ट रूप से किसी तथ्य का संकेत नहीं करती, किन्तु वह निस्सन्देह अव्यक्त रूप से, लक्षणा के द्वारा तथ्य का संकेत करती है। इसी को पार्कर ने 'depth meaning'—'गहन अर्थ' कहा है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि कला ऊपरी भावों के नीचे किसी ऐसे गहन अर्थ का संकेत करती है जो सार्वलौकिक होता है।

पार्कर का यह मत विचारणीय है। काव्य केवल भावाभिव्यक्ति नहीं है। उसमें तथ्य का भी एक सांकेतिक निर्देश रहता है। रसेल ने अर्थ के दो स्तर बतलाये हैं—first order meaning—अर्थ का प्रथम स्तर; second order meaning—अर्थ का द्वितीय स्तर। काव्य में प्रथम का ऊपरी स्तर भले ही भावों का हो, किन्तु यदि हम उसकी गहराई में देखें, तो अवश्य किसी तथ्य का संकेत मिलेगा।

कवि भावों की अभिव्यक्ति के द्वारा जीवन के किसी अनुभव की ओर भी संकेत करता है और यही उसका तथ्य का साधिकार संकेत है। काव्य भावों का अलंकरण मात्र नहीं है, वह जीवन के तथ्य की अभिव्यक्ति भी है।

अन्योक्तियों में भी काव्य में कोई गम्भीर तथ्य निहित रहता है।

उदाहरण के लिए पण्डितराज जगन्नाथ कवि की निम्न अन्योक्ति लीजिए—

"कमलिनि मलिनीकरोषि चेतः
किमिति बकैरवहेलिताऽनभिज्ञैः।

परिणतमकरन्दमार्मिकास्ते
जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः ॥

एक तालाब में कमलिनी सकुचित है। बगुले किनारे पर मछली की ओर ध्यान लगाये हुए हैं। कवि की उत्प्रेक्षा है कि कमलिनी इसीलिए सकुचित है कि बगुले उसकी ओर ध्यान न देकर मछली में दत्तचित्त हैं। कवि कहता है कि 'हे कमलिनी ! तुम अपने चित्त को दुःखित मत करो। तुम्हारे परिपक्व पुष्परस के मर्म को जानने वाले भ्रमर संसार में चिरायु रहें। जब तक वे विद्यमान हैं, तब तक तुमको अपने चित्त को मलिन करने का कोई कारण नहीं है।' यह मुख्योक्ति है। अन्योक्ति है, 'हे कवि, यदि अरसिक तुमको नहीं पूछते, तुम्हारा अनादर करते हैं, तो तुम खेद मत करो। तुम्हारे काव्य के मर्म को समझने वाले जब तक संसार में विद्यमान है, तब तक तुम्हारे लिए खेद का कोई कारण नहीं है।'

इसका भावात्मक पक्ष यह है कि कलाकार की यदि लोग अवहेलना करते हैं तो उसके हृदय को बड़ी ठेस लगती है। परन्तु इसमें एक तथ्य भी निहित है कि जो अरसिक हैं, मूर्ख हैं, वे कला के महत्व को नहीं आँक सकते। जो उसके मर्म को समझते हैं, वे ही उसका मूल्य जानते हैं और यदि जगत् में ऐसे थोड़े लोग भी हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं है।

संगीत और अर्थ

यह समस्या संगीत के विषय में और विकट हो जाती है। कविता में तो शब्द होते हैं जिनका कुछ न कुछ अर्थ होता ही है, परन्तु संगीत में तो केवल लययुक्त स्वर है। स्वर ध्वनि मात्र है। भला ध्वनि का क्या अर्थ हो सकता है ? क्या संगीत की भी कोई भाषा है ? जो लोग यह प्रतिपादित करते हैं कि संगीत निरर्थक होता है, वे संगीत की तुलना बोली जाने वाली हिन्दी, अँगरेजी इत्यादि भाषाओं से करते हैं।

इसके पूर्व कि हम कोई मत निश्चित करें, हमें भाषा के ही अर्थ को समझना होगा। इस बात पर सभी विद्वान् सहमत हैं कि भाषा चिह्नों की वह पद्धति है जो विचारों के आदान-प्रदान का साधन हो सके। भाषा और कुछ भी हो, उसका मुख्य लक्षण है विचार-संचार की क्षमता।

विचार-संचार का क्या तात्पर्य है ? विद्वान् यह कहते हैं कि विचार-संचार का तात्पर्य है किसी बात को कहना, उसकी पुष्टि करना अथवा उसका निषेध करना। इस मत से संगीत को हम तभी एक भाषा कह सकते हैं जब वह किसी बात का उपस्थापन अथवा निषेध करे।

किन्तु भाषा का यह बहुत ही संकुचित अर्थ होगा। एक नकशा है। यह न तो कुछ कहता है, न निषेध करता है, किन्तु वह कुछ तथ्यों का प्रदर्शन करता है और इस दृष्टि से कुछ तथ्यों का संचार करता है। इस पर ध्यान देने से भाषा के दो अर्थ सामने आते हैं — एक तो वह जो केवल कुछ तथ्य का संचार करता है, दूसरा वह जो किसी बात का दृढ कथन अथवा निषेध करता है। पहले अर्थ में संचार मात्र है, दूसरे अर्थ में दृढ़ोक्ति का निषेध है।

अब हम अपनी समस्या को स्पष्ट रूप से इस प्रकार कह सकते हैं—

क्या हम संगीत को इस अर्थ में एक भाषा कह सकते हैं कि वह कुछ इंगित करता है, किन्तु कोई दृढ़ोक्ति नहीं करता ?

संगीत को हम भाषा तभी कह सकते हैं जब कि वह किसी को कुछ सूचित करे या

बताये । इसके सम्बन्ध में अभी तक दो उत्तर मिलते हैं । एक उत्तर आत्मसीमित (autonomous) मत का है और दूसरा परनिर्देशक (heteronomous) मत का ।

आत्मसीमित मत यह कहता है कि संगीत अपने में ही सीमित है । वह अपने से बाहर किसी का भी निर्देश नहीं करता । वह विचार-संचार का माध्यम नहीं है । भाषा के लिए शब्दावली की आवश्यकता होती है जिसका नियत अर्थ होता है । संगीत की कोई शब्दावली नहो है । अतः संगीत भाषा नहीं है । संगीत केवल मधुर स्वरों और लय का बनाव-शृङ्गार है ।

परनिर्देशक मत का यह कहना है कि संगीत की अपनी भाषा है । संगीत भावों और आन्तरिक मानसिक स्थितियों का द्योतक है ।

जर्मन विद्वान् हैन्सलिक परनिर्देशक मत के परम विरोधी हैं । वे कहते हैं कि संगीत में किसी वस्तु वा विचार का निर्देशक नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी कोई नियत शब्दावली नहो है । यदि हम स्वर का कोई विशेष अर्थ करते हैं तो वह सर्वथा मनमाना होगा, क्योंकि उस स्वर और अर्थ में कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है । इसके निर्णय का कोई उपाय नहीं है कि परस्पर-विरोधी अर्थों में कौन-सा ठीक है ।

भाषा में प्रत्येक शब्द का एक ऐसा नियत अर्थ होता है जो कि एक विशेष वस्तु वा क्रिया का निर्देशक होता है, किन्तु संगीत में कोई विशेष स्वर अथवा स्वर-समुदाय किसी नियत भाव या संवेग को व्यक्त नहीं करता । उसके स्वरों का भिन्न-भिन्न श्रोताओं के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकता है ।

परनिर्देशक मत का यह कहना है कि संगीत एक प्रतीकात्मक भाषा है जो भिन्न-भिन्न भावों का प्रतीक मात्र बन सकती है ।

इसके विरोध में हैन्सलिक इत्यादि यह कहते हैं कि यदि हम यह मान भी लें कि स्वर प्रतीकात्मक हैं, तो भी यह कहना पड़ेगा कि वे कोई नियत प्रतीक नहीं हैं । उत्तर में परनिर्देशक मत यह कहता है कि जैसे चित्र में कुछ अपारभासक प्रतीक (opaque symbolos) को स्वीकार करते है, वैसे ही संगीत में भी कर सकते हैं । एक चित्र में ऋजु रेखा का अर्थ चेतना हो सकता है, दूसरे में मानव की गरिमा । इसी प्रकार हम संगीत में भी प्रतीक को समझ सकते हैं ।

यदि हम इस बात को मान लें तो सभी स्वरों को अपारभासक प्रतीक मानना पड़ेगा, क्योंकि कोई भी स्वर पारभासक प्रतीक (transparent symbol) नहीं है । इस स्थिति में संगीत एक ऐसी भाषा बन जायगा जिसका कोई भी नियत अर्थ न हो ।

भाषा का व्यवच्छेदक लक्षण है भावों का पारस्परिक आदान-प्रदान । यह तभी सम्भव हो सकता है जब वक्ता और श्रोता में एक पारस्परिक सामान्य अवबोधन हो । स्वर में कोई पारस्परिक सामान्य अवबोधन नहीं है, अतः इसको हम भाषा नहीं कह सकते ।

जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर का मत है कि संगीत किसी विशेष घटना, भाव वा संघर्ष को नहीं व्यक्त करता, वह केवल समीहा (desire) की क्रियात्मकता को व्यक्त करता है । संगीत के स्वरों का आरोहण-अवरोहण, उतार-चढ़ाव केवल मानवीय समीहा के अग्रसरण अथवा अतिसरण को व्यक्त करता है । अतः संगीत का एक ही निर्देश्य है मानवीय समीहा की दोलायमानता । शोपेनहावर का यह मत बहुत ही संकुचित है । यह संगीत को निष्ठा, भाव, उद्दीपन, इत्यादि से पृथक् कर, केवल समीहा में परिसीमित कर देता है ।

हैन्सलिक के तात्पर्य को कम लोगों ने समझा है हैन्सलिक के मत का यह तात्पर्य नहीं है

क संगीत कुछ भी व्यक्त नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि संगीत मानव के अनुभव की अनेक-रूपता या विचित्रता को व्यक्त करता है। भारतीय चिंतकों के शब्दों में संगीत माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण को व्यक्त करता है।

हैन्सलिक भी इसको संगीत का आन्तरिक गुण मानता है, बाह्य नही।

सच बात तो यह है कि सार्थकता और निरर्थकता केवल साहित्य मे ढूंढ़ी जा सकती है क्योंकि उसका माध्यम शब्द है। चित्रकारी और संगीत में इसको ढूंढ़ना व्यर्थ है। इन कलाओं मे अभिव्यञ्जात्मकता है जिसका सम्बन्ध भावों से है।

संगीत भाव की जिस गहराई को व्यक्त करता है, उसको व्यक्त करने के लिए मानवीय भाषा मे कोई शब्द नही है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में यह लिखा है कि भाव के कुछ ऐसे मार्मिक क्षण होते हैं जो केवल संगीत के द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं, न तो अभिनय के द्वारा, न भाषा के द्वारा। इसीलिए हमने नाटक में संगीत का प्रयोग किया है।

माध्यम की दृष्टि से संगीत की और विलक्षणता प्रतीत होती है। स्थापत्य में माध्यम ईंट और पत्थर है जो हमको बाहर से लेना पड़ता है और जो कठिन होते हैं। उनके द्वारा हम भावो को नही व्यक्त कर सकते।

मूर्तिकला में भी माध्यम पत्थर अथवा तांबा, पीतल, कांस्य इत्यादि होता है। ये भी हमको बाहर से लेने पड़ते है और इनमें भी काठिन्य होता है। इनके द्वारा भी भावों को व्यक्त करना बहुत कठिन है और सूक्ष्म भावों को व्यक्त करना असम्भवप्राय है।

चित्रकारी का माध्यम रेखा, वर्ण इत्यादि है। इसमें भी वर्ण, काग़ज़, वस्त्र इत्यादि सब बाह्य पदार्थ हैं। किन्तु इनमें वह काठिन्य नहीं है जो कि स्थापत्य और मूर्तिकला के माध्यम में है। इस माध्यम के द्वारा हम केवल एक सीमा ही तक भावों को व्यक्त कर सकते हैं। सूक्ष्म भावों को तो इंगित करना भी दुष्कर है।

काव्य का माध्यम शब्द, छंद, अलंकार इत्यादि है। इस माध्यम की एक विशेषता तो यह है कि इसका कोई बाह्य आधार नहीं होता। ये सब अपने भीतर से ही उमडते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि इसके द्वारा भावो की अधिक अच्छी अभिव्यक्ति हो सकती है। भाव एक ऐसा शब्द है जो विचार, वेदना (feeling) और अभिवृत्ति (attitude) सभी का द्योतक है। तीसरी विशेषता यह है कि इस माध्यम के द्वारा सूक्ष्म भावों को भी व्यक्त कर सकते हैं। चौथी विशेषता यह है कि इस माध्यम में सन्दिग्धता और अस्पष्टता बहुत कम होती है। किन्तु हृदय के अन्तस्तम भाव इस माध्यम से भी पूर्ण रूप से नहीं व्यक्त हो सकते। यदि हम इस कला को साहित्य के व्यापक अर्थ में लें और इसमें उपन्यास, कहानी इत्यादि का भी समावेश कर लें—नाटक तो भारतीय दृष्टि से काव्य के अन्तर्गत आ जाता है—तो इसके द्वारा हम घटना का भी वर्णन कर सकते हैं और चरित्र-चित्रण भी।

अब हम संगीत को लें। इसका माध्यम स्वर और लय है। यह माध्यम भी बिल्कुल आंतरिक है। हमको इसे बाहर से नहीं एकत्र करना पड़ता। संगीत में दो ऐसी विशेषताएं हैं जो अन्य किसी कला में नहीं हैं। एक है काकु। काकु शब्द 'कै' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'लोकोपतापयोः"—ध्वनि की वह लोचना या लचीलापन जिसके द्वारा हृदय का उपताप या सूक्ष्मतम भाव व्यक्त किया जा सकता है। यह शक्ति केवल ध्वनि में है, शब्द में नहीं है।

दूसरी विशेषता यह है कि ध्वनि मे कर्षण गुण है। इसको हम कई मात्राओं तक खींच

सकते हैं। शब्द को हम कुल अर्थात् तीन मात्रा तक ही खींच सकते हैं। इससे अधिक खींचने में शब्दत्व की हानि हो जायगी और वह ध्वनि में ही परिवर्तित हो जायगा।

इन दो विशेषताओं के कारण संगीत में जो सूक्ष्मतम भावों को व्यक्त करने की शक्ति है, वह अन्य किसी कला में नहीं है।

एक बात और है। स्वर के माध्यम में जो अव्यवहितत्व अथवा अनन्तरता (immediacy) है, वह अन्य किसी माध्यम में नहीं है। शब्द भी भाव और अभिव्यक्ति के बीच में एक व्यवधान है, परन्तु ध्वनि और भाव में कोई व्यवधान नहीं है। ध्वनि या स्वर भाव की वह सहज भाषा है जो पशुओं तक में व्याप्त है। ध्वनि एक हृदय से तरंगित होती है और दूसरे हृदय तक जाती है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस भाषा में कोई काव्य लिखा गया है, यदि हम उस भाषा को नहीं जानते तो हम उसका कोई आस्वादन नहीं कर सकते। किन्तु स्वर तो मानव मात्र की मातृभाषा है। वह मस्तिष्क के द्वारा नहीं समझा जाता। उसकी अभिव्यक्ति केवल हृदय के स्पन्दन में होती है और उसके द्वारा पशु और पक्षी तक प्रभावित होते हैं।

कला का प्रियत्व

हमने कला की विशेषताओं को समझने का प्रयत्न किया है। यहीं पर एक और समस्या पर हमको विचार करना होगा। क्या कारण है कि कला की निर्मिति हमको इतनी प्रिय और सरस प्रतीत होती है। दूसरे शब्दों में कला के रसग्रहण (appreciation) का क्या सिद्धान्त है ?

इस विषय में भी कई मत हैं। उनमें से मुख्य मतों पर हम यहाँ विचार करेंगे।

व्याजात्मक मत

एक मत यह है कि कला का आस्वादन एक प्रकार का व्याज है। हम इसको क्रीड़ात्मक मत भी कह सकते हैं। इस मत के लैंग, ग्रूस इत्यादि समर्थक हैं। उनका यह कहना है कि कला के आस्वादन और क्रीड़ा या खेल मे समता है। दोनों अव्यावहारिक हैं, आह्लादकर और इच्छात्मक हैं। सभी कलात्मक व्यापार एक प्रकार का प्रवंचनात्मक खेल है। खेल दो प्रकार का होता है—प्रवंचनात्मक और गम्भीर। कला प्रवंचनात्मक खेल के समान है। वह एक अति-सज्जित, रंजक, परिमार्जित, प्रवंचनात्मक खेल है। इसका मुख्य तत्त्व एक सचेत आत्म-प्रवंचना या व्याज है। प्रवंचनात्मक खेल वह होता है जिससे खिलाड़ी अपने को वह व्यक्ति मान लेते हैं जिसको वे अच्छी तरह जानते हैं कि वे वह व्यक्ति नहीं हैं। प्रत्येक कलात्मक व्यापार और उसका रसग्रहण (appreciation) इसी छद्म अथवा व्याज से परिपूर्ण है। कल्पनात्मक को वास्तविकवत् मान लेना ही इसका सार है। कला के रसग्रहण में विश्वास अथवा अविश्वास का प्रश्न नहीं होता। वह विश्वास का व्याज मात्र है। कुछ लोगों का यह कहना है कि इसमें विश्वास का व्याज नहीं होता, केवल अविश्वास का स्थगन या निलम्बन हो जाता है। हम अपने रसग्रहण में इस बात को असंगत समझते हैं कि यह वास्तविक है या नहीं।

भावात्मक मत

रिचर्ड्स और उसके अनुयायी यह कहते हैं कि विश्वास अथवा अविश्वास का प्रश्न तो विषय-वस्तु या कथा के सम्बन्ध मे उठता है। हमारा तो यह मत है कि काव्य अथवा कला की भाषा केवल भावात्मक है तथ्यात्मक है ही नहीं। काव्य किसी तथ्य का निर्देशन करता ही नहीं. यह केवल भाव का चित्रण, अनुमोदन अथवा उद्दीपन करता है। रिचर्ड्स के इस मत पर

देशों में बहुत विचार हुआ है। इलियट, कून्थब्रूक्स जैसे विद्वानों ने अंशतः या पूर्णतः इसका समर्थन किया है।

रिचर्ड्‌स के मत के अनुसार काव्य केवल भावात्मक अभिवृत्तियों का चित्रण है और इस अभिवृत्ति का आस्वादन बिना तथ्यों की स्वीकृति, अस्वीकृति अथवा व्याज के किया जा सकता है। काव्य क्या कहता है, इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है, काव्य अपने में क्या है, केवल इतने से ही हमारा प्रयोजन है। काव्य अपने मे केवल हमारी भावात्मक अभिवृत्तियों का सघटित चित्रण है।

यदि हम किसी कविता को ठीक से पढ़ें, तो विश्वास अथवा अविश्वास का प्रश्न ही नही उठता। यह प्रश्न तो केवल वैज्ञानिकों, धार्मिक अथवा नैतिक व्यक्तियों के लिए है जो कला के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कार्य-कलाप मे लगे हुए हैं।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो काव्य भाव-चित्रण मात्र नही है। हमें काव्य को उसकी समग्रता में लेना चाहिए। उसके भाव, अलंकार छन्द, तथ्य-निर्देशन इत्यादि अंग हैं। यदि हम उसके अन्य अंगो को छोड़कर केवल भाव को पूर्ण कविता मान बैठें, तो हम उसकी समग्रता मे उसे नहीं देख या पढ़ रहे हैं। हम उसके एक पक्ष को पूर्ण मान बैठने की भ्रान्ति कर रहे हैं। केवल भाव पर बल देना कविता का व्यावर्तक रूप होगा, सम्पूर्ण रूप नहीं।

यह मत आंशिक है कि काव्य केवल भावों का प्रस्तुतीकरण या चित्रण करता है। काव्य या साहित्य तो मानव की ऐसी सूक्ष्म अनुभूतियों का चित्रण करता है जिनका चित्रण कोई भी मनोवैज्ञानिक आज तक नहीं कर पाया है।

व्याजात्मक मत में यह दोष है कि उसने यह मान लिया है कि कला में जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब असत्य है। हम व्याजरूप में उसको सत्य मानकर उसका आस्वादन करते हैं। यह सर्वथा सत्य नही है। कला में मानवीय अनुभूतियों के तथ्य का भी निर्देशन होता है जिसका स्पष्टीकरण व्याजात्मक सिद्धान्त से नही हो सकता। केवल कथावस्तु को कला का सार मान लेना कला के साथ अन्याय करना है।

फ्रायड का अभिलाषात्मक मत

इस मत का संक्षेप में पहले भी हम उल्लेख कर चुके हैं। फ्रायड चेतना की मूल प्रवृत्ति को रत्यात्मक मानते हैं और मन के अचेतन स्तर को वह चेतन स्तर से अधिक व्यापक और प्रभावशाली मानते हैं। उनका मत है कि जब समाज के बन्धनों के कारण हम अपने रत्यात्मक अभिलाष की तृप्ति नहीं कर पाते और उनका बलपूर्वक निग्रह कर देते हैं, तब वे अभिलाष हमारे मन के अचेतन स्तर में निमग्न हो जाते हैं। कला और कुछ नहीं है, इन्हीं अभिलाषों की कल्पना द्वारा तृप्ति है और कला का आस्वादन भी अपने विफलीभूत, व्याहृत अभिलाषों की तृप्ति है। कलाकृति और उसका आस्वादन दोनों व्याहृत अभिलाषों की कल्पनात्मक तृप्ति हैं। कला की विषयवस्तु रत्यात्मक अभिलाषो की पूर्ति है, केवल उसका ढाँचा, उसके सौन्दर्यबोधक शब्दों, वर्णों अथवा मधुर स्वरो का प्रदर्शन है।

पहले तो यही भ्रान्त धारणा है कि मानव के सभी अभिलाष रत्यात्मक या लैंगिक (sexual) हैं। बड़े होने का अभिलाष, अधिकार का अभिलाष, विजय का अभिलाष, समाजसेवा या देश-सेवा का अभिलाष, मुक्ति का अभिलाष इत्यादि कथमपि लैङ्गिक नहीं कहे जा सकते।

यह सत्य है कि कला की अभिव्यक्ति में कल्पना का बहुत भारी आधार है किन्तु यह सब

नहीं है कि सभी कल्पना रत्यात्मक होती है। व्यास ने महाभारत की, वाल्मीकि और तुलसीदास ने रामायण की रचना अपनी रत्यात्मक प्रवृत्ति की तृप्ति के लिए नहीं की थी।

फ्रायड के मत से वीर, रौद्र, हास्य, अद्भुत, शान्त इत्यादि रसों का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। उनके मत से निकृष्ट और उत्कृष्ट कला का भेद भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

टॉल्स्टॉय का भावात्मक मत

टॉल्स्टॉय के मत से कलाकृति और कला का आस्वादन दोनों ही भावात्मक भोग हैं। उनका मत यह है कि अपने अनुभूत भावों का आह्वान और दूसरों के प्रति उनका संचारण ही कला का उद्देश्य है। उनका विश्वास है कि उत्तम कलाकृति और उसके आस्वादन के द्वारा मानव-चित्त एकता के सूत्र में ग्रथित होगा और इससे उसका आध्यात्मिक अभ्युदय होगा।

टॉल्स्टॉय के मत में यह भ्रान्ति है कि उन्होंने मान लिया है कि भाव के संचारण से दूसरे में उसका भोग उत्पन्न हो जायगा। कलाकार एक भाव व्यक्त करता है। यह आवश्यक नहीं है कि दूसरे सब उससे प्रभावित हों।

भाव कला का अंश या अंग मात्र है। अंग को अंगी समझ लेना यह दूसरी भ्रान्ति है। तीसरी भ्रान्ति यह है कि वह केवल आध्यात्मिक भाव को कला का सार मानते हैं। इससे कला का क्षेत्र बहुत ही परिसीमित हो जायगा।

विमर्शात्मक आस्वादन (Art as Contemplation)

इकेस, ब्लो आदि विद्वानों ने विमर्शात्मक आस्वादन ही कला का रसग्रहण माना है। यही मत सर्वोत्कृष्ट है, किन्तु इस आस्वादन का वे पूर्ण विश्लेषण नहीं कर पाये हैं। इसका पूर्ण विवेचन भारतीय चिन्तकों ने किया है जिसका हम आगे प्रतिपादन करेंगे।

भारतीय संस्कृति में कला-सम्बन्धी चिन्तन

भारतीय संस्कृति में सभी कलाओं के विषय में उतना विस्तृत चिन्तन नहीं हुआ है जितना कि पाश्चात्य देशों में। यहाँ कला-सम्बन्धी चिन्तन मुख्यतः काव्य और नाटक के सन्दर्भ में हुआ है। किन्तु यह चिन्तन जिन निष्कर्षों पर पहुँचा है, वे अद्वितीय और अनुपम हैं।

लगभग डेढ़-हज़ार वर्ष से इस विषय पर निरन्तर चिन्तन होता रहा और अनेक ग्रन्थ लिखे गये जिनमें से कुछ खो भी गये हैं। शब्द, अर्थ, छन्द, अलंकार, अभिनय, रस, ध्वनि इत्यादि विषयों पर यहाँ के चिन्तकों ने पर्याप्त विचार किया है। उनके सब मतों पर यदि विचार किया जाय तो पूरे एक ग्रंथ की आवश्यकता होगी हम यहाँ पर केवल मुख्य निष्कर्षों की चर्चा करेंगे। संक्षेप में यह कह देना आवश्यक है कि भारतीय चिन्तन का दृष्टिकोण मुख्यतः आध्यात्मिक रहा है।

भारतीय चिन्तन में सौन्दर्य-बोध

मैक्समूलर जैसे विद्वान् जो भविष्य-दर्शन के मर्मज्ञ हैं, की यह धारणा है कि हिन्दू-चिन्तन में प्रकृति के सौन्दर्य का बोध नहीं दिखलाई देता। पहले तो यह कथन बिलकुल ठीक नहीं है क्योंकि संस्कृत काव्यों में प्रकृति के सौन्दर्य का पर्याप्त वर्णन है, ऋतुओं के सौन्दर्य का मनोहर चित्रण है। दूसरे 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग कम हुआ है, क्योंकि 'सौन्दर्य' शब्द प्रायः वस्तुनिष्ठ है। उसके स्थान पर 'रमणीयता' अथवा 'चारुत्व' शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है। उसका एक दार्शनिक कारण है। पाश्चात्य विद्वान ने सत्ता को दो खण्डों में विभाजित कर दिया था – प्रमातृनिष्ठ अथवा त्यत्निष्ठ (subjective), प्रमेयनिष्ठ अथवा वस्तुनिष्ठ (objective)।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने, विशेषकर आइन्स्टाइन ने, इस मत का खण्डन किया है। उनका कहना है कि कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो केवल दृश्य हो। सभी दृश्य, सभी प्रमेय, द्रष्टा, प्रमाता के सापेक्ष हैं। सुन्दर केवल वस्तुनिष्ठ नहीं है। उसमें द्रष्टा वा प्रमाता की दृष्टिभंगि विद्यमान है। इस दृष्टि से सुन्दर से 'रमणीयता' शब्द अधिक उपयुक्त है, क्योंकि 'रमणीयता' में दृश्य और द्रष्टा, जिसके द्वारा वह रमण करने के योग्य है, दोनों का अंश विद्यमान है।

'रमणीयता' का अर्थ पण्डितराज जगन्नाथ ने इस प्रकार दिया है—

'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता' अर्थात् 'रमणीयता' वह है जो चित्त में एक लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करे। 'रमणीयता' कला-सम्बन्धी शब्द है। कला द्वारा केवल इन्द्रिय-गोचर आनन्द नहीं होता। इन्द्रियगोचर आह्लाद लौकिक है। कलागत आह्लाद अलौकिक होता है। इसको व्यक्त करने के लिए 'रमणीयता' शब्द अधिक उपयुक्त है।

माघ ने तो यहाँ तक कह डाला है—"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"—रमणीयता वह है जो प्रत्येक क्षण मे नवत्व आभासित करे। कालिदास ने भी द्रष्टा के दृष्टिकोण से ही कहा है, "सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वम् आकृति विशेषाणाम्"—विशेष आकृतियाँ सभी अवस्थाओं में रमणीय होती हैं।

अतः 'रमणीय' शब्द कला की दृष्टि से सुन्दर से अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसमें दृश्य के साथ द्रष्टा की सापेक्षता विद्यमान है।

सौन्दर्य-बोध का वास्तविक वर्णन केवल वस्तु अथवा विषय की दृष्टि से नहीं हो सकता।

रस की अवधारणा

भारतीय चिन्तन में रस की अवधारणा विश्व के सौन्दर्यशास्त्र को बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिदान है। इस रस की अवधारणा पर हम दो दृष्टियों से विचार करेंगे—मनोवैज्ञानिक और तात्त्विक।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि

रस का अर्थ होता है—सार, जूस और आस्वादन। जब हम किसी खाद्य पदार्थ को चबाते हैं, उसके रस को जिह्वा के द्वारा आस्वादन करते हैं और इस आस्वादन में आह्लाद का अनुभव करते हैं, तब हम कहते हैं कि इसमे इसको बहुत रस मिला। 'रस' शब्द से हमें चर्वणा, आस्वादन और आह्लाद, तीनों का बोध होता है। कला में 'रस' शब्द मुख्यतः भाव के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है। भाव का स्वभाव यह है कि वह क्रिया की ओर प्रवृत्त होता है। जब हमको क्रोध आता है, तब हमारी मुट्ठी बँध जाती है, हमारा चेहरा लाल हो जाता है, हम आघात करने पर उद्यत हो जाते हैं। जब हमें भय होता है, तब हम भागते हैं इत्यादि, किन्तु जब भाव की यह प्रवृत्ति निरुद्ध हो जाती है, जब वह हमारे व्यक्तिगत मानसिक दशा को नहीं व्यक्त करता, तब हम मन-रूपी जिह्वा से उसकी चर्वणा कर, उसका स्वाद लेते है और आह्लाद का अनुभव करते हैं। इस मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम उसको 'रस' कहते हैं।

तात्त्विक दृष्टि

किन्तु इससे बढ़कर तात्त्विक दृष्टि है। इन्द्रियों और मन के द्वारा तो हम चारों ओर केवल नानात्व का ही अनुभव करते हैं। वैदिक काल से ही भारतीय चिन्तक इस खोज में लगे रहे कि इस नानात्व के भीतर क्या कोई एकत्व भी है जो सबको एक सूत्र मे ग्रथित करता है। वैदिक चिन्तन

का जो चरम उत्कर्ष है जिसे उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं और कश्मीर का शैवागम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस नानात्व-संकुल बिम्ब का एक अधिष्ठान है जिसको हम नास्तिवाची शब्दों के द्वारा ही अभिहित कर सकते हैं, किन्तु जिसको हम एक 'अस्तिवादी सच्चिदानन्द' शब्द के द्वारा इंगित कर सकते हैं। उस तत्त्व का एक स्फुलिंग हमारे भीतर आत्मा के रूप में विद्यमान है और वह बिम्ब में भी निहित है।

वह चित्स्वरूप तो है ही, वह आनन्दस्वरूप भी है। भारतीय चिन्तन में एक क्रान्ति और हुई। पहले यह विश्वास था कि हमारा साम्प्रतिक जीवन केवल एक अधिक उच्चतर जीवन का मार्ग है। हमारे जीवन का वास्तविक लक्ष्य स्वर्ग है जहाँ हम देवताओं के साथ निवास करेंगे। उपनिषद्-काल से इस विश्वास में भी परिवर्तन हुआ। हमारे चिन्तक अब इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि जीवन का चरम लक्ष्य कालान्तर में नहीं प्राप्त करना है, इसी जीवन में, इसी कालतट पर उसे प्राप्त करना है। इसे उन्होंने जीवनमुक्ति कहा है। अब यह सिद्धान्त हुआ कि जीवन के चरम, परम लक्ष्य को संसार के बाहर नहीं प्राप्त करना है, इसी संसार में ही वह प्राप्त किया जा सकता है। अब हमारे चिन्तक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वह लक्ष्य भावों की शुद्धि और पवित्रता द्वारा प्राप्त हो सकता है। इन्हीं चिन्तकों का परिणाम है रसशास्त्र।

तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है—"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति"। इस विश्व और जीवन का परमतत्त्व रस है। रस से ही मानव को आनन्द मिलता है। एक जगह पर और कहा है—"आनन्दो ब्रह्मेति"। 'रस' शब्द का दो अर्थ है—सार और रसनीय आनन्द-स्वरूप। ब्रह्म ही समस्त विश्व का, समस्त जीवन का रस है, आनन्द है। वह विश्व के ऐक्य और समरसता का व्यंजक है। जब यह कहा जाता है "काव्यस्य आत्मा रसः", तो 'आत्मा' शब्द का इस उक्ति में केवल आलंकारिक प्रयोग नहीं है, उसके द्वारा उसी ऐक्य और समरसता की ओर संकेत है जो समस्त विश्व और जीवन का सार है।

जीवन में हम केवल सुख और दुःख का अनुभव कर सकते हैं। आनन्द सुख और दुःख दोनों से परे है। उसका अनुभव तभी हो सकता है जब हमें उस सार का, उस ऐक्य का, उस समरसता का अनुभव हो जो विश्व के उर में अव्यक्त रूप से विद्यमान है। इसका अनुभव योगियों को योग के द्वारा होता है। कला भी एक प्रकार का योग है। कला के माध्यम से भी उस ऐक्य का, उस आनन्द का हमको एक क्षणिक अनुभव होता है। इसीलिए हमारे चिन्तकों ने कहा है कि कला का आत्मा रस है।

पाश्चात्य चिन्तकों ने कहा है कि कला सौन्दर्य का व्यंजक है। किन्तु सौन्दर्य क्या है—जब यह प्रश्न होता है, तब भिन्न-भिन्न उत्तर मिलते हैं और वे भी वस्तु के बाहरी रूप की दृष्टि से। कोई कहता है सामंजस्य (symmetry) सौन्दर्य है, कोई कहता है समानुपात (proportion) सौन्दर्य है। जितने सौन्दर्य-बोध के लेखक हैं, उतनी ही पृथक्-पृथक् सौन्दर्य की अवधारणा है। भारतीय चिन्तकों के अनुसार ये सब सौन्दर्य नहीं है, केवल सौन्दर्य के बाह्य दृश्य चिह्न है। ये सभी दृष्टियाँ उस आधार, ऐक्य और रस को इंगित करती हैं जो सब में व्याप्त हैं। वही ऐक्य, वही सार वास्तविक सौन्दर्य है और वही वास्तविक रस है। हम केवल उसके बाह्य चिह्नों को देखते हैं और प्रसन्न होते हैं, किन्तु वास्तविक सौन्दर्य इन्द्रियातीत है। यह तो वह रस है जिसका एक क्षणिक अनुभव सत्त्वोद्रेक के ही द्वारा हो सकता है हम दैनदिन के जीवन के चक्कर में इस प्रकार फँसे

रहते हैं कि उसका हमको आभास ही नहीं होता। जब कला के द्वारा इस चक्कर में थोड़ा व्यवधान होता है, तब सहृदय को उस रस का क्षणिक अनुभव होता है।

भरत का रस-सूत्र

नाटक के सन्दर्भ में वर्षों से अनुसंधान और प्रयोग के अनन्तर भरत ने नाट्यशास्त्र में रस-सूत्र को उपस्थापित किया। वह इस प्रकार है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"। अर्थात्, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि-भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। पहले तो हमको यह समझ लेना है कि कवि किसी कथा या तथ्य को जीवन से उठाकर एक दूसरे धरातल पर ले आता है जिसमें परिकल्पना का पर्याप्त अंश रहता है। किसी भी कलाकृति का आधार जीवन होता है, किन्तु वह जीवन का फोटो नहीं है, उसका चित्रण है। कवि जब लोक से, जीवन से उठाकर भाव को काव्य के धरातल पर ले आता है, तभी वह रस में परिणत होता है। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में रस-स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है:

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृत॥ (पृ० २७-२८)

अर्थात्, लोक में रति आदि रूप स्थायी भाव के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक अथवा काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभावादि से व्यक्त वह रति आदि रूप स्थायी भाव रस कहलाता है।

लोक में भाव वह है जो होता है, जो हम पर गुजरता है, जो घटित होता है। काव्य में भाव वह है जो हमें भावित करता है, जो प्रदर्शित है, जो प्रकटीकृत है, कल्पना में उपन्यस्त है, जो भावमय चिन्तन करवाता है। काव्य में, नाटक में कलाकार हमको लोक के धरातल से उठाकर एक दूसरे लोक में पहुँचा देता है। लोक में भाव है। काव्य में वह रस में परिणत हो जाता है। रस को समझने के लिए हमें स्थायी भाव को मुख्यतः समझना होगा।

स्थायी भाव मन में स्थिर रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है जो अनुकूल उद्बोधक सामग्री को पाकर अभिव्यक्त हो जाता है और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार करता है। इसी स्थायी भाव की अभिव्यक्ति आस्वाद्यमान होने के कारण रस कहलाती है। इसलिए मम्मट ने कहा है "व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः"।

स्थायीभाव का वर्णन विशुद्ध मनोवैज्ञानिक आधार पर काव्यशास्त्र ने किया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में इसका सबसे उत्तम प्रतिपादक मैग्डूगल है। मैग्डूगल का कहना है कि मानव के भीतर एक प्रकृति-प्रदत्त शक्ति है जिसे मूलप्रवृत्ति या सहज प्रवृत्ति (instinct) कहते हैं। प्रत्येक मूलप्रवृत्ति एक नैसर्गिक भाव (emotion) से सम्बद्ध है। इस मूलप्रवृत्ति के कारण व्यक्ति किसी विशेष पदार्थ की ओर प्रवृत्त होता है और उसकी उपस्थिति में एक विशेष प्रकार के मनःक्षोभ (emotion) का अनुभव करता है। जिसको मैग्डूगल ने मूलप्रवृत्ति से सम्बद्ध मनःक्षोभ कहा है, उसे साहित्य ने स्थायीभाव कहा है। स्थायीभाव एक ऐसा शब्द है जिसमें मैग्डूगल का instinct और emotion दोनों अनुस्यूत हैं। 'स्थायी' शब्द नैसर्गिक प्रवृत्ति का सूचक है और 'भाव' शब्द मनःक्षोभ या emotion का मनोविज्ञान ने मूलप्रवृत्तियों के साथ भावों के सम्बन्ध का निरूपण तो

कर दिया, किन्तु मनोविज्ञान को और पाश्चात्य सौन्दर्य-बोध (aesthetics) को यह नहीं सूझा कि कला के माध्यम से ये भाव रस में परिणत हो जाते हैं। यह कार्य भारतीय साहित्यशास्त्र ने किया है। यह हमारी संस्कृति की बड़ी विशेषता है। यह विश्व-साहित्य को एक अनुपम परिदान है।

निम्न सारणी में हम देखेंगे कि यद्यपि मनोवैज्ञानिक सूची में मूलप्रवृत्तियाँ केवल भाव तक सीमित हैं, साहित्य की सूची में वे रस का मूल निमित्त बनती हैं --

मूलप्रवृत्ति (instinct)	मनःक्षोभ (emotion)	स्थायीभाव	रस
१. आत्मरक्षा	भय	भय	भयानक रस
२. युयुत्सा	क्रोध	क्रोध	रौद्र रस,
३ निवृत्ति	घृणा	जुगुप्सा	वीभत्स रस
४ शरणागति	शोक, दुःख	शोक	करुण रस
५. कामप्रवृत्ति	रति	रति	शृंगार रस
६ कौतूहल	आश्चर्य	विस्मय	अद्भुत रस
७. आमोद	हास	हास	हास्य रस
८. आत्महीनता	दैन्य	निर्वेद	शान्त रस
९. आत्माभिमान	उत्साह	उत्साह	वीर रस

इन प्रारम्भिक शब्दों के साथ हम भरत के रससूत्र पर विस्तृत विचार करें। इस सूत्र का पहला शब्द विभाव है। यह दो प्रकार का होता है—आलम्बन और उद्दीपन। जिसको आलम्बन करके सामाजिक के मन में रस की अभिव्यक्ति होती है—जैसे नाटक में राम और सीता, उसको आलम्बन विभाव कहते हैं। चाँदनी, उद्यान, एकान्त स्थान इत्यादि के द्वारा रति के स्थायी भाव का उद्दीपन होता है इसे शृङ्गार रस का उद्दीपन विभाव कहते हैं। प्रत्येक रस के आलम्बन और उद्दीपन विभाव भिन्न होते हैं। जो विशेष रूप से हमें भावित करे, वह विभाव है।

अनुभाव

स्थायिभाव रसानुभूति का आभ्यन्तर कारण है। आलम्बन और उद्दीपन विभाव उसके बहिरंग कारण हैं। अनुभाव का विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण में इस प्रकार का लक्षण दिया है—

> "उद्‌बुद्धं कारणैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
> लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः" ॥ ३, १३२

अर्थात्, अपने-अपने आलम्बन और उद्दीपन कारणों से स्थायी भाव को जो बाह्यरूप में प्रकाशित करता है, वह काव्य और नाट्य में अनुभाव कहलाता है। मनोविज्ञान में इसी को physiological expression of emotion, अर्थात् भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति कहते हैं।

नाटक में अनुभाव का विशेष उपयोग अभिनय की दृष्टि से होता है। रसानुभूति का जो अनुभव कराता है, यह अनुभाव है।

व्यभिचारिभाव

भरत ने व्यभिचारी भाव का निर्वचन इस प्रकार से किया है। यह शब्द वि+अभि+चर् धातु से निष्पन्न हुआ है 'वि' उपसर्ग का अर्थ है विविध। अभि उपसर्ग का अर्थ है आभि-

मुख्येन', चरन्तीति व्यभिचारिणः। इसका तात्पर्य यह है कि रसों में जो नाना रूप से विचरण करके उनको आस्वाद के योग्य बनाते हैं, वे व्यभिचारी भाव हैं।

भरत के रससूत्र की व्याख्या

भरत का रससूत्र है "विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।" विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के अर्थ में कोई वैमत्य नहीं है, किन्तु 'निष्पत्ति' शब्द का क्या तात्पर्य है, इस पर काव्यशास्त्र के आचार्यों में पर्याप्त वैमत्य है। निष्पत्ति के अर्थ मे चार प्रकार के मत हैं—१. उत्पत्तिवाद, २. अनुमितिवाद, ३. भुक्तिवाद और ४. अभिव्यक्तिवाद।

१. उत्पत्तिवाद

इसके प्रतिपादक भट्ट लोल्लट हैं। उनके अनुसार विभाव, अनुभाव इत्यादि के संयोग से अनुकार्य राम में रस की उत्पत्ति होती है। विभाव सीता आदि रस के उत्पादक होते हैं। अनुभाव उसको बोधित करने वाले होते हैं। व्यभिचारिभाव उस रस के परिपोषक होते हैं। स्थायिभाव के साथ विभावों का उत्पाद्य-उत्पादक भाव, अनुभावों का गम्य-गमक भाव और व्यभिचारिभावों का पोष्य-पोषक भाव रूपी सम्बन्ध होता है। भरत के सूत्र में जो 'संयोग' शब्द है, उसका भी लोल्लट के मत में तीन अर्थ है। विभावों के साथ संयोग का अर्थ है उत्पाद्य-उत्पादक भाव, अनुभावों के साथ गम्य-गमक भाव और व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषक भाव।

भरत-सूत्र में जो 'निष्पत्ति' शब्द आया है, उसके भी तीन अर्थ हैं। विभाव के साथ स्थायि-भाव के संयोग होने पर, रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है। अनुभावों के साथ उसके संयोग होने पर रस की निष्पत्ति अर्थात् प्रतीति होती है। व्यभिचारिभावों के साथ उसके संयोग होने पर रस की निष्पत्ति अर्थात् पुष्टि होती है।

इस मत का दोष

इस मत का मुख्य दोष यह है कि इसमें मुख्य रूप से अनुकार्य में और गौण रूप से नट मे रस की उत्पत्ति मानी गई है। सामाजिक में रस की उत्पत्ति होती है या नहीं; और, यदि होती है तो क्यों और कैसे—इस पर कोई विचार नही किया गया है। दूसरा दोष यह है कि अनुकार्य राम आदि तो अब हैं नहीं, उनमें रस की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यदि अनुकार्य में रस की उत्पत्ति नहीं बन सकती, तो उनके अनुकर्ता में कैसे बनेगी?

२. अनुमितिवाद

इस मत के प्रतिपादक शंकुक हैं। उन्होंने न्याय के अनुसार इस सूत्र की व्याख्या की है। उन्होंने सामाजिक में रस की अनुभूति दिखलाने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार नट कृत्रिम रूप से अनुभाव इत्यादि का अभिनय करता है। उनके सौन्दर्य के बल से उनमें वास्तविकता-सी जान पड़ती है। सामाजिक, नट में न विद्यमान होने पर भी, रस का अनुमान कर लेता है। यह चित्र-तुरग न्याय से नट को अनुकार्य ही मान लेता है। अपनी वासना के वशीभूत वह नट में अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है। इस व्यवस्था में रस-सूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ गम्य-गमक भाव मान लिया गया है और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' मान लिया गया है।

न्यायशास्त्र में अनुमिति प्रधान है। इसलिए शंकुक का यह अनुमितिवाद न्यायशास्त्र पर प्रतिष्ठित माना जाता है।

इस मत का दोष

शंकुक के मत से नट जो कृत्रिम राम बना हुआ है, उसमें रस का अनुमान होता है। पर उस अनुमान से सामाजिक में रस का कैसे अनुभव होता है, इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। इस अनुभव का अनुमान के द्वारा उत्पादन नहीं हो सकता। अनुमान से होने वाला ज्ञान तो परोक्ष होता है और अनुभव तो अपरोक्ष होता है। और अनुमान तो सब कृत्रिम आधार पर किया गया है।

३. भुक्तिवाद

इसके प्रतिपादक भट्टनायक हैं। उन्होंने शब्द में अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' दो नयी शक्तियाँ मानी हैं। उनके अनुसार अभिधा अथवा लक्षणा से जो काव्य का अर्थ सम्पन्न होता है, उसको भावकत्व परिष्कृत करके सामाजिक के भोग के योग्य बना देता है।

काव्य या नाटक में जो घटना होती है, वह व्यक्तिगत होती है। शब्द की भावकत्व-शक्ति घटना अथवा कथा में से व्यक्तिगत सम्बन्ध हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर देती है। उस साधारणीकरण से सामाजिक का उस कथा से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार उस कथा में जो वास्तविक नायक-नायिका की स्थिति थी, साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक की वही स्थिति हो जाती है। यह शब्द की भावकत्व-शक्ति का परिणाम है।

जब भावकत्व-व्यापार से काव्यार्थ का साधारणीकरण हो जाता है, तब शब्द का भोजकत्व व्यापार अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है। भोजकत्व सामाजिक को रस का अपरोक्षात्मक 'भोग' करवाता है। भट्टनायक का यह सिद्धान्त भुक्तिवाद कहलाता है।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में भट्टनायक के इस सिद्धान्त को संक्षेप में इन शब्दों में व्यक्त किया है :

"न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।"

प्रो० हिरियण्ण के अनुसार इस उपपादन में मम्मट ने तीन तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

पहला तथ्य है कला में प्रत्युत्स्थापित घटना या पदार्थ के विषय में। इसका उद्देश्य कोई व्यक्ति-विशेष नहीं होता। जीवन में जाने या अनजाने प्रत्येक विषय को या तो अपने से (आत्मगत) अथवा अन्य से (ताटस्थ्येन) सम्बन्ध रहता है, किन्तु कलाकृति सर्वथा निर्वैयक्तिक होती है। जीवन में व्यक्तिगत सम्बन्ध का अतिक्रमण सम्भव नहीं है। कला ही ऐसा क्षेत्र है जिसमें हम अल्पकाल के विषयों के सम्बन्ध से छुटकारा पा जाते हैं।

दूसरा तथ्य काव्य के आस्वादन के विषय में है। भट्टनायक के अनुसार इस आस्वादन के तीन प्रक्रम हैं। पहला प्रक्रम है काव्य के शब्दों का अर्थ अच्छी तरह समझना। दूसरा प्रक्रम है उनके द्वारा चित्र का साधारणीकृत भाव में पहुँच जाना और तीसरा प्रक्रम है आस्वाद या आह्लाद की अनुभूति। पहली प्रक्रिया अभिधा है। दूसरी प्रक्रिया भावना है। तीसरी प्रक्रिया भोगीकरण है।

तीसरा तथ्य रसानुभूति के विषय में है। यह रसानुभूति संविद्विश्रांति की अवस्था होती है। यह अवस्था सभी व्यक्तिगत व्यावहारिक ओं से भिन्न होती है। इस अवस्था पर हम अलग से विचार करेंगे।

भुक्तिवाद मत की आलोचना

भट्टनायक ने उक्त प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक में रस की अनुभूति का प्रयत्न किया है, किन्तु वह पूर्णरूपेण सफल नहीं हुए हैं। उन्होंने जो भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना की है, वह अनुभवसिद्ध नहीं है। यह स्पष्ट नहीं है कि अभिधा के आधार पर ये दो नये व्यापार किस प्रकार खड़े हो जाते हैं।

४. अभिव्यक्तिवाद

इस मत के प्रतिपादक अभिनवगुप्त हैं। उन्होंने आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित ध्वनि अथवा व्यंजना के आधार पर अपना मत बनाया है।

उनके मत की पहली विशेषता यह है कि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिकगत स्थायिभाव ही रसानुभूति का निमित्त है। वासना अथवा संस्कार के रूप में स्थायिभाव सामाजिक के चित्त में स्थित रहता है। वह साधारणीकृत विभाव आदि सामग्री से अभिव्यक्त होता है और तन्मयीभाव के द्वारा वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य आनन्द के रूप में अनुभूत होता है।

इन्होंने भावकत्व व्यापार के स्थान पर साधारणीकरण माना है जो कि भट्टनायक के भावकत्व से कुछ भिन्न नहीं प्रतीत होता। इन्होंने अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना व्यापार माना है और भरत के सूत्र में आये हुए शब्द 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' किया है। तन्मयीभाव इनके मत की एक और विशेषता है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि सात प्रकार के विघ्नों के अभाव मे रसास्वाद होता है। इनकी अभिव्यक्ति का अर्थ 'व्यंजना' है।

रस का अलौकिकत्व

अभिनवगुप्त ने रस को अलौकिक बतलाया है। रस के सम्बन्ध में भारतीय चिन्तन की एक और विशेषता है। लोक में जितने पदार्थ हैं, वे या तो 'कार्य' हैं या 'ज्ञाप्य'। पूर्वसिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है तो वह 'ज्ञाप्य' कहलाता है, जैसे घट जब दीपक के द्वारा ज्ञान का विषय बनता है, तब वह 'ज्ञाप्य' कहलाता है। यदि घट पहले से विद्यमान नहीं है, कुम्हार के द्वारा बनाया गया है, तो वह 'कार्य' कहलाता है। रस न तो 'कार्य' है न 'ज्ञाप्य'। कार्य कारक के न रहने पर भी विद्यमान रहता है। जैसे घट कार्य का कारक कुम्हार है। यदि उसका विनाश हो जाय, तब भी घट विद्यमान रहेगा। रस कार्य इसलिए नही है कि जो विभावादि उसके कारक हैं, उनके समाप्त हो जाने पर, रस की प्रतीति भी समाप्त हो जाती है। रस की प्रतीति न विभावादि के पहले रहती है, न विभावादि के बाद। इसीलिए मम्मट ने उसे "विभावादिजीवितावधिः" कहा है, अर्थात् रस के जीवन की अवधि विभावादि के विद्यमान रहने तक ही है। विभावादि के अभाव मे रस की प्रतीति नहीं होती। अतः रस कार्य नहीं हो सकता।

रस ज्ञाप्य भी नहीं है, क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान के पूर्व भी विद्यमान रहता है और ज्ञान के बाद में भी। किन्तु रस की सत्ता न तो अनुभव के पूर्व रहती है, न अनुभव के बाद। जब तक रस की अनुभूति होती है, तभी तक उसकी सत्ता है। अतः यह ज्ञाप्य और कार्य, दोनों प्रकार के लौकिक पदार्थों से भिन्न है, अतः यह अलौकिक है।

रस को अलौकिक कहने का दूसरा कारण यह है कि लोक मे दो ही हेतु होते हैं—कारक और ज्ञापक। विभावादि न कारक हैं, न ज्ञापक। वे केवल व्यंजक हैं। रस अभिव्यक्त होता है। न वह कार्य है, न ज्ञाप्य। इसलिए भी वह अलौकिक है

रस को अलौकिक कहने की तीसरी युक्ति यह है कि वह अपरोक्ष अनुभूति है, किन्तु न तो वह लौकिक प्रत्यक्ष है, न तो मित योगी का योगज प्रत्यक्ष है और न परिपक्व योगी का निर्विकल्प प्रत्यक्ष। वह इन सब से विलक्षण अपरोक्ष अनुभव है।

इसके अलौकिकत्व की चौथी युक्ति अभिनवगुप्तपादाचार्य ने दी है। उसको संक्षेप में आचार्य मम्मट ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

"तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य उभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति। न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।"

अर्थात्, रस की प्रतीति में विभावादि के ज्ञान की प्रधानता रहती है। इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान को उसका ग्राहक नहीं कह सकते, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान नाम, जाति इत्यादि विशेषण-विशेष्य भाव से रहित होता है। उसे सविकल्पक भी नहीं कह सकते, क्योंकि रसानुभूति स्वसंवेदन मात्र होती है। उसमें नामजात्यादि के भान का कोई अवसर नहीं होता। यह उभयाभाव-स्वरूप लोकोत्तरता को ही बोधित करता है।

रसानुभूति की विशेषता

रसानुभूति की मम्मट ने कुछ और विशेषताएँ बतलाई हैं। एक विशेषता यह है कि वह "पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः" होती है। वह पानक रस के समान आस्वाद्यमान होती है। पानक के घटक इलायची, कालीमिर्च, शकर, आम इत्यादि जो सामग्री हैं, केवल उन घटकों के योगफल का आस्वाद पानक रस में नहीं होता। उनके योगफल से अतिरिक्त, एक विलक्षण अनुभव पानक रस के स्वाद में होता है। इसी को आधुनिक मनोविज्ञान में 'गेस्टाल्ट' (Gestalt) कहते हैं। इसी प्रकार, रस की अनुभूति केवल विभाव, अनुभाव इत्यादि का योगफल नहीं है, वह इससे परे एक विलक्षण अनुभूति है।

दूसरे वह 'अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिव अनुभावयन्' होती है। वह अन्य सब प्रत्ययों को तिरोभूत करती हुई, ब्रह्मसाक्षात्कार की भाँति होती है। ब्रह्मसाक्षात्कार में अन्य सब प्रत्ययों की प्रतीति तिरोहित हो जाती है। वह अनुभव ब्रह्ममय हो जाता है।

तीसरी विशेषता रसानुभूति की यह है कि 'वह अलौकिक चमत्कारकारी' होती है। उसके अलौकिकत्व का वर्णन हम कर चुके हैं। चमत्कारकारी को हम समझ लें। चमत्कार वह आनन्द है जो विस्मयकारक होता है। जीव जीवन मे जो कुछ आनन्द समझकर भोगता है, उस सब से कलाप्रसूत आनन्द ऐसा अद्भुत प्रतीत होता है कि उसको ऐसा लगता है कि ऐसे आनन्द को तो हमने कभी अनुभव किया ही नहीं था। वह विस्मय से आकुल होकर 'अहा !' का अनुभव करता है। वह चमत्कृत हो जाता है।

चौथी विशेषता यह है कि अनुभूति न तो प्रत्यक्ष है, न अनुमिति है, न स्मृति है। यह सबसे विलक्षण स्वसंवेदन मात्र है।

रसानुभूति और ब्रह्मास्वाद

रसानुभूति ब्रह्मास्वाद नहीं है, ब्रह्मास्वाद-सहोदर है। मम्मट ने इसको "ब्रह्मास्वादमिव" अर्थात् 'ब्रह्मास्वाद-जैसा' कहा है। 'इव' इस तथ्य का द्योतक है कि ये दोनों अनुभव एक ही नहीं हैं। कुछ सादृश्य, कुछ भी है। सादृश्य यह है कि दोनों स्वसंवेदन हैं, दोनों

हैं। दोनों मे संविद्विश्रान्ति होती है। दोनों व्यक्तिगत आकांक्षाओं से परे है। दोनो निर्वैयक्तिक अवस्था के द्योतक हैं।

असादृश्य यह है कि रसानुभूति क्षणिक होती है क्योंकि अपने से अन्य विभावादि के द्वारा जनित होती है और इनके अभाव में समाप्त हो जाती है। ब्रह्मसाक्षात्कार अपने से अन्य साधनों के द्वारा जनित नहीं होता। दूसरे, ब्रह्मसाक्षात्कार में चित्त रूपान्तरित हो जाता है। रसानुभूति में केवल सत्त्व का उद्रेक होता है। ब्रह्मासाक्षात्कार में चित्त चित्त ही नहीं रह जाता। वह त्रैगुण्य से परे चित् मे परिवर्तित हो जाता है।

ब्रह्मसाक्षात्कार में जीव सदा के लिए जीवन की संकुचित आकांक्षाओं से ऊपर उठ जाता है। उसका अहं, जिसका तादात्म्य पहले शरीर और मन से था, परिवर्तित हो जाता है। उस अहं का तादात्म्य अब उस आत्मा से हो जाता है जो भीतर ब्रह्माग्नि के स्फुलिंग के समान विद्यमान है।

ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए यम और नियम की पूर्ति की आवश्यकता होती है। रसानुभूति के लिए केवल सहृदय होना आवश्यक है। अभिनवगुप्त ने तो 'ध्वन्यालोकलोचन' के तीसरे उद्योत में स्पष्ट रूप से कहा है—परमेश्वरविश्रान्त्यानन्दः प्रकृष्यते तदानन्द विप्रुण्मात्रावभासो हि रसास्वादः (परमेश्वर में विश्रान्ति से जो आनन्द होता है, वह प्रकृष्ट है। रसास्वाद आनन्द का एक बूंद मात्र है।)

रसानुभूति का विश्लेषण

चित्त की किस अवस्था में रसानुभूति होती है, इसका भी विश्लेषण हमारे चिन्तकों ने किया है। प्रकृति जीव की आन्तरिक दशा में मन, बुद्धि, अहङ्कार और बाह्य दशा में इन्द्रिय और शरीर से व्यक्त होती है। जीव से बाहर वह पंचमहाभूतों में व्यक्त होती है। बुद्धि जीव और पंचमहाभूतो के बीच की कड़ी है। बुद्धि की मध्यस्थता द्वारा जीव भोग और मोक्ष दोनों का अनुभव करता है। पुरुष या जीव की आन्तरिक बुद्धि भी और पंचमहाभूत भी सत्त्व, रजस् और तमस् गुण के समूह हैं। बुद्धि में सत्त्व सुख के रूप में, रजस् दुःख के रूप में और तमस् मोह के रूप में प्रकट होता है। प्रत्येक पदार्थ—चाहे बाह्य हो, चाहे अन्तर, इन्ही तीन गुणों का बना हुआ है। किसी मे सत्त्व की प्रधानता होती है जो सात्त्विक कहलाते हैं, किसी में रजस् की प्रधानता होती है जो राजसिक कहलाते हैं और किसी मे तमस् की प्रधानता होती है जो तामसिक कहलाते हैं। यद्यपि बुद्धि में सत्त्व की प्रधानता है, तथापि अहङ्कार से युक्त होने के कारण, जिसका तादात्म्य शरीर और इन्द्रिय दोनों से है, बुद्धि सुख और दुःख दोनो का अनुभव करती है। उसके भीतर जो पुरुष या आत्मा है, वह निष्क्रिय है और केवल साक्षिचैतन्य के रूप में विद्यमान रहता है। जिस जीव में असंग का भाव उदय होता है, वह सुख और दुःख दोनों से ऊपर उठ जाता है। वह बुद्धि से अपना विवेक या अलगाव अनुभव करता है। वेदान्त के अनुसार जिसका तादात्म्य बुद्धि से छूट जाता है, वह आनन्द का अनुभव करता है। जब बुद्धि में सत्त्व का उद्रेक होता है, तब रजस् और तमस् दब जाते हैं, तब सत्त्व का उद्रेक होता है और तभी निःसंग का उदय होता है और बुद्धि के साथ अहम् का तादात्म्य थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाता है। कला की यही विशेषता है कि वह वस्तुस्थिति को चित्त के सम्मुख इस प्रकार प्रत्युपस्थापित करती है कि जीव का व्यक्तिगत भाव समाप्त हो जाता है और वह आनन्द का अनुभव करता है। यद्यपि बुद्धि का स्वभाव सात्त्विक है, तथापि व्यक्तिगत वासना के कारण उसका सात्त्विक रूप दबा रहता है। काव्यकृति की यही विशेषता है कि उसमें दुष्यन्तत्व और [illegible] का भाव विगलित हो जाता है, वह दुष्यन्त और शकुन्तला

के माध्यम से मानव मात्र के भाव का चित्रण करती है। उस समय द्रष्टा के सब व्यक्तिगत बन्धन टूट जाते हैं और इस स्थिति में चित्त में सत्त्व का उद्रेक होता है और जिस आनन्द के बूंद मात्र से संसार जीवित है, उसका आस्वादन हो उठता है। यही है रसानुभूति।

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' की सारी स्थिति को निम्न श्लोक में सुन्दर रीति से चित्रित किया है :

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥" (३, ३३)

"जो रस सत्त्व के उद्रेक से अभिव्यक्त होता है, जो स्वरूप से अखण्ड स्वयंप्रकाश आनन्द और चिन्मय है, जो अन्य वेद्यों के स्पर्श से मुक्त है, जो ब्रह्म के आस्वाद के समान है, जिसका प्राण अलौकिक चमत्कार है, वह आत्मस्वरूप के तादात्म्य के रूप में आस्वाद्यमान होता है।"

'ध्वन्यालोकलोचन' ने सच कहा है—

"स्वसंविदानन्दचर्वणव्यापाररसनीयोरसः।" (१, ४)

रस अपने ही संविद के आनन्द का आस्वादन है।

प्रतिभा का स्पष्टीकरण

यह हम कह चुके हैं कि कला का उत्स प्रतिभा है। किन्तु अभिनवगुप्त की यह मान्यता है कि प्रतिभा परावाक् की अभिव्यक्ति है।

प्रतिभा स्मृति, मति और बुद्धि से भिन्न है। विद्याचक्रवर्ती ने 'सम्प्रदायप्रवासिनी' में कहा है :

"स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरः ।
बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता ॥"

स्मृति किसी अतीत पदार्थ का परामर्श करती है। मति का विषय आगामी अर्थात् भविष्य है। बुद्धि का विषय वर्तमान है, प्रज्ञा तीनों काल को अपना विषय बनाती है। यही त्रैकालिकी-प्रज्ञा प्रतिभा है।

'ध्वन्यालोकलोचन' में लिखा है कि—

"प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा"। प्रतिभा सर्जनात्मक है। वह अपूर्व वस्तु का निर्माण करती है।

हेमचन्द्र ने कहा है —

"प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता।" अर्थात्, वह प्रज्ञा जो सदा नये-नये उन्मेष को प्रस्तुत करती है, प्रतिभा है।

प्रतिभा वह है जो कारयित्री अर्थात् सर्जनात्मक होती है। सर्जनात्मक कल्पना तीन प्रकार की होती है—सहजा जो जन्मजात होती है, आहार्या जो जन्मजात तो नहीं है, किन्तु जो कृत्रिम या नैमित्तिक होती है, औपदेशिकी जो उपदेश या शिक्षा से प्रकाश में आयी है। किन्तु मुख्यतः वही प्रतिभा है जो [illegible] है। यदि [illegible] प्रज्ञा नहीं है तो उपदेश से वह जनित नहीं हो सकती। उपदेश से केवल उसका विकास और निखार हो सकता है।

काव्य के सन्दर्भ में 'काव्यमीमांसा' ने यह मत प्रकट किया है—

"या शब्दग्रामभर्थसार्थमलंकार तंत्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधाधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा"। अर्थात्, जो हृदय में शब्द-समूह, अर्थ, अलंकार का क्रियाकल्प, उक्ति मार्ग और इसी प्रकार की अन्य शक्तियों को उद्भासित कर सके, वह प्रतिभा है।

महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' में लिखा है—

"रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमितिगीयते ।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥"

"प्रतिभा उस कवि की प्रज्ञा है जिसका चित्त रस के अनुकूल शब्द और अर्थ के अनुकूल चिन्ता पर केन्द्रित है। यह प्रज्ञा तब उदय होती है जब कवि का चित्त क्षण भर के लिए आत्म-स्वरूप से सम्पर्क प्राप्त कर लेता है। इस प्रज्ञा के द्वारा वह तीनों लोक में विद्यमान पदार्थों का साक्षात्कार कर लेता है। इसलिए यह शिव का तृतीय नेत्र कहलाती है।"

ध्वनि, व्यंग्यार्थ-प्रतीयमान

भारतीय चिन्तन ने विश्व-साहित्य को अपने ध्वनि सिद्धान्त द्वारा एक अपूर्व परिदान दिया है। इस प्रकार का गभीर चिन्तन विश्व के किसी भी साहित्य में नहीं पाया जाता। भामह और दण्डी ने काव्य के शरीर और उसके अलंकार का प्रतिपादन किया। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य:' कहकर काव्य के आत्मा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। आनन्दवर्धन ने यह कहा कि रीति भी संघटना का अवयव-संस्थान के समान ही है। इसे हम काव्य का आत्मा नही कह सकते। 'ध्वनि' को ही हम काव्य का आत्मा कह सकते है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त इसके मुख्य प्रतिपादक हैं।

'ध्वनि' शब्द बहुत ही व्यंजक है। वैयाकरणों ने 'ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्फोट के अभिव्यंजक अर्थ में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया था। ध्वनिवादी आचार्यों ने सम्भवतः वैयाकरणों से 'ध्वनि' पद का ग्रहण किया है। वस्तुतः 'ध्वनि' शब्द इससे भी अधिक व्यंजक है। इसका मर्म हम 'रणन' और 'अनुरणन' अथवा 'ध्वनन' की सहायता से और अधिक समझ सकते हैं। जब हम मुंगरी से किसी घंटे पर आघात करते हैं तो जो पहला शब्द सुनाई देता है, वह 'रणन' है, उसके बाद उसका जो ध्वनन सुनाई देता है, वह उसी रणन का अनुरणन है। वाच्यार्थ रणन के समान है। उसका अनुरणन या अनुगुञ्जन, ध्वनन व्यंग्यार्थ के समान है।

आनन्दवर्धन की मान्यता है कि ध्वनि ही काव्य का आत्मा है। इसी ध्वनि के पर्याय व्यंग्यार्थ और प्रतीयमान भी हैं। आनन्दवर्धन कहते हैं—

"योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥
तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैस्ततो नेह प्रतन्यते ॥
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥"

काव्य के जिस अंश को आचार्यों ने काव्य का सारभूत कहा है उसके वाच्य और प्रतीयमान

ये दो भेद बतलाये गये हैं। उन दोनों में वाच्यार्थ प्रसिद्ध है और उसकी उपमा इत्यादि प्रकारों से व्याख्या भी हुई है। उसका हम यहाँ विवेचन नहीं करेंगे। किन्तु जिस प्रकार कामिनी के अवयव-संस्थान से सर्वथा भिन्न लावण्य प्रकाशित होता है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से विलक्षण प्रतीयमान अर्थ व्यक्त होता है। वही काव्य का आत्मा है। इसी प्रतीयमान अर्थ को आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने ध्वनि और व्यंग्य कहा है। इस ध्वनि के तीन मुख्य प्रकार हैं—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि।

अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान की निम्न विस्तृत व्याख्या की है—

"प्रतीयमान के दो भेद होते हैं। एक भेद है 'लौकिक' और दूसरा भेद है व्यंजना द्वारा ही विषयीभूत होने वाला। प्रतीयमान का लौकिक भेद स्वशब्द से भी वाच्य हो सकता है। उसके विधि-निषेध आदि बहुत से भेद होते हैं और 'वस्तु' शब्द से व्यक्त किया जाता है। एक भेद यह है कि यदि व्यंग्यार्थ को शब्दों द्वारा स्पष्ट रूप से कहा गया तो उसे अलंकार का रूप प्राप्त होता है। दूसरा भेद यह है कि उस व्यंग्यार्थ को यदि वाच्यार्थ रूप में लाया भी जाय, तो वह केवल 'वस्तुरूप' ही रहता है। इनमें से पहले को 'अलंकारध्वनि' और दूसरे को 'वस्तुध्वनि' कहते हैं। प्रतीयमान का यह भेद स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नहीं होता। वह न तो वाच्यार्थ में आता है, न लौकिक व्यवहार की मर्यादा में। उसमें रसिक को विभाव, अनुभाव का सौन्दर्य प्रतीत होता है। उस प्रत्यय के साथ ही रसिक के मन में पूर्वनिर्दिष्ट रति आदि वासनाओं का जो उद्बोध होता है, उस उद्बोध का सौन्दर्य भी उसे प्रतीत होता है एवं वह अर्थ रसिक के संवित् के लिए रसनीय होता है, इसलिए यह काव्यार्थ व्यंजना-व्यापार का ही विषय बनता है। शब्दों का वह विषय नहीं होता। काव्य-व्यापार से ही व्यक्त होने वाला यह अर्थ 'रसध्वनि' है। यह केवल ध्वनित होता है, वाच्य नहीं। अतएव रसादिध्वनि ही मुख्यतया काव्यात्मा है"।

व्यंग्यार्थ का एक छोटा-सा उदाहरण निम्नलिखित है—

"जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता॥"

इसका वाच्यार्थ तो यह कहना है - आप चाहे यात्रा पर जायँ या न जायँ, यह दोनों विकल्प आपके सामने है। किन्तु नायिका यह भी कहती है कि आप जो धन कमाकर लावेंगे, मेरी उस धन की आशा दुर्बल ही है, जीवित रहने की आशा उससे कहीं अधिक प्रबल है। इसका ध्वनित अर्थ केवल यही निकलता है कि आप यात्रा पर मत जायँ।

अभिनवगुप्त कहते हैं, "रस-एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते"। अर्थात्, रस ही काव्य का आत्मा है। वस्तु और अलंकार ध्वनि का रस में ही पर्यवसान होता है।

शान्त रस का विवेचन

शान्त भी एक रस है या नहीं, इस विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। अतः इसका विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है।

भरत ने नाटयशास्त्र में कहा है "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः"। इसके आधार पर बहुत से आचार्यों ने शान्त को रस नहीं माना है। उद्भट आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ऐसे आचार्य हैं

नाट्यशास्त्र के कुछ संस्करणों में शान्त रस का उल्लेख है, किन्तु उसको कुछ लोगों ने प्रक्षिप्त कहा है।

धनञ्जय और धनिक ने तो इसका खुलकर विरोध किया है। उनकी मुख्य युक्ति यह है कि वह अभिनेय नहीं है। शान्त रस तो निवृत्ति-प्रधान है। इसके विपरीत अभिनय प्रवृत्ति-प्रधान है। निवृत्ति का अभिनय नहीं हो सकता, अतः नाट्य में उसको स्थान नहीं मिल सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि इसका स्थायिभाव क्या होगा। यदि हम शम या निर्वेद को इसका स्थायिभाव मानें, तो सारे नाटयशास्त्र में यह स्पष्ट है कि भरत ने कहीं उसके अनुभाव का उल्लेख नहीं किया है। अतः शान्त कोई रस नहीं है। यह भी विचारणीय है कि राग-द्वेष के संस्कार मानव में अनादि काल से चले आ रहे हैं। उनका विनाश सम्भव नहीं है, तो शान्त रस का स्थायिभाव कैसे सिद्ध हो सकता है?

कुछ लोग 'नागानन्द' में शान्त रस मानते हैं, किन्तु दशरूपककार की यह धारणा है कि नागानन्द में दया-वीर प्रधान रस है, शान्तरस नहीं।

आनन्दवर्धन तृष्णाक्षय-सुख को अधिक उपयुक्त मानते हैं और उसके द्वारा शान्तरस का प्रतिपादन करते हैं और बतलाते है कि महाभारत शान्तिरस-प्रधान है। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में कहा है कि तृष्णाक्षयरूपी शम स्थायी भाव की दशा में चर्वणा द्वारा शान्तरस होता है। अभिनव-गुप्त का यह कहना है कि शान्त ही प्रकृत रस है। अन्य सब रस उसके विकार मात्र है।

यदि एक क्षण के लिए मान भी लिया जाय कि शान्तरस का नाटक में अभिनय नहीं हो सकता, तो सारे काव्य की इति नाटक में ही नहीं हो जाती। काव्य की अन्य विधाओं में, जिनमें अभिनय अनिवार्य नहीं है, तो शान्त-रस हो ही सकता है।

कला और नैतिकता

कला के सम्बन्ध में प्रायः एक प्रश्न यह उठता है कि कला का कोई सम्बन्ध नैतिकता से है या नहीं। क्या कला के द्वारा मानव में नैतिकता आ सकती है?

पहला प्रश्न यह है कि कला का कोई सम्बन्ध नैतिकता से है या नहीं। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कला और नैतिकता दोनों में एक तथ्य समान है। वह है स्वार्थरहितत्व (disinterestedness)। रस के सिद्धान्त ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक तभी रस की अनुभूति कर सकता है जब वस्तुस्थिति में उसका अपना कोई अर्थ न हो और नैतिकता का भी सिद्धान्त यही है कि वही मनुष्य नैतिक व्यवहार कर सकता है जो स्वार्थनिरपेक्ष हो। इतनी समानता होते हुए भी दोनों में एक अन्तर भी है। नैतिकता का सम्बन्ध क्रियाशीलता, कर्म या आचरण से है, किन्तु रसानुभूति का सम्बन्ध कर्म या आचरण से नहीं है। रसानुभूति का मुख्य तत्व है चर्वणा अथवा आस्वादन। नैतिकता का मुख्य तत्व है एक आदर्श की चरितार्थता।

दोनों के स्वार्थरहितत्व में भी एक अन्तर है। कला में स्वार्थरहितत्व एक बाह्य स्थिति से प्रेरित होता है; नैतिकता में स्वार्थरहितत्व अपने भीतर विद्यमान एक आदर्श द्वारा प्रेरित होता है।

दूसरे, रसानुभूति में जो स्वार्थरहितत्व होता है, वह कलाकार द्वारा निरूपित एक काल्पनिक स्थिति द्वारा प्रभावित होता है और नैतिक आचरण जीवन की एक वास्तविक स्थिति से सम्बद्ध है।

नैतिक आचरण के निर्माण में बहुत कम प्रभाव होता है। कला का नैतिक आचरण से सीधा सम्बन्ध नहीं है। कला का आचरण से जो भी सम्बन्ध हो सकता है, वह परोक्ष या वक्र सम्बन्ध हो सकता है। सर्वोत्कृष्ट कला वही है जो व्यक्ति की नैतिक अभिवृत्ति को इतने सुन्दर ढंग से प्रभावित करे कि उसको स्पष्ट रूप से यह पता न लगे कि नैतिकता को प्रभावित करने के लिए इस कला की रचना की गई है।

सच बात यह है कि कला में हम अपने निम्न 'स्व' को कुछ समय के लिए भूलकर सामान्य तथ्य का अनुभव करते हैं। नैतिक आचरण में निम्न 'स्व' को परिवर्तित करना पड़ता है।

दूसरा प्रश्न यह है—कहा जाता है कि कला कला के ही लिए है, कला का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है—तो क्या कला को यह छूट है कि कला के माध्यम से वह अश्लीलता का प्रचार करे? क्या सुन्दरम् का शिवम् के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में उचित विचार यही है कि कला का उद्देश्य निस्सन्देह चरित्र-निर्माण नहीं है, किन्तु कला की दृष्टि अश्लीलता नहीं हो सकती। यह सच है कि कला का विषय नैतिकता नहीं है और न नैतिक उपदेश उसका उद्देश्य है। किन्तु नैतिकता का सम्बन्ध साक्षात् जीवन से है। अश्लीलता जीवन को क्षुद्र, हेय और भ्रष्ट बनाती है। कला जीवन से बढ़कर नहीं हो सकती। कला जीवन के लिए है, जीवन कला के लिए नहीं है। कला का उद्देश्य निस्सन्देह नैतिकता नहीं है, किन्तु उसकी दृष्टि नैतिकता से परे नहीं हो सकती।

यह गत दिनांक ३-४ फरवरी, १९८७ को डॉ० 'धीरेन्द्र वर्मा स्मृति [illegible] माला' के अन्तर्गत हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद में दिया गया व्याख्यान है जो प्रस्तुत रूप में भी प्रकाशित है।

रवीन्द्रनाथ की चित्रकला

☐

डॉ० जगदीश गुप्त

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कलाप्रियता, शान्तिनिकेतन को एक कलाकेन्द्र के रूप मे विकसित करने के कारण सुविख्यात है, परन्तु एक महान् साहित्यकार होने के अतिरिक्त वे सक्रिय चित्रकार भी थे – यह तथ्य अधिक लोगों को ज्ञात नहीं है। गुरुदेव के कृतित्व से घनिष्ठ परिचय रखनेवाले अवश्य इस बात से अवगत हैं कि जीवन के उत्तरांश मे कवि न केवल शब्दों से अपने को व्यक्त करता रहा, वरन् उसने रंग और रेखाओं का नवीन माध्यम भी अपनाया जो बहुतों को आकस्मिक और आश्चर्यजनक लगा। इस कारण उनके कृतित्व का यह रूप और भी चौंकानेवाला लगा कि इसमें शास्त्रीय प्रवृत्ति को सर्वथा तोड़कर तथा अपनी कला-सम्बन्धी पूर्ववर्ती मान्यताओं का स्वयं अतिक्रमण कर कवि ने ऐसी प्रयोगशीलता का मार्ग अपनाया जिसका प्रेरणा-स्रोत बहुल अंशों में विदेशी था। एक ओर शास्त्रीयता और स्वदेशी भावना पर बल देनेवाली वह चित्रकला देशव्यापी आन्दोलन के रूप मे पूजी जा रही थी जिसकी प्रेरणा नवजात अजन्ता-बाघ आदि के भित्ति-चित्रों से मिली थी, दूसरी ओर विदेशी कला की भर्त्सना भी उसी शक्ति के साथ की जा रही थी।

ऐसे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा उनके सम्बन्धी गगनेन्द्रनाथ ठाकुर का प्रयोगशीलता की ओर झुकाव एक असाधारण विद्रोह की बात थी। जैसा स्वाभाविक है—पहले इस परम्परा-भंग से उत्पन्न मानसिक हलचल की उपेक्षा की गयी, किन्तु जब उसमें सफलता न मिली तो विरोध की दिशा अपनायी गयी। विडम्बना यह कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे राष्ट्रीय चेतनासम्पन्न देशप्रेमी एव स्वाभिमानी व्यक्ति पर विदेश के हाथ बिक जाने का आरोप लगाना सम्भव नही हुआ तो वे लोग ही जो उस प्रकार की कला को तिरस्कृत समझते थे, स्वयं रहस्यवाद की ओट लेकर तरह-तरह की रोचक व्याख्याएँ प्रस्तुत करने लगे। जो चीज स्वयं रचयिता को समझने में कठिनाई हुई, उन लोगों को उसे समझने में तनिक भी देर नहीं लगी।

वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कला ने बड़ी विचित्र स्थिति पैदा कर दी। बंगाल-शैली के विरोधियों को उनके गुरुदेव के द्वारा ही ऐसा अस्त्र प्रदान कर दिया गया जो उसे पराजित करने में अमोघ सिद्ध हुआ। विश्वभारती की ओर से १९४० ई० मे उनके १८ चित्रों का एक संकलन 'चित्रलिपि' उन्हीं के द्वारा लिखित अंगरेजी भूमिका तथा बंगला चित्र-संकेतों सहित सुरुचि के साथ प्रकाशित हुआ। इधर 'ललित कला अकादेमी' ने भी 'ड्राइंग्ज एण्ड पेंटिंग्ज ऑफ़ रवीन्द्रनाथ टैगोर' नाम से अधिक सामग्री प्रस्तुत करते हुए एक अन्य संकलन अंगरेजी में छापने का सराहनीय कार्य किया है। यदि उसे सभी भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया जा सके तो और भी अच्छा हो। कम से कम राष्ट्रभाषा हिन्दी में तो उसे होना ही चाहिए।

[illegible] ने [illegible] की भूमिका में कला के विषय मे सामान्यतया तथा अपनी कला के

अर्थ पूछनेवालों से मैं वैसे ही मौन रहता हूँ जैसे मेरे चित्र मुझसे मौन रहते है। मेरे चित्रों में उनके व्यक्त रूप के अतिरिक्त और कुछ भी दुरूह वस्तु अन्तर्निहित नहीं रहती जिसे उद्घाटित करने के लिए मस्तिष्क को और वर्णन करने के लिए वाणी को श्रम उठाना पड़े। उनका रूपाकार ही यदि कुछ महत्ता रखता हो तो वे चित्र हैं, अन्यथा वे कुछ भी नहीं। उन्हें त्याग देना चाहिए या भूल जाना चाहिए, भले ही उनमें वैज्ञानिक सत्य अथवा नैतिक औचित्य का अंश मिलता हो।''

उनकी यह स्पष्टोक्ति यह बताने के लिए पर्याप्त है कि वे कला के मर्म को गहराई से समझते थे और चित्रों की सार्थकता को उनके रूप-विन्यास से उत्पन्न होने वाले प्रभाव तक ही सीमित मानते थे। ''कर्तव्य की माप उससे होनेवाले हित-साधन से की जा सकती है, उपयोगिता का मूल्य उससे मिलनेवाले लाभ और शक्ति से आँकी जा सकती है, पर कला का मूल्यांकन उसके अतिरिक्त और किसी वस्तु से निर्धारित नही किया जा सकता।'' उनकी यह धारणा 'कला के लिए कला' जैसी लगती है, परन्तु वास्तव में इसे कला के निजी रूप-बोध का परिचायक समझना चाहिए।

चित्रलिपि में एकवर्णी, बहुवर्णी, काली स्याही तथा जलरंगों से बनी मानवाकृतियों, पशु-पक्षी आदि अनेक जीवाकृतियों के अविस्मरणीय प्रभाव डालनेवाले विविध प्रकार के चित्र समाविष्ट है। मैं यहाँ उनके उस चित्र का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ जिसमें उन्होंने गुफाओं में अंकित 'प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला' नामक अपनी नवप्रकाशित पुस्तक में गुफा-चित्रों के मनोविज्ञान को भारतीय संदर्भ में विशेषतः प्रस्तुत किया है। अतः मैं गुरुदेव के उक्त चित्र का इस नयी पृष्ठ-भूमि में विशेष ऐतिहासिक महत्व समझता हूँ। कवि ने अपने शब्दों में उसका परिचय यों दिया है—

विस्मृत युगे गुहावासी देर मन
जे छबि लिखित भित्तिर कोले,
अवसर काले बिना प्रयोजने
सेई छबि आमि आपनार मने,
करे छि आलेखन।

इन शब्दों में जो अर्थ आ सका है, वह रवीन्द्रनाथ की समस्त चित्रकला के मर्म को उद्-घाटित करता है। अवसर मिलने पर, बिना किसी प्रयोजन के, जैसे गुहावासी मनुष्य अपने मनो-भावों को अंकित करता था, उसी प्रकार उन्होंने भी अपने अन्तर्मन को खाली समय में निष्प्रयोजन होकर रूपायित किया है। विशेषज्ञों ने खोज करके यह सिद्ध किया है कि गुफा-चित्रों का निर्माण प्रयोजनरहित नहीं हुआ है, अतः गुरुदेव की उक्त धारणा पर प्रश्न-चिह्न अंकित किया जा सकता है। मैं कला को 'निष्प्रयोजन' न कहकर 'प्रयोजनातीत' कहना अधिक उपयुक्त समझता हूँ क्योंकि कला के लिए सर्वथा प्रयोजनरहित कहने की अपेक्षा प्रयोजन से परे हो जानेवाली कहना सत्य के अधिक निकट दिखायी देता है। प्रयोजन होते हुए भी कला अपनी विशेष प्रकृति के कारण उससे बँधती नहीं है और उससे ऊपर उठ जाती है। श्रेष्ठ कला की सर्वत्र यही स्थिति होती है।

मेरा विचार है कि गुरुदेव का भी मूल भाव लगभग यही रहा होगा। चित्रलिपि के दूसरे फलक पर मुद्रित एक कलशयुता रमणी की ज्यामितिक आकृति और रहस्यात्मक मुद्रा के विषय में भी उन्होने अवकाश के क्षणों में अन्तर्मन से उपजनेवाली विचित्र एवं अपरिचित जैसी मुख-छायाओं के रहस्यमय रूप से प्रतिभासित होने की बात दोहराई है एक अन्तर की ओर मैं उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ; और यह अन्तर है चित्रों की भाषा और उस [illegible] का विसर्जन

कवि-चित्रकार ने स्वयं उनका परिचय प्रस्तुत किया। एक कठोर यथार्थवादी प्रतीत होती है तो दूसरी कोमल रहस्यवादी। पाश्चात्य वस्तुवादी प्रभाव को भारतीय आदर्शवादी संस्कार किस रूप में ग्रहण कर सका और उसे व्याख्यायित करने में उसने किस नये मार्ग का अनुसरण किया – यह देखना बहुत रुचिकर लगता है। ज्योति की भाषा में अन्धकार की व्याख्या की जा रही हो ऐसा प्रतीत होता है। विकृतियाँ अन्धकार से ही सम्बद्ध मानी जाती हैं। साकेत में गुप्तजी ने लिखा ही है—

"विकृताकृतियाँ अन्धकार अंकित करता है।"

आधुनिक कला केवल उन सुखद अविकृत आदर्श रूपों तक ही अपने को सीमित नहीं रखती जो परम्परा से मान्य हैं, वरन् वह विकृत, दुःखद और परम्परा-विरुद्ध यथार्थ एवं अतियथार्थ रूपों को भी अपने में समाहित करती है। वास्तव में उसका आग्रह और झुकाव ऐसे ही रूपों की ओर अधिक दिखाई देता है जिन्हें भारतीय देवभाषा में आसुरी कहा गया है। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय कला के क्षेत्र में एक नया देवासुर-संग्राम छिड़ गया है जिसकी पहली घोषणा रवीन्द्रनाथ के चित्रों द्वारा हुई। कहना न होगा कि वह महायुद्ध अब भी जारी है।

बंगाल शैली के प्रसिद्ध चित्रकार असितकुमार हालदार ने कुछ वर्ष पूर्व एक प्रसिद्ध कला-पत्रिका में 'अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके आलोचक' विषय पर समीक्षा प्रस्तुत करते हुए प्रसंगवश रवीन्द्र की कला पर भी दृष्टिपात किया है। कुछ उद्धरण देकर उन्होंने यह प्रमाणित करना चाहा है कि 'रवीन्द्र-रचनावली' के अन्तर्गत संगृहीत 'छिन्न पत्रावली' में उन्होंने चित्रकला के विषय में जो विचार अपनी असमर्थता सूचित करते हुए व्यक्त किये हैं, वे उनके उन विचारों से मेल नहीं खाते जो 'मीनिंग ऑफ़ आर्ट' कृति में उन्होंने व्यक्त किये हैं। पहले उनका विचार भारतीय कला के पक्ष में था, पर बाद में उनकी यह धारणा दृढ़तर होती गयी कि जानबूझकर 'भारतीय कला' के नाम पर पुरातनपंथी शैली और अभिव्यक्ति की रीतिबद्धता को पूजते रहना गलत है—कलाकारों को चाहिए कि वे इस भेड़चाल में शामिल होने से इन्कार कर दें।

हुआ भी ऐसा ही, परन्तु हालदार इस परिवर्तन से सुखी नहीं रहे, यद्यपि स्वयं उन्होंने भी प्रयोगशीलता ग्रहण करने की पूरी कोशिश की। अपने को असली कलाकार और रवीन्द्रनाथ को शौकिया कलाकार ठहराते हुए उन्होंने नयी दिशा अपनाने पर उन्हें अपने ही देश की कला को बुढ़ापे में गलत समझने का अपराधी बताया (द्रष्टव्य—रिद्म, १९६४, अंक ४, पृष्ठ २८)। टैगोर की कला को हालदार ने केवल 'हॉबी आर्ट' का श्रेय दिया है। कुछ दूर तक यह बात ठीक है, परन्तु कला का स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन साहित्य और कला—दोनों में शास्त्रीयता का विरोध करके ही चला था। रवीन्द्रनाथ कविता के क्षेत्र में जब रोमांटिक भावना रखते थे तो कला के क्षेत्र में कब तक प्राचीन परिपाटीबद्धता का समर्थन कर सकते थे। हुआ यह कि उनकी विद्रोह-वृत्ति ने स्वराष्ट्र-प्रेम की सीमा का सक्रिय अतिक्रमण कर दिया जिससे परम्परावादी लोग चिढ़ उठे। पर इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। नोबेल पुरस्कार-विजेता होने के बाद उनके मन में अन्तर्राष्ट्रीयता का आग्रह बढ़ना स्वाभाविक था। जिस विदेश ने उनकी प्रतिभा को सम्मानित करके उन्हें देश में अपार गौरव प्रदान किया, उस विदेश की कला को यदि उन्होंने आत्मसात् करके अपने [illegible] के [illegible] लोक को अन्तर्मोन्मुखी अभिव्यक्ति दी तो इसमें न समझ पाने लायक कुछ भी

आनन्द ने प्रयाग विश्वविद्यालय में दिये गये अपने एक भाषण में कहा था कि चित्रकार रवीन्द्र की विकृताकृतियाँ उनके इसी कठोर आत्मसंघर्ष का सीधा परिणाम हैं।

पी० आर० रामचन्द्रराव के ग्रंथ 'मॉडर्न इण्डियन पेंटिंग' में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'न्यू होराइजन्स' वर्ग के कलाकारों में जामिनीराय से भी पूर्व स्थान दिया गया है। उनकी कला का परिचय देते हुए श्री राव ने उसमें बाल-कल्पना की अबाध लयात्मकता और आदिम अन्तर्मन की प्रबल अभिव्यजना-शक्ति, इन दो विशेषताओं को लक्षित किया है और यह सर्वविदित है कि आधुनिक कला मुख्यतया इन्हीं दोनों चरणों के सहारे इतनी प्रगति कर सकी है। रवीन्द्र के चित्रों मे भावावेगों की अनुरूपता के अतिरिक्त अन्य किसी नियम का पालन नहीं मिलता। आकारों का संयोजन और ज्यामितिक रूप-विधान जितने अंश में मिलता है, वह भी पूर्व-दृष्ट अथवा परिपाटीबद्ध नहीं कहा जा सकता।

प्रारम्भिक अवस्था में उनके चित्र लेखन-क्रम में की गयी काल-कूट को रेखाओं द्वारा संयोजित करने की सहज मानसिक चेष्टा के फलस्वरूप निर्मित हुए। यह एक प्रकार से स्याही के द्वीप जैसे लगते हैं। बाद में फाउन्टेनपेन के अतिरिक्त तूलिका और जलरंगों का उपयोग भी किया गया जिससे परवर्ती चित्र वास्तव में चित्र कहे जाने योग्य होते गये। यों रवीन्द्रनाथ ने बहुत अधिक चित्र नहीं बनाये हैं, पर जो भी बनाये हैं, उनसे उनके आन्तरिक व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक पक्ष अवश्य उद्घाटित होता है जिसके ज्ञान के अभाव में कदाचित् यह कहना कठिन होगा कि हमने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जान लिया है। सुप्त मनोभावों की यह कला धीरे-धीरे युग-चेतना की अभिव्यक्ति करने लगी या करती हुई प्रतीत हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि हमने रवीन्द्रनाथ को कवि के अतिरिक्त चित्रकार के रूप में भी अन्ततः मान्यता प्रदान कर ही दी। जैसा कहा जा चुका है—शिक्षा-निरपेक्ष अपरम्परागत निजी अनुभूतियों से प्रेरित होने के कारण भारतीय चित्र-कला के इतिहास में वह सदा विचारोत्तेजक और रोचक समझी जायेगी। उसके अपने मूल्य से उसका प्रतीकात्मक मूल्य अधिक है जो टैगोर-जैसे विश्वविख्यात कवि से सम्बद्ध होने के कारण और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है।

१८१ए, नागवासुकि,
दारागंज,
इलाहाबाद

विष्णुधर्मोत्तरम् पुराण
का
कला-चिन्तन

कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस से १९२४ में प्रकाशित तथा
प्रसिद्ध कला-विदुषी स्टैला क्रैमरिश द्वारा सम्पादित—
'THE VISHNUDHARMOTTARAM
(PART III)
A TREATSE ON INDIAN PAINTING'
के
'INTRODUCTION'
का
अंग्रेजी से अनूदित सारांश

विष्णुधर्मोत्तरम् का तृतीय भाग भारतीय चित्रकला की विविध शाखाओं, विधियों और आदर्शों पर विशद रूप से प्रकाश डालता है। इसमें धार्मिकता का समावेश होने के साथ ही साथ लौकिकता का भी समावेश है। इसमें देखी हुई वस्तुओं और काल्पनिक वस्तुओं दोनों का समन्वय है। इसमें उस आनन्द की अभिव्यक्ति है जिसके माध्यम से रूप-वैचित्र्य और वर्ण-वैचित्र्य की सृष्टि की जाती है। कला का धर्म से सम्बन्ध वर्णन करते हुए यहाँ पर दोनों की पारस्परिक सीमा निर्धारित की गई है। वज्र ने कहा—"ब्रह्म रूप, गंध और संवेगादि विकारों से रहित है, वह शब्द और स्पर्श से परे है—इसलिए उसकी मूर्ति संभव हो कैसे हो सकती है ?"

मार्कण्डेय जी ने उत्तर दिया : "उस सर्वोत्कृष्ट सत्ता के विविध रूपों में प्रकट होने के कारण ही प्रकृति और विकृति का अस्तित्व है। ब्रह्म का वह रूप जिसका दर्शन अत्यन्त कठिन है—प्रकृति कहलाता है। उसका विविध रूपों में प्रकट होकर विश्व की सृष्टि करना ही विकृति है। उसकी पूजा और उसका ध्यान तभी सम्भव है जब उसका कोई रूप हो। ब्रह्म की जब अद्वैत अवस्था की कल्पना की जाती है, तब वह निराकार हो जाता है क्योंकि ध्यान में नेत्र बन्द होने के कारण उस विश्व का 'जिसमें वह व्याप्त है' दर्शन नहीं हो पाता।"[1] अतः जीवन अपनी सर्वतोमुखी परिपूर्णता में कला के माध्यम से व्यक्त करने का विषय हो जाता है। कल्पना का साम्राज्य कलाकार की पहुँच के अन्तर्गत रहता है और वह उसके उतने ही समीप रहता है जितना कि उसके चारों ओर व्याप्त प्रकृति का वह चित्रण करता है। क्योंकि एक ओर परम्परा उसे मार्ग-दर्शन कराती है, दूसरी ओर (प्रकृति का) निरीक्षण उसे नियन्त्रित और प्रोत्साहित करता है

—

विष्णुधर्मोत्तरम् ने कई स्थानों पर स्वीकार किया है कि यह केवल प्राचीन मूल स्रोतों से संकलन और उसका पुनर्वर्णन मात्र है। हमारे पास साधन नहीं हैं, अतः हमारे मूल सूत्र, चित्रकला के बहुत पश्चात् वाले शक्तिनिःशेष अथवा मुक्त सिद्धान्तों को ही स्पष्ट कर पाते हैं। इसका समय कुछ तो उन अध्यायों से निर्धारित किया जा सकता है जो कुछ प्राचीन स्रोतों से संकलित किए गए हैं और कुछ सीमा तक इसका निर्धारण महान् पुरुषों के यशगान की प्रथा से भी किया जा सकता है।

महाभारत के लेखक व्यास की देवता के रूप में पूजा की गई। चित्रकला के अनन्तर मूर्तिकला का जहाँ वर्णन हुआ है, वहाँ पर व्यास की मूर्ति बनाने के लिए निर्देश दिये गये हैं।[२] वहीं पर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, कृष्ण,—सुमन्त, जैमिनि, पैल, वैशम्पायन (व्यास के चार शिष्य), देवकी, यशोदा, बलराम, रुक्मिणी, सत्यभामा, साम्ब और अनिरुद्ध आदि की मूर्ति बनाने के लिए भी निर्देश दिए हुए हैं।

विष्णुधर्मोत्तरम् के संकलन-काल तक महाभारत (की पुस्तक) इतना अधिक पवित्र हो चुकी थी कि न केवल उसके महान् योधागण, बल्कि उसके लेखक और उनके शिष्यों की भी देवता-रूप में प्रतिष्ठा होने लगी। वाल्मीकि की भी देवता के रूप में पूजा की गयी और उनकी मूर्ति बनाने के नियम भी विष्णुधर्मोत्तरम् में वर्णित हैं।[३]

रामायण की सम्पूर्ण पुस्तक महाभारत के पूर्व की न होने के कारण[४] और महाभारत, जिसका आधुनिक काल में प्राप्त स्वरूप के अनुसार ईसा के पश्चात् द्वितीय या चतुर्थ शताब्दी के मध्य का काल निर्धारित किया जाता है[५], अतः विष्णुधर्मोत्तरम् ईसा के पश्चात् पंचम शताब्दी से पूर्व का हो ही नहीं सकता। यह समय विष्णुपुराण के द्वारा परिपुष्ट होता है— विष्णुधर्मोत्तरम् जिसका परिशिष्ट मात्र है। विष्णुपुराण में वर्णित वंशावली भविष्य, मत्स्य और वायु आदि पुराणों पर आधारित है।[६] वायुपुराण ने भविष्य पुराण में वृद्धि किए गये अंशों को ठीक ३३० या ३३५ ईसवी के पश्चात् ग्रहण किया था।[७] अतः विष्णुपुराण चतुर्थ शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध के पूर्व का नहीं हो सकता।

विष्णुधर्मोत्तरम् के काल की पूर्व सीमा का निर्धारण और सुगमता से हो सकता है। भाग ३ अध्याय २७ में रंगों का वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र से शब्दशः लिया गया है। विष्णुधर्मोत्तरम् में रसों की संख्या नौ है जबकि भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित रसों की संख्या आठ ही है।

विष्णुधर्मोत्तरम् के समय की उत्तर सीमा का निर्धारण देवताओं की मूर्ति-सम्बन्धी समानता के कारण भी हो सकता है। इसमें प्रत्येक देवता, योधा और दार्शनिक या ऋषि भगवान् श्री विष्णु की मूर्ति के आसपास स्थान पाता है। शंकर के बारे में कोई सन्देह नहीं किया जाता जिनकी मूर्ति आज भी लिङ्ग के रूप में पूजी जाती है। शंकर की मूर्ति, उस समय जब कि चित्रकला के अध्यायों का संकलन किया गया, अस्तित्व में हो या न हो, परन्तु लेखक ने लिङ्ग को शिव का अवतार मानने के स्थान पर वैष्णव देवताओं में माना है।

विष्णुधर्मोत्तरम् के चित्रकला से सम्बन्धित अध्यायों का अजन्ता की चित्रकला के समकालीन सातवीं शताब्दी में अवश्य संकलन किया गया है। इस प्रकार हमें उन सिद्धान्तों का परिचय मिलता है जो उनकी साधना की पूर्ण उन्नति के समय प्रचलित थे। हमें ध्यान में रखना चाहिए कि विष्णुधर्मोत्तरम् में वर्णित चित्रकला के नियम केवल संकलन मात्र हैं, उनकी प्रयोगविधि और उनका प्रयोग दोनों ही पूर्वकाल में सिद्ध हो चुके थे। चित्रकला के ये नियम अन्य ग्रन्थों से संगृहीत

हैं। इन नियमों ने चित्रकार को अपनी बौद्धिक योग्यता के अनुसार सिद्धि प्राप्त करने में सर्वतो-मुखी स्वतन्त्र कर दिया। श्री कुमार ने 'शिल्परत्न' (श्लो० १४) में जैसा कि कहा है, इससे भी हमारे विचारों की परिपुष्टि होती है : "मैं चित्रकला के नियम अज्ञानियो के लाभ के लिए वर्णन करता हूँ।"

चित्रकला गुप्तकालीन युग में भारतवर्ष में विशेष महत्वशील रही है। चित्रों में दर्शकों की अभिरुचि उनकी शिक्षा के अनुसार विविध-विविध थी। "शिक्षकों को रेखाचित्र अधिक पसन्द थे, Connoisseurs प्रकाश और छाया प्रधान चित्रों की प्रशंसा करते थे, स्त्रियों की रुचि आभूषणो के चित्रण में थी, शेष जनता को विविध-विविध रंगों का सौंदर्यपूर्ण प्रयोग पसंद था।" अतः चित्र-कार को उपर्युक्त समस्त वस्तुओं का, जिन पर जनता की अभिरुचि केन्द्रित थी, चित्र-निर्माण के समय विशेष ध्यान रखना पड़ता था।

महा उमग्ग जातक[८] में वर्णित, बौद्धों द्वारा निर्मित बृहत् कक्ष सुन्दर-सुन्दर मनभावने चित्रो से चित्रित था। उसी जातक मे वर्णित पृथ्वी के नीचे वाले महल की (stucco-ceated) दीवालो पर साका का सौंदर्य, सुमेरु पर्वत की मेखला, हिमवत, समुद्र, चार महाद्वीप, आनोटत्ता (Anotatta) झील, सूर्य और चन्द्र, महान् सम्राटों का स्वर्ग और उनकी संवेदनाओं और विविधता के कारण उसका छह भागों में विभाजन, चित्र में दर्शित सँकरे मार्ग में कोशल-नरेश प्रसेनजित् का आनन्द-कुञ्ज – जहाँ पर बहुत-सी जनता आया-जाया करती थी और भिक्षुणियाँ (Bhikkunis) जिन्हें ऐसा करने से मना कर दिया गया था[९] – चित्रित हैं। रत्नावली, रघुवंश, शकुन्तला और उत्तरराम-चरितम् में वर्णन किये गये राजकीय चित्रकारों और अनुचर वर्ग द्वारा निर्मित इन चित्रों और विविध स्थानों के सौंदर्यात्मक ढंग से चित्रण से हमें यह पता चलता है कि उस समय कला मे विविध-विविध इन्द्रियजनित सुखों को उत्तेजित करने की कितनी अधिक मन्त्र-शक्ति (Magic) आ गई थी। उस समय का कितना सौन्दर्यात्मक, संवेदनात्मक और मनलुभावना चित्रण था। जब कोई उत्सव या त्योहार होता था, तो "नगरद्वार से महल तक और महल से स्वयं अपने गृह तक राज-मार्ग के दोनों किनारों पर झंझरीदार जालियाँ जिनमें कि स्थान-स्थान पर सुन्दर-सुन्दर चित्र लगे हुए थे - लगायी जाती थीं, मैदानों मे पुष्प बिछा दिए जाते थे, स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय ध्वज लगा दिया जाता था।"[१०]

अपने निजी गृहों की दीवालों पर और कमरों की छतों पर, महलों मे, मन्दिरों मे, राज-मार्गों पर नित्य या सामयिक, कला के चित्रण ने जनता के हृदय में कला के प्रति एक प्रकार की चेतना का संचार कर दिया था। धर्म के शिक्षकों ने भी बालकों और अज्ञानी पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए चित्रकला का माध्यम स्वीकार किया था। 'नख' नाम से प्रसिद्ध, शिक्षकों में एक ब्राह्मण-वर्ग है। इस वर्ग ने स्वकर्मजनित प्राप्त विभिन्न-विभिन्न गतियों का चित्रण किया है। चित्रों के माध्यम से यह दर्शाया है कि कौन-सा कर्म करने से किस पुरुष को ईश्वरीय न्याय के अनुसार कौन-सी गति मिल सकती हैं। वे इन्हीं चित्रों के साथ धर्म के सन्देश का प्रचार करते हुए घूमा करते थे।"[११]

के कामसूत्र के अनुसार प्रत्येक [illegible] व्यक्ति अपने पर एक [illegible] (drawing board) और एक कूर्ची ( ) में रखने का पात्र अवश्य रखता था।[१२]

के कारण यह सम्भव ही नहीं है। कुछ निश्चित स्थानों पर ही प्रेम, आनन्द और शान्ति के द्योतक चित्रों का प्रदर्शन किया जाता था। पारलौकिक और जीवन के अत्यन्त भयानक दृश्यों और परिणामों का चित्रण मन्दिरों में या राजकीय दर्शन-गृहों के लिए ही निश्चित था।

कामसूत्र और विष्णुधर्मोत्तरम् के अनुसार चित्रकला का प्रदर्शन उस समय केवल दीवालों पर, काष्ठपटों पर या वस्त्रों पर ही होता था। उसके बाद चित्रों को इस ढंग से बनाया गया कि उन्हें एक बेलन पर लपेट लेते थे; फिर उनको एक के बाद दूसरा इस तरह क्रमशः प्रदर्शित करते थे। यह चित्र-परिवेष्टित बेलन चन्दनदास (Candanadas) के भवन में कानक्य (Canakya) लोग रख देते थे, यह सब वृत्तान्त जनता के लिए गुप्त ही रहता था; फिर उन्हीं के द्वारा बाहर खड़ी हुई जनता के सामने गाने गा-गा करके चित्रों का प्रदर्शन किया जाता था।[१३] विष्णुधर्मोत्तरम् के अनुसार ऐसे चित्रों को चार भागों में विभाजित किया गया है: (१) सत्यं या यथार्थ चित्रण आयताकार ढाँचे में परिवेष्टित रहता था, (२) वैणिकं या गीतप्रधान चित्रण वर्गाकार ढाँचे में परिवेष्टित रहता था, (३) नागरं या नागरिक लोगों के हेतु किया गया चित्रण गोलाकार ढाँचे में परिवेष्टित रहता था और (४) चौथी प्रकार की शैली मिश्र है जिसमें उपर्युक्त तीनों साधन स्वेच्छानुसार, समयानुसार प्रयोग किये जाते थे। दीवालों की चित्रकारी के साथ ही साथ विष्णुधर्मोत्तरम् छतों पर बहुमूल्य रत्नों की पच्चीकारी की ओर भी संकेत करता है। दूसरी तरफ 'शिल्परत्न' इस ओर संकेत करता है कि उस समय पृथ्वी के किसी विशेष भाग को अत्यधिक सौंदर्य प्रदान करने के लिए धूलिचित्रम् या चमकीले चूर्ण का, बंगाली स्त्रियों के मध्य जो अल्पोना (Alpona) नाम से प्रसिद्ध है—प्रयोग करते थे।[१४]

कला का सम्बन्ध धार्मिक जीवन और लौकिक जीवन से इतना घनिष्ठ था कि कला की उत्पत्ति और उसका विकास स्पष्ट करने के लिए छोटी-छोटी आख्यायिकाओं का प्रयोग किया गया। विष्णुधर्मोत्तरम्[१५] में एक स्थान पर आया है कि नारायण नाम के एक साधु ने आम्र-रस से महासुन्दरी विश्वमोहिनी अप्सरा उर्वशी का रेखाचित्र बनाकर अन्य अप्सराओं को शर्मीला कर दिया था। चित्रलक्षणा[१६] में एक अन्य आश्चर्यजनक वर्णन है कि अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-स्रष्टा श्री ब्रह्मा जी की आज्ञा से Nam-gragss-a jigs t'ul नामक चित्रकार ने ब्राह्मण के मृत पुत्र का रेखाचित्र बनाया था जिसमें ब्रह्मा जी ने जीवन-ज्योति का संचार करके मृत्यु के देवता यमराज को परास्त किया था। अन्य आख्यायिकाओं में भी रेखाचित्र निर्मित कर मृत पुरुष को जीवनदान देने का वर्णन हुआ है।[१७] भास के स्वप्नवासवदत्ता में भी ऐसा ही वर्णन आया है कि राजा उदयन और राजकुमारी वासवदत्ता का विवाह उनके माता-पिता ने उनकी अनुपस्थिति में एक काष्ठ-पट पर उनकी प्रतिमा बनाकर कर दिया था। उपर्युक्त वृत्तान्त इस निश्चय की परिपुष्टि करते हैं कि चित्रकार किसी दृश्य का दर्शन करके अपनी स्मृति के द्वारा उसका चित्रण करते थे। अठारहवी शताब्दी के एक तिब्बतीय वृत्त (d'pag bsam ljoin bzair, ed. Sarat Chandra Das, Calcutta, 1908) में वर्णन है कि रावन (Ravana) के राजा उद्रयन ने डाकाबाला (Dacabala) में बुद्ध की मूर्ति देखकर ठीक वैसी ही मूर्ति बनाने की आज्ञा दी थी। यह चित्र L'u lon-Ma (जल से संग्रहित) इस नाम से प्रसिद्ध है।[१८] शिल्परत्न[१९] में एक ऐसे चित्र का वर्णन है जिसकी आकृति दर्पण में पड़े हुए बिम्ब की समानता करती थी। उस समय अनुकरणात्मक और कल्पनाजनित दोनों चित्रण समान हो रहते थे। विष्णुधर्मोत्तरम् में उर्वशी की कथा का चित्रण हुआ है, कथा में किञ्चित्मात्र भी शिथिलता नहीं आने पाती है चित्र के अणु-अणु में एक विशिष्ट चेतना का

संचार है, सजीवता है जिसके कारण दर्शक को आख्यायिका जैसे समक्ष ही घटित हो रही हो—प्रतीत होती है। चित्रकार के लिए निरीक्षण और कल्पना पर्याप्त नहीं हैं। मार्कण्डेय जी ने राजा वज्र से विष्णुधर्मोत्तरम् में कहा है, "बिना नृत्य-विज्ञान के चित्रकला का मर्म किसी की समझ में आ जाय, यह अत्यन्त कठिन है।" विष्णुधर्मोत्तरम् में ही आगे फिर इस ओर संकेत किया गया है कि प्रकृति का निरीक्षण और नृत्य-कला के सूक्ष्म नियमों का ज्ञान चित्रकला के आवश्यक अंग हैं। इसका अर्थ यह नहीं होता कि चित्रकार नर्तकी के अंग-विलास को चित्रित करे। विष्णुधर्मोत्तरम् में वर्णित नृत्य-सम्बन्धी नौ-नियमों में से कोई भी नाट्यशास्त्र में वर्णित १०१ नियमों में किसी एक से भी साम्य नहीं रखता। चित्रकला मे नृत्यकला के समन्वय से अभिप्राय यही है कि चित्रकार को अङ्ग-विलास-चित्रण आ जाय। नृत्यकला चित्रकार के हाथों का पथ-प्रदर्शन करती है। नृत्यकला के ज्ञान से श्वास-प्रश्वास में मानव-अङ्गों की दशाओं को वह चित्रित कर सकता है। मलयानिल के प्रवाह, कल-कल स्वर में क्रीड़ा करते हुए निर्झर की धार, भीषण धू-धू करती हुई विध्वंसकारी अग्निशिखाओं का चित्रण उसके लिए सुगम हो जाता है। अङ्गों की गठन, उनमें एक विशेष प्रकार का सौंदर्य, अङ्ग-विलास का सफल चित्रण, ये कला के प्राण हैं। कल्पना, निरीक्षण और आन्तरिक मनोदशाओं के कारण बाह्य अंगों के विलास का सफल चित्रण, ये प्राचीन भारतीय चित्रकला के आवश्यक अंग थे।

विष्णुधर्मोत्तरम् में दृष्ट और अदृष्ट के चित्रण में अन्तर स्पष्ट है। दृष्ट में नयन-गोचर प्रदेशों का चित्रण अत्यन्त श्रेष्ठ है। दिवस और रात्रि का, विभिन्न-विभिन्न वस्तुओं का जहाँ पर चित्रण हुआ है, वहाँ पर हम मानव मन और समय के बीच स्थापित एक सामंजस्य पाते हैं। यह सामंजस्य रागमाला (Ragmala) के चित्रों में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है जहाँ पर ऋतु, समय, संगीत और संवेग एकरूप हो गए हैं। जहाँ पर चित्रकारों ने ब्राह्म-वेला में भगवान् अरुण की तिमिरहारी रश्मियों के सामने लज्जा से नतमस्तक टिमटिमाती हुई मोम-वर्तिका की लौ का चित्रण किया है, वहाँ उनका मानव दृष्टि-स्नायु और प्रकाश की विविध तरंगों का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। चित्रकला में हम यह भी पाते हैं कि चन्द्र का परिचय विकसित कुमुद-पुष्प के चित्रण से दिया गया है, धूप में तड़पते हुए प्राणियों के चित्रण से सूर्य का परिचय दिया गया है। एक ओर वातावरण की दशाओं का अध्ययन किया गया है, दूसरी ओर वातावरण के प्रभावों का। कला के इस सजीव चित्रण ने भारतीय चित्रकला को चित्रों के माध्यम से आख्यायिका-वर्णन की शक्ति प्रदान की है।

हमें बहुरंगी प्रकृति के चित्रण के साथ ही साथ यह भी अध्ययन करने को मिलता है कि नदियाँ भी मानवीय रूप में चित्रित की जायँ (जैसा कि ग्रीक के चित्रकार करते थे), परन्तु वह अपने वाहन पर आरूढ़ हों, उनके घुटने झुके हुए हों, उनके दोनों हाथों पर पूर्ण रूप से भरे हुए घड़े रहें। विचारों का कितना आश्चर्यजनक चित्रण है। अनन्त जलराशि के भार से दबी नदियों ने घुटने टेक दिए है, हताश होकर दोनों हाथ फैला दिए हैं। प्रकृति के विभिन्न-विभिन्न अङ्गों के विभिन्न-विभिन्न देवताओं का चित्रण उनका जिस पर स्वामित्व है, उसी के अनुसार हुआ है। जैसे समुद्र का देवता रूप में चित्रण करने के पश्चात् उसके मस्तक पर तेजोमण्डल न दर्शाकर जल-मण्डल सर्जित किया गया है। चित्रकार घड़े का चित्रण करके उसे तालाब की संज्ञा दे सकता है, परन्तु उसे शंखों के लिए शंखों को चित्रित करना होगा, कमल के लिए कमल की ही रचना करनी पड़ेगी। उपर्युक्त विवरण इस बात पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालता है कि प्रकृति

का एक ही अंग कलाकार के हृदय और मस्तिष्क पर कितना विविध प्रभाव डाल सकता है। जहाँ पर कि सम्पूर्ण नदियों और समुद्रों का, एक विशाल मैदान में उदय होते हुए सूर्य का चित्रण हुआ है, वहाँ पर कलाकार ने कुछ प्राकृतिक दृश्यों का मानवीकरण किया है, परन्तु उसका मानवी रूप वैसा ही है जिससे कि वे अपने क्षेत्र के प्रतीक बने रहें। भारतीय चित्रकार ने दृश्य को चमती दृष्टि से नहीं देखा है, वह उसकी शिराओं, धमनियों में प्रविष्ट हुआ है, उसने उसका पूर्ण रहस्योद्-घाटन किया है।

नाना दृश्यों का दर्शन करके विष्णुधर्मोत्तरम् के लेखक ने मनुष्य के बहुत से भेदों का वर्णन किया है। नागरिक लोगों का, विधवाओं का, वास्तुकारों का, शिल्पकारों का, मल्लयुद्ध करने वालों का चित्रण उनकी शरीर-रचना, उनकी सभ्यता-संस्कृति और उनके व्यापार को ध्यान में रखते हुए किया जाता था। अधिकांश व्यक्ति मनुष्य जाति के पाँच विभाग हंस, भद्र, मालव्य, रूचक और शशक से ही सम्बन्ध रखते थे। बृहत् संहिता के अनुसार इन पाँचों भेदों की नाप क्रमशः १०८, १०६, १०४, १०० और ६० अंगुल होनी चाहिए, जबकि नाप का निर्धारण विपरीत अर्थात् ६६, ६८, १०२, १०५ और १०८ अंगुल अक्सर हो जाया करता था।

चित्रदर्शन को ध्यान में रखते हुए उन्हें ६ स्थितियों में विभाजित किया गया है—(१) सामने वाले भाग के चित्र को ऋज्वागतम् कहा है, (२) पृष्ठदर्शी चित्र को अनृजु कहा गया है, (३) एक ओर झुके हुए चित्र को साचीकृतशरीरं कहा जाता था, (४) मुख एक ओर झुका हुआ और शरीर तीन ओर वक्र रूप से झुका हुआ, ऐसे चित्र को अर्द्धविलोचनम् लिखा गया है, (५) एक बगल का दृश्य पूर्ण दर्शित हो, उसे पार्श्वागतं कहते थे, (६) स्कन्धों के ऊपर गर्दन रखकर पीछे झुके हुए चित्र को परावृतं कहते थे, (७) शरीर के ऊपरी भागसहित पिछले (back) भाग का थोड़ा-सा शरीर की झुकावट के साथ दर्शन पृष्ठागतं कहलाता था, (८) कमर के ऊपर वाला सम्पूर्ण पीछे झुका हुआ भाग—ऐसे चित्र को परिवृत्तं कहते थे, (६) और अन्तिम दशा में पलथी मार कर बैठे हुए या आगे की ओर इस प्रकार झुके हुए जिससे पृष्ठ भाग दीख पड़े—वर्णन है—ऐसे चित्र को समानतम् कहा जाता था।[१०] अग्रिम अवतरणों में तेरह दशाओं का वर्णन हुआ है, परन्तु वे मिथ्या कल्पना मात्र हैं।

शरीर की इन स्थितियों का चित्रण क्षय और वृद्धि के नियमों की सहायता से किया गया है। क्षय और वृद्धि, सादृश्य और प्रमाण को किसी भी चित्र में कार्यरूप में परिणत करना निरीक्षण और परम्परा का कार्य होता था। चित्रविद्या के विद्वान् इटली के चित्रकारों की तरह भारत में भी क्षय और वृद्धि के नियमों का गम्भीर अध्ययन किया गया। प्रमाण सीमा-निर्धारण का नियम था, जैसे हंस कोटि के मनुष्यों का समस्त यथोचित अंग के विलास के साथ पूर्ण शरीर का चित्रण होता था। ये उत्तम नवतला (Navatala) की कोटि में आ जाते हैं।

यद्यपि इस बात की परिपुष्टि नहीं की गई, परन्तु भगवान् का शरीर हंस कोटि के मनुष्यों की ही तरह होना चाहिए। ऋषि, गन्धर्व, विद्याधर, दैत्य, दानव, मंत्री, ब्राह्मण, सम्बतसर और पारिवारिक पंडित आदि की रचना भद्र कोटि की होनी चाहिए। यक्ष, वेश्या और वैश्यों आदि की रचना रूचक कोटि के अनुसार होनी चाहिए। किन्नर, राक्षस, नाग और अनुचर कोटि की स्त्रियों का चित्रण मालव्य कोटि का होना चाहिए जबकि शूद्रों का चित्रण शशक कोटि का होना चाहिए (अध्याय ४२)।

"क्षय, वृद्धि और प्रमाण आदि के अतिरिक्त प्रतिमा-अनुकरण, छाया या गहरे रंगों के प्रदर्शन के भी प्राचीन भारतीय चित्रकार पूर्ण पंडित थे। छाया-प्रदर्शन तीन प्रकार से होता था— (१) पत्रज या एक-दूसरे को चीरती हुई रेखाओं के द्वारा, (२) ऐरिक (stumping) और (३) बिन्दुज (अध्याय ४१)। इस प्रदर्शन के लिए कितने तीव्र निरीक्षण और कला तथा शास्त्र सम्बन्धी कितने गम्भीर अनुभव की आवश्यकता पड़ी होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की थी कि "कलाकार जो कुछ भी चित्रित करे, बिना किसी अन्य चित्र को सामने रक्खे ही चित्रित करे" (अध्याय ४३)। क्षय और वृद्धि के तर्कीय विवेचन ने एक सम्प्रदाय को जन्म दे दिया था, परन्तु भारतीय चित्रकार पूर्णता के पक्ष में रहे हैं। उन्होंने प्रत्येक भाग का सहानुभूतिपूर्ण, सरस, रोचक प्रदर्शन किया है—दृश्य के किसी अंग को छिपाने का प्रयास नहीं किया है।

अब विष्णुधर्मोत्तरम् तथा अन्य तत्कालीन साधनों द्वारा प्राप्त रंगों का वर्णन शेष रह जाता है। श्वेत, पीत, काला, नीला और आँवले का-सा रंग यही हमारे विषय के अनुसार आवश्यक रंग हैं (अध्याय ४०) या अध्याय २७ के अनुसार श्वेत, अरुण (Red), पीत, काला और हरा ये हैं। नाट्यशास्त्र में भी अध्याय २७ में वर्णित रंगों की परिपुष्टि की गई है। 'शिल्परत्न' के अनुसार श्वेत, लाल, पीला, कालिख और श्याम (गहरा नीला या काला) मुख्य रंग हैं। अभिलषितार्थचिन्तामणि (Ms. 12ct. Mysore Library) में विशुद्ध रंगों के निर्माण की विधि वर्णित है। श्वेत रंग शंख या सीपियों को पीसकर बनाया जाय, लाल रंग लाल धातु के चूर्ण या अलक्तलता के रस या लाल खरिया से बनाया जाय, हरा-भूरा रंग हरितला से या गंधक से शोधी हुई शंखिया से बनाया जाय, काला रंग कज्जल से निर्मित किया जाय। कालिख का प्रयोग आँखों को काला करने के लिए होता था।

इन रंगों का प्रयोग कलाकार की कुशलता पर निर्भर करता था। वह रंगों को पक्का करने के लिए उनके साथ लाख, राल या विरोजा का प्रयोग कर सकता था। रंगने के द्रव्य— सोना, चाँदी, ताँबा, अबरक, गहरे रंग वाली पीतल, लाल धातु, सेंदुर, पीला हरताल, टीन, पीला आँवला या हर्रा, लाख, नील और एक विशेष तरह का लोहे का चूर्ण—थे। शिल्परत्न[११] में इन वानस्पतिक और धात्विक रंगों के निर्माण की विधि दी हुई है। उदाहरण के लिए, लाल खरिया एक प्रस्तर-खण्ड पर पीसी जाय और एक दिन तक पानी से भीगी हुई रक्खी रहनी चाहिए, लाल धातु भी पीसकर कम से कम आधे दिन तक पानी से भीगी हुई रक्खी रहनी चाहिए। इसके पश्चात् रंग फिर पीसे जायँ और पाँच दिन तक लगातार जल मे भिगोकर रक्खे जायँ। तदुपरान्त रंगो को नीम के स्वाभाविक बहे हुए रस के साथ मिलाया जाय, तब कही रंग दीवालों पर और चित्रों पर प्रयोग्य करने योग्य होते थे।

सोने की पत्तियों को छोटी-छोटी पत्तियों में विभाजित करके एक अत्यन्त चिकने पत्थर पर पीसते थे। तदुपरान्त इसके चूर्ण को जल और थोड़ी-सी बालू के साथ मिला देते थे। जब यह मिश्रण निर्मित हो जाता था, तब इसे एक बार फिर जल में भिगो देते थे ताकि धूल जल की सतह पर एकत्र हो जाय। अब इस सोने के मिश्रण को एक बार फिर पीसकर इसमें वज्रलेप मिलाते थे, तत्पश्चात् आवश्यक ब्रुशों के द्वारा चित्रों में इसका प्रयोग करते थे। प्रत्येक रंग के लिए ८ ब्रुश[१२] होते थे। सूखने पर कलाकार को उसे सुअर के नुकीले दाँत से धीरे से रगड़ देना होता था

ताकि फिर चमक आ जाय। फिर वह उसे एक सोने की पत्ती पर रखकर रूई से घर्षित करता था। यही विधि 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि' में भी वर्णित है।

भैंस की खाल की तैयारी में उसे तब तक जल में उबाला जाता था जब तक कि वह दही के समान मुलायम न हो जाय। जल को भाप बनाकर उड़ा देते थे तथा लोई को बेलनाकार बनाकर सूर्य के प्रकाश में सुखा लिया जाता था। इसी को वज्रलेप कहा जाता था। इसे फिर उबालकर जिस रंग के साथ मिलाया जाय, यह उसी रंग को गहरा बना देगा। श्वेत रंग के साथ इसे मिश्रित करके दीवाल की तीन पर्तें दिखायी जाती थीं, परन्तु प्रत्येक बार इसका प्रयोग करने के पश्चात् इसे सूख जाने देना चाहिए। इसी के ऊपर चित्रकारी की जाती थी। वज्रलेप के प्रयोग के लिए दीवाल ईंटों की होनी चाहिए। 'शिल्परत्न' के अनुसार पिसी हुई (भूनकर) कौड़ियों और सीपियों की भस्म तथा अन्य इसी तरह के चूर्ण, बालू आदि को जल के साथ मिलाकर शीरे के रूप में बनाकर उसमें Mudga······ के काढ़े की कुछ बूंदें तथा परिमाण में चौथाई भाग चूने के चूर्ण को, केले के छोटे-छोटे टुकड़ों को और फिर चौथाई भाग चूने को मिलाकर – रख देना चाहिए। तीन महीने के पश्चात् जब यह मिश्रण सूख जाय, तब इसे फिर पीसना चाहिए। इसे शीरे के सम्पर्क में लाना चाहिए ताकि यह मक्खन की तरह हो जाय। फिर दीवाल को नारियल की जटाओं से स्वच्छ करके उसमें शीरे को छिड़क कर उपर्युक्त बने हुए मसाले का लेप करना चाहिए। यह दो तरह की विधियाँ हैं जिनके द्वारा दीवालों को चित्रकला के योग्य बनाया जाता था।

चित्र की सांकेतिक रेखाएँ पीले या लाल रंग से खींचने का नियम था। "चित्रकार को वस्तु के आकार का विचार करना चाहिए, उसे सोचना चाहिए कि वस्तु को किस तरह दीवाल पर चित्रित करना होगा। तदुपरान्त मन में आकार का विचार करके समस्त अङ्गों का सांकेतिक रेखाओं के माध्यम से चित्र निर्मित कर लेना चाहिए। ये सांकेतिक रेखाएँ मुख्य-मुख्य स्थानों पर चमकीली तथा दबे हुए भागों पर काली होनी चाहिए। एक ही रंग से यह तुलनात्मक चित्रण हो सकता है। यदि दबे हुए भागों को चमकीला दिखाना हो तो वह चमकीले काले रंग से दिखाये जा सकते हैं।"[२१] ····· Vhidhashalavamsi ram में प्रतिमा-अनुकरण के रेखाचित्र का वर्णन है। रेखाचित्र में श्वेत रंग के द्रव का प्रयोग करना चाहिए, परन्तु विष्णुधर्मोत्तरम् के अनुसार हरा भी हो सकता है।

विष्णुधर्मोत्तरम् कहता है कि वस्तुओं का रंग प्राकृतिक-सत्य होना चाहिए; चित्रकार कल्पना के माध्यम से सहस्रों रंगों का सम्मिश्रण करके कला में वर्ण-वैचित्र्य का प्रकाशन करता है, प्रकाशित और अप्रकाशित भागों का चित्रण करता है, परन्तु रंगों का चित्रण उतना ही यथार्थ है जितना कि किसी पदार्थ का संसार में रंग होता है। कल्पना और यथार्थ का समानान्तर समन्वय है। भारत की कुछ जातियाँ, जैसे पुलिनदास, दक्षिणी, पाञ्चाल-देशीय, अङ्ग-देशीय, बङ्ग-देशीय, कलिङ्ग-देशीय, सूरसेनी, मागध का, और शूद्रों, बीमारों तथा अत्यन्त शारीरिक परिश्रम में संलग्न (मजदूर-वर्ग) का चित्रण काले रंग से हुआ था। शक, यवन, पल्लव, वाह्लीक, क्षत्रिय राजाओं और धनी उन्नतिशील व्यक्तियों का रंग श्वेत चित्रित किया गया है।[२४] दुर्भागी लोगों का चित्रण गहरे काले रंग से करते थे, यह स्वाभाविक भी है क्योंकि नक्षत्रों की छाया जब मानव-भाग्य पर निर्दय होकर पड़ती है, तब उसका रंग काला हो जाता है। इस तरह रंग कुछ सीमा तक तो वर्णन के और चित्रण के माध्यम से और कुछ सीमा तक सांकेतिक थे।

दृष्टं और अदृष्टं का प्रचलन था ही, संकेत और दृष्टान्त को भी वर्णन-प्रणाली में स्थान मिल गया था। छोटे-छोटे चित्रों की सांकेतिक रेखाओं में तथा उनके यथार्थ रंगों में कुछ अर्थ ओत-प्रोत रहता था। सांकेतिक और वर्णन प्रणाली में कुछ विषमता थी, जबकि प्राकृतिक और वर्णन प्रणाली में वातावरण और आकाश को कोई भी रंग दिया जा सकता था (भाग ३, अध्याय ४२), परन्तु दूसरी प्रणाली में आकाश का रंग नील-कमल का-सा होना चाहिए। यदि मानवाकार बनाना हो, तो उसे नील-वसन से ही आवेष्टित किया जाय, वह अपने हाथों में सूर्य, चन्द्र को धारण किये हो। सांकेतिक रंगों का प्रयोग केवल मानवीकरण में ही नहीं होता था। सात्त्विक, राजसी और तामसी गुणों का चित्रण क्रमशः श्वेत, लाल और काले रंग के द्वारा होता था, परन्तु इस प्रयोग का विधान रस-चित्रण और विविध संवेगों के चित्रण में अधिक होता था। यथार्थ—जिसमें दर्पण में पड़े हुए बिम्ब की भाँति ही प्रकृति का चित्रण होता है—से अलग सांकेतिक प्रणाली ने एक दूसरी ही शाखा स्थापित की थी (शिल्प० श्लो० १४१-१४७)। प्रत्येक रस के सांकेतिक चित्रण के लिए विभिन्न-विभिन्न रंग निर्धारित थे, शृङ्गार-रस का चित्रण श्याम रंग से हो, हास का श्वेत रंग से हो, करुण-रस का भूरे रंग से हो, रुद्र-रस का लाल रंग से हो, वीर-रस का चित्रण पीलापन-मिश्रित श्वेत रंग से हो, भयानक का चित्रण काले रङ्ग से हो और आश्चर्य तथा वीभत्स का चित्रण क्रमशः पीले और नीले रङ्ग से हो।

रंगों का दर्शन मानसिक दशा को व्यक्त करता था। इसके साथ ही साथ वर्णन-प्रणाली में भी रंगों का विशद प्रयोग किया गया। इसमे केवल यथार्थ, ज्यों का त्यों चित्रण मात्र नहीं था, बल्कि प्रकाश और वातावरण के प्रभाव भी सम्मिलित थे। वज्र ने पूछा—"मुझमें कौतूहल जागृत हो रहा है, मैं आपसे जल के वास्तविक और अवास्तविक रंगों का विवेचन सुनना चाहता हूँ।" मार्कण्डेय जी ने उत्तर दिया—"नीर का अवास्तविक रंग नीलमणि की तरह होता है - यह उसमें व्योम की परछाहीं पड़ने के कारण ही होता है, परन्तु जल का वास्तविक रंग पर्वत के मस्तक से कलकल स्वर में पतित जल-प्रपात में देखा जा सकता है—उस समय उसका रंग शरद-पूर्णिमा की ज्योत्स्ना-सा धवल होता है।"[२४]

कला की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करने से हमें मालूम होता है कि यथार्थ और सांकेतिक प्रणाली में दो ध्रुवों की-सी विषमता रही है। यह विषमता विकास और विरुद्धता तथा समय-समय हुए बौद्धिक परिवर्तन के कारण हुई है। भारतीय कला तत्कालीन तथा क्रमिक दो शाखों में सदैव विभाजित रही है। एक तरफ कलाकार की दृष्टि प्रकृति की ओर उन्मुख हुई है, दूसरी तरफ उसने मानव-मन के संवेगादि विकारों का, उनके प्रभावों का गम्भीर अध्ययन किया है। चेतनता या जीवन मे विलास लाने वाली महान् शक्ति ही संवेगों के वर्णन में कारण है। सांकेतिक प्रणाली में रंगों और विकास का गम्भीर सामञ्जस्य स्थापित किया गया है।

सन्दर्भ-संकेत

१. वि० ध०, भाग ३, अध्याय ५६, श्लोक १-१९। २. वि० धर्मो०, भाग ३, अध्याय ८२, श्लोक ६५-८८। ३ भाग ३, अध्याय ८२, श्लोक ६३-६४। ४ हॉपकिन्स 'ग्रेट एपिक ऑफ इंडिया', पृ० ५८-५९। ५ एस०वी०, पृ० ६८६। ६. पर्जिटर : डायनेस्टीज ऑफ दी कलि

एज', भूमिका, पृ० १३-१४ । ७. विष्णु धर्मो०, अध्याय ४१, श्लोक ११ । ८. जातकम्, ग्रन्थ ६, पृ० १५८ और २२३ । ९. Vinaya, Vol. IV, Pacittya, nr. XLI, p.289. १०. Maha umagga jatak, p. 212. ११. Sarattha-Parssini Siamege edition, part II, p. 398. १२. Benaras Edi., pp. 32-44. १३ मुद्राराक्षस, अंक प्रथम । १४. शिल्परत्न, अ० ४६, श्लोक १४३-१४५ । १५. वि० ध०, भाग ३, अध्याय १२८, श्लोक १-१८ । १६. Chitra-lakshana, German transl. Lauffer Dorumente der indischan Runst, p. 129-136. १७. Ct. A.K. Mitra, Aims and Methods of Painting in Ancident India, Rupam 1823. १८. Lauffer L. C., p. 186. १९. शिल्परत्न, अध्याय ४६, श्लोक १४ -१५६ । २०. शिल्परत्न, अ० ६४, श्लोक ६०-११० । २१. शिल्परत्न, अध्याय ४६, श्लोक ११८-११७ । २२. K. P. Jaiswal—A Hindu text on painting, Modern review, XXXIII p. 734. २३. अभिलषितार्थ-चिन्तामणि, पृ० ६० । २४. वि० धर्मो०, भाग ३, अध्याय २७, नाट्यशास्त्र । २५. विष्णु०, अध्याय ४२, श्लोक १०-१२ ।

प्रस्तुतकर्ता : डॉ० जगदीश गुप्त
१८१ए, नागवासुकि,
दारागंज,
इलाहाबाद

रवीन्द्रनाथ का जीवन-दर्शन*

□

स्व० श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

रवीन्द्रनाथ कवि हैं, स्रष्टा हैं, यह तो सर्वमान्य है, पर क्या वे दार्शनिक भी हैं, यह विचारणीय है। युक्ति और तर्क के माध्यम से किसी मतवाद का खंडन-मंडन ही यदि दर्शन की संज्ञा पा सकता है, तो रवीन्द्र को दार्शनिक मानना कठिन है। परन्तु जीवन और जगत् के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण को, जीवन के मूल तत्त्व के अनुसंधान को यदि दर्शन की सीमा माना जा सके तो निश्चय ही रवीन्द्रनाथ एक बहुत बड़े तत्त्वज्ञानी दार्शनिक सिद्ध होते हैं।

स्रष्टा या कवि होना कम महत्त्वपूर्ण नहीं, परन्तु द्रष्टा होना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। किसी व्यक्ति में यदि स्रष्टा और द्रष्टा की प्रवृत्तियों का सम्मिलन हो गया, तब महाकवि का व्यक्तित्व सामने उपस्थित होता है। रवीन्द्रनाथ ऐसे ही महाकवि हैं। वे अपने स्वभाव, चरित्र और सृजन-क्षमता से विश्व-मानव, विश्व-नागरिक और विश्व-कवि की प्रतिष्ठा में आसीन हैं।

भारतीय साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ कवि दार्शनिक ऋषियों की वाणी से होता है। वैदिक ऋषियों की ऋचाएँ काव्य और दर्शन की सम्मिलित प्रेरणाओं का परिणाम हैं। तत्त्वज्ञान की परम उपलब्धि उपनिषद् के रचयिता कवि एवं दार्शनिक थे। मध्ययुग के संतों में भी काव्य और दर्शन का योग था।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपने इस ऐतिहासिक उत्तराधिकार को अपनी रचनाओं द्वारा सम्पन्न और शक्तिशाली बनाया है। इनकी विराट रचना-प्रक्रिया में काव्य के साथ दर्शन की अमूल्य निधियाँ बिखरी पड़ी हैं, उनको खोजना, समझाना और उनका उपयोग करना हमारा परम कर्तव्य है।

शंकर दर्शन की भाँति रवीन्द्रनाथ ने भी अपने साहित्य में ब्रह्म, ईश्वर और जीव की जगह तीन सत्ताएँ स्वीकार की हैं...विश्वदेवता, जीवनदेवता और जीव। अन्तर केवल यह है कि शंकर को इन सत्ताओं के प्रभेद-निरूपण में माया को बीच में लाना पड़ा है, परन्तु रवीन्द्र-दर्शन में माया की कोई स्थिति नहीं है। रवीन्द्र ने विश्वदेवता और जीवनदेवता में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं माना। दृष्टिगत भेद से इन दोनों में वही अन्तर है जो घटाकाश और व्यापक आकाश में जान पड़ता है। वास्तव में इन दोनों में कोई अन्तर नहीं, पर जीव के व्यक्तिगत भाव के कारण अन्तर दिखाई पड़ता है। रवीन्द्र ने इन दोनों के सहयोग-सम्पर्क में प्रेम का आधार स्वीकार किया है। रवीन्द्र का यह प्रेम-तत्त्व केवल मानवीय जीवन में ही सीमित न होकर निखिल सृष्टि के जड़-चेतन सभी पदार्थों में परिव्याप्त है। जब एक ही महाप्राण सृष्टि की समग्रता में संचारित हो रहा है, तब सब को परस्पर एकता में प्रेम के अतिरिक्त और सूत्र भी क्या हो सकता है? अपने इस दर्शन के

* प्रस्तुत लेख उनके सुपुत्र डॉ० रामजी पाण्डेय के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

समर्थन में रवीन्द्र ने बार-बार उपनिषद् के इस महावाक्य को उद्धृत किया : 'आनन्द रूपममृतं यद्विभाति'।

विज्ञान की मान्यता है कि सारी सृष्टि में अणु-परमाणु का आकर्षण-विकर्षण निरंतर गतिशील है, किन्तु कवि जब समग्र रूप से इस समर-भूमि की ओर दृष्टिपात करता है, तब यह सारी लड़ाई फूल बनकर खिल उठती है, तारा बनकर चमक पड़ती है, नदी बनकर प्रवाहित होती है, बादल बनकर उड़ने लगती है। वस्तुतः जब हम वस्तु को उसकी समग्रता में देखते हैं तो पाते हैं कि भूमा के क्षेत्र में सुर से सुर का सम्मिलन होता है, रेखा से रेखा का योग होता है, रंग से रंग की माला का आदान-प्रदान होता है। जीव भाव के कारण इस समग्रता से विच्छिन्न होकर संसार को देखने से परस्पर कलह-कोलाहल के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं पड़ता। यह विच्छिन्न दृष्टि विज्ञान की हो सकती है, कवि की नहीं, क्योंकि कवि का विश्वबोध उसे विच्छिन्न दृष्टि से दूर ही रखता है। अतएव विश्व के साथ मनुष्य का जो सम्बन्ध बाह्य प्रकृति के तथ्य राज को अतिक्रम करके उस आत्मा के सम्बन्ध में हो जाता है, वह सम्बन्ध केवल सौन्दर्य का, कल्याण का तथा प्रेम का सम्बन्ध है और यही मनुष्य की सृष्टि साहित्य का राज है, इसमें सन्देह नहीं।

भगवान् की प्रेमपूर्ण आनंद-सृष्टि अपने भीतर से प्रेमावेग के कारण स्वयं उद्भासित तथा उद्भूत हो रही है। मानव-हृदय की आनंद-सृष्टि साहित्य उसी की प्रतिध्वनि है। जगद्-सृष्टि के आनंद-गीत की झंकार हमारी हृदय-वीणा को अहरहः स्पंदित करती रहती है। यही मानस-संगीत भगवान् की सृष्टि के प्रतिघात से हमारे भीतर जो सृष्टि का, रचना का आवेग है, उसी का विकास साहित्य है। भगवान की तरह मनुष्य का हृदय भी साहित्य में अपने को व्यक्त करने के लिए सतत् चेष्टा करता रहता है। भगवान् की सृष्टि की तरह इस सृष्टि का अंत नहीं। कवि, साहित्यकार मानव-हृदय की इस चिरंतन चेष्टा के उपलक्ष्य मात्र हैं। इसीलिए साहित्य किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, अपने रचयिता का भी नहीं, क्योंकि वह सम्पूर्ण मानव-हृदय की धरोहर है। बाह्य सृष्टि जिस प्रकार अपनी भलाई-बुराई, अपनी सम्पूर्णता-असम्पूर्णता को लेकर चिरकाल से व्यक्त होने में लीन है, उसी प्रकार साहित्य भी देश-देश में, भाषा-भाषा में मानव-अन्तस्तल से बाहर व्यक्त होने के लिए निरन्तर उत्सुक है। स्पष्ट है कि जो साहित्य समग्र रूप से मनुष्य मात्र की महिमा को प्रकाशित नहीं करता, उस पर गौरव नहीं किया जा सकता, क्योंकि साहित्य का मुख्य उद्देश्य है हृदय-हृदय का सम्मिलन, योग और यही उसका अन्तिम लक्ष्य है।

इसी तथ्य के कारण रूप में, भावों में, भंगिमा में विभिन्न साहित्य-सृष्टियाँ ससीम होते हुए भी व्यक्ति-पुरुष के आत्म-प्रकाश से सीमातीत रहती हैं। यह व्यक्ति-पुरुष मनुष्य का अन्तरतम ऐक्य तत्त्व है और यही मनुष्य का चरम रहस्य है। यह मनुष्य के चित्त के केन्द्र से विकीर्ण होकर विश्व-परिधि में परिव्याप्त है। यह व्यक्ति-पुरुष प्रतीयमान रूप से जिस सीमा में अवस्थित है, सत्य रूप में उससे आगे बढ़ा जा रहा है, कहीं भी रुकना नहीं चहता। इसी से यह अपनी सत्ता के प्रकाश साहित्य को ऐसा रूप देने के लिए उत्सुक है जो आनंदमय है, मृत्युहीन है। इन समस्त रूप-सृष्टियों में व्यक्ति के साथ विश्व की एकात्मता है। इन सृष्टियों के द्वारा व्यक्ति-पुरुष परम-पुरुष की वाणी का प्रत्युत्तर भेज रहा है जो परम-पुरुष सत्य के असीम रहस्य में, सौन्दर्य की अनिर्वचनीयता में, प्रेम के माधुर्य में आलोकहीन तथ्यपुंज अभ्यन्तर से हमारी दृष्टि के आगे अपने प्रकाश को निरन्तर उद्भासित करता हुआ हमारा पथ-प्रशस्त कर रहा है।

साहित्य की उपर्युक्त मान्यता से स्पष्ट है कि रवीन्द्रनाथ का साहित्य किसी देश या जाति

विशेष की सीमा में न बंधकर निखिल मानवता का गौरवपूर्ण उत्तराधिकार है। यही कारण है कि उनकी जन्म शताब्दी का समारोह सम्पूर्ण विश्व में परम आनंद और परम उत्साह से मनाया गया। यह उनके साहित्य और जीवन-दर्शन का ही सुफल है।

रवीन्द्र ने मुक्त कंठ से गाया था—

> ये प्रथम प्राण...
> एकइ वेग जागा इठे गोपन संचारे
> रक्त रस धारे
> मानव शिराय आर तरुर तंतुते
> एकए स्पन्दनेर छन्द उभयेर अणुते—अणुते !

यही जीवन-दर्शन रवीन्द्र की रचनाओं में नाना रूपों, रंगों तथा अभिव्यक्तियों में उद्बोधित हुआ है।

अहंभाव के कारण व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद-बोध है, वह अहं के आवरण के फटते ही सर्वात्म-बोध में बदल जाता है और जीव सबके साथ प्रेमानंद की अनुभूति में प्रतिष्ठित हो जाता है, यही व्यक्ति की चरम उपलब्धि और रवीन्द्र-दर्शन की परम-प्राप्ति है।

जीवन को समग्र रूप से देखने और समझने की चेष्टा के साथ मनुष्य-जीवन की एकता के ध्येय को हमारे सामने रखकर रवीन्द्रनाथ ने जिस उद्देश्य की उपस्थिति दी है, वह अपने आप में पूर्ण और सफल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-प्रेम और विश्व-बोध के दो कूलों के बीच बहती हुई रवीन्द्र-दर्शन की जीवनधारा आज की मानवता के हृदय को तृप्त करने में सार्थक है, क्योंकि अपने इसी दर्शन के आधार पर रवीन्द्र ने अन्तर्जातीयता एवं विश्व-मैत्री की वाणी का जो प्रथम उद्घोष किया था, वह आज सर्वत्र ध्वनित और स्वीकृत हो रहा है। समस्त मनुष्यों के बीच एकात्मता का अनुभव करना ही जीवन का लक्ष्य है, यही भगवान् की उपलब्धि है। इन शब्दों का महत्व आज सारा संसार मानने के लिए विवश है।

अस्तु हम कह सकते हैं कि विश्व-बोध के परिणामस्वरूप समन्वय तथा सामंजस्य की भावना रवीन्द्र-दर्शन की मूल प्रवृत्ति है और यह भी सच है कि बिना इस उदार भावना को अपनाए मानवता का उद्धार किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं, क्योंकि रवीन्द्र के अनुसार—'समस्त मानव-संसार में जब तक दुःख है, अभाव है, अपमान है, तब तक कोई एक भी मनुष्य निष्कृति नहीं पा सकता। अंधकार में एक प्रदीप के जरा से छिद्र करने से रात्रि का क्षय नहीं होता, समस्त अंधकार के अपसरण से ही रात्रि का अवसान होता है'।

रवीन्द्र-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह उनकी जीवनव्यापी अनुभूति की आधारशिला पर आरूढ़ है, न कि तर्क की किसी उलझनमयी पद्धति पर। उनका दर्शन एक रचनाकार का दर्शन है, कवि की चरम उपलब्धि है, इस दृष्टि से उसका महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। उनके दर्शन में व्यक्ति और समाज, कर्म और ज्ञान, भाव और भक्ति, योग और त्याग का ऐसा रसात्मक समन्वय है जो सबके लिए सहज सुलभ है।

अन्त में मैं कहना चाहूँगा कि रवीन्द्र-दर्शन के आधार पर यदि हम [illegible] की विभिन्न

[illegible]

तो परस्पर आतंक से त्रस्त विश्व-मानवता को सुख और शान्ति का अनुभव प्राप्त करने में विलम्ब न लगे और हम सच्चे अर्थों में उनकी जन्म-शताब्दी समारोह के उत्सव मनाने में सफल और सार्थक सिद्ध हो सकें, इसमें सन्देह नहीं।

पृथिवीपुत्र रवीन्द्र के इन शब्दों के साथ मैं अपनी बात को समाप्त करता हूँ—

वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय
असंख्य बन्धन-माझे महानन्द मय
लभिबो मुक्ति रस्वाद। एइ बसुधार
मृत्तिकार पात्रखानि भरि बारम्बार
तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत
समस्त संस्कार मोर क्षय वर्तिकाय
तोमार मन्दिर माझे !!

१७ सी, अशोक नगर
इलाहाबाद

माखनलाल चतुर्वेदी :

"२५ मार्च, इक्यावनवीं बलिदान-तिथि पर— तिन्ह की अब कान, कहानी सुन्यौ करै"

डॉ० कान्तिकुमार जैन

१८५७ की सशस्त्र क्रान्ति से सुलगते भारत को भरसक राह पर लाने हेतु महारानी विक्टोरिया की घोषणा ने काफी कुछ प्रभाव डाला। अब कोई ऐसा व्यक्ति नहीं बचा था जिसके आसपास लोग एकत्र हो सकते और पुनः क्रान्ति की सम्भावना होती। अब तो लोग यह समझने लग गये थे कि अंग्रेजी राज्य भी ईश्वर की देन है और शान्ति से अपने काम में लग गये थे। लेकिन अंग्रेजों के कानून, बढ़ते हुए अकाल, छीने गये विशेषाधिकारों ने जनता को त्रस्त कर दिया था। वह भटक तो रही थी पर भटकने से बचने का मार्ग नहीं ढूढ़ पा रही थी। १८८५ का ऐतिहासिक वर्ष जब कांग्रेस का जन्म हुआ। विदेशी सत्ता को स्वीकार तो कर लिया गया था, पर उसे अपनाया नहीं जा सका। पहले तो राजा राममोहन राय ने भारत की जागृति का काम प्रारम्भ कर दिया था। केशवचन्द्र सेन और स्वामी विवेकानन्द ने निरन्तर भारत को नैतिक दासता से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया। उधर पंजाब में आर्य समाज के दो दल हो गये थे, लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में, आर्यसमाज भी सुधार में लगा था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गयी और वह संस्था राष्ट्र के हितार्थ काम में लगी। समूचा उत्तर भारत एक प्रकार से संत्रस्त था और अपनी घुटन को व्यक्त भी नहीं कर पा रहा था। भारत धनहीन नहीं था, धन से वंचित था, उसकी सुख-शान्ति और समग्र चेतना का निरन्तर ह्रास हो रहा था। विश्व में भारत एक विदेशी उपनिवेश मात्र रह गया था। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द आदि ने विदेशों में भारत की आस्था के प्रसार का काम आरम्भ तो कर दिया था, पर उनके साधन सीमित थे, उनका मार्ग विशाल था। ऐसी स्थिति में भारत अपनी सत्ता को चाह कर भी बना नहीं सकता था, आन्तरिक दबाव ने देश को बंधनों में डाल रखा था। एक आन्तरिक संघर्ष १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में प्रस्फुटित हो चुका था, किन्तु अब तो ऐसा कोई मार्ग न था, भारत अपने भाग्य पर स्वयं कुण्ठित हो रहा था। समाचार-पत्रों की स्वाधीनता समाप्त की जा चुकी थी।

एक ओर ये बालगंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, दादा भाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त, सुब्रामण्य ऐयर, फिरोजशाह मेहता आदि और दूसरी ओर थी सम्पूर्ण ब्रिटिश सरकार। ब्रिटिश सरकार के सारे चार्टर और कानून मिलकर भी भारतीयों के मन में भड़कने वाली अग्नि को दबा नहीं पा रहे थे। भारत के दक्षिण की ओर पूना में जिस प्रकार तिलक महाराज और गोखले की वाणी गम्भीर स्वर में गर्जन कर रही थी उसी प्रकार उत्तर भारत मे महामना मदन मोहन [illegible]

प्रयाग—संगमस्थल—गंगा, यमुना और सरस्वती का वह पावन संगम जहाँ गंगा और यमुना मिलकर एक हो जाती हैं और सरस्वती विलीन हो जाती है, महामना मालवीयजी की वाणी से प्रयाग अभिषिक्त हो उठा था। प्रयाग में मोतीलाल नेहरू थे, प्रयाग में मालवीय जी थे, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन। वातावरण गंभीर था, कुछ करने के लिये और कुछ पाने हेतु। जनता तो पिस ही रही थी, उसके उद्धार का मार्ग भी चाहिए था और फिर देश को परतन्त्रता से छुटकारा भी दिलाना था।

देश का इतिहास बदलने वाला था, तूफान से पहले की शान्ति। १८८६ की २५ अक्तूबर को प्रयाग के अतरसुइया मोहल्ले में एक साधारण कायस्थ घर में बालक का जन्म हुआ। उस समय बेटा होना बहुत बड़ी बात मानी जाती थी। अतः वातावरण हर्षमय हो रहा था। परिवार साधारण– ग्वालियर के मुगावली स्टेट के ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूल के सेकेण्ड मास्टर मुंशी जयनारायन का बेटा था वह। माता गोमती देवी थी। अतरसुइया बालक का ननिहाल था। नानी ने स्वप्न में गणेश जी की मूर्ति देखी थी, अतः बालक का नाम हुआ गणेश। बालक की आँखें बहुत छोटी थी। अतः माँ को चिन्ता हुई कि कहीं ऐसा न हो कि उसे बड़े हो कर ठीक से दिखे ही न। तो दिखा तो ठीक, कुछ अधिक ही सही, पूरे भारत का भविष्य देखा उस बालक ने पर प्रखर आँखों पर ऋण नौ का चश्मा चढ़ गया।

यह कहानी है एक इतिहास के जन्म की, मसीहा के उदय की और एक मानव की। कहानी की पृष्ठभूमि विशाल है और पात्र भी बहुत अधिक हैं, लगभग पूरी मानव जाति ही उसमें सम्मिलित है। इतिहास है एक कार्य का, एक नगर का और एक अधूरे टूटे परिवार का। जो परिवार उस भविष्यद्रष्टा से चला, जो भविष्यद्रष्टा थे मेरे पितामह। जन्मपत्र में विधाता ने आयु लिखी थी कुल बयालीस साल की, कर्मपत्र में था यशः-विस्तार। जिस तरह अकबर के जन्म पर कस्तूरी की गन्ध की तरह उसका यश फैलने का आशीष दिया गया था, उसी तरह बालक गणेश ने भी जन्मतः कस्तूरी की गन्ध पाई। हरिण स्वयं अपनी गन्ध से परिचित नहीं होता, वह गन्ध तो संसार भर में व्याप्त होती है। बालक गणेश एक साधारण मध्य वित्त परिवार के बालक, पिता अरबी-फारसी और संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता। परन्तु बालक का बचपन नाना के पास सहारनपुर में बीता, नाना थे डिप्टी जेलर—फिर नाती को क्या कमी, जेल में डबल रोटियाँ बनती थीं। प्रतिदिन नाना नाती को एक छोटी-सी रोटी देते, वे चट कर जाते और देखते रहते जेल का व्यवहार। ब्रिटिश सरकार की वह जेलें तो मानो दमन-चक्र की पराकाष्ठा थीं। बालक के कच्चे मन पर विद्रोह के चित्र उभरने लगते और कमजोर आँखों में न जाने कितने प्रश्न उभर आते।

पाँच वर्ष की आयु में पिता का सान्निध्य मिला। पिता ने अक्षरज्ञान कराया और पढ़ाई का प्रारम्भ हुआ। किन्तु कुछ समय बाद पिता का तबादला भेलसा हो गया और बालक गणेश ने १६०५ में अँग्रेजी मिडिल पास कर लिया। मिडिल में हिन्दी द्वितीय भाषा के रूप में थी। निजी तौर पर वे मुगावली के हेडमास्टर कान्हकुँवर जी से पढ़ते और १६०७ में क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर से उन्होंने एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की। आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत थीं, सहज रूप से पढ़ाई सम्भव न थी, अतः किसी प्रकार एक-एक कर पढ़ाई होती थी। १६०७ में ही वे कायस्थ पाठशाला-प्रयाग में पढ़ने के लिये गये, परन्तु लक्ष्मी और सरस्वती का जन्म का बैर है। अतः आठ माह

अर्थाभाव से जूझकर किशोर गणेश ने पढ़ाई त्याग दी और बड़े भाई श्री शिवव्रत नारायण के द्वारा लगवाई, कानपुर करेंसी की ३०/- प्रतिमाह की नौकरी कर ली। बड़े भाई कानपुर रेलवे मे मुलाजिम थे।

किन्तु उनकी प्रखरता ने साथ नहीं छोड़ा था। गजेन्द्र, श्रीकांत आदि के नाम से वे सरस्वती, अभ्युदय, हितवार्ता आदि में लिखने लगे थे। वातावरण के प्रति संवेदनशील पितामह तब तक पारिवारिक जीवन में प्रतिष्ठित नहीं हुए थे। देश में बंगभंग का क्रोध व्याप्त था। कांग्रेस भी अपना रूप धारण कर चुकी थी। सारा देश क्रोध से भीतर ही भीतर सुलग रहा था, किन्तु दमन-चक्र के पहियों का भय किसी को आगे आने नहीं देता था। बाल गंगाधर तिलक के ओजस्वी भाषण देश मे फैल रहे थे। लार्ड कर्जन की हिन्दू-मुस्लिम भेद-नीति भी तेज हो गयी थी। इसी बीच अनिच्छा रहते हुए भी गणेश का विवाह हो गया, हरवंशपुर इलाहाबाद की चन्द्रप्रकाश से उनका विवाह हुआ। परम्पराओं से ग्रस्त परिवार में रूढ़ियों के आधार पर कुँवर-कलेवे के समय वर के कुछ न कुछ माँगने की प्रथा थी। पर माँगा उन्होंने भी, अपने गुरु कान्हकुँवर जी के लिये नजराना। गुरु का आदर इससे अधिक और क्या हो सकता था।

पितामह करेंसी में नोट जलाने का काम करवाते थे, खाली बैठे रहने का अभ्यास न था, अतः अभ्युदय या हितवार्ता पढ़ने रहते थे। अधिकारियों से कहा-सुनी हो गयी, अतः इस्तीफा देकर वे अपने घर आ गये। जीविकोपार्जन हेतु समझौता करना उन्होंने नहीं सीखा था। पुनः १ दिसम्बर, १९०८ से पं० पृथीनाथ हाई स्कूल मे २०/- मासिक पर उन्होंने अध्यापन-कार्य स्वीकार कर लिया, लेकिन वहाँ भी यही हुआ। 'देशभक्ति', 'विद्यालय में देशद्रोही' अखबार पढ़ने की छूट नहीं थी, इस्तीफा ही दिया गया। खाली समय कैसे बीतता? हिन्दी कर्मयोगी, उर्दू 'स्वराज्य', हितवार्ता आदि में लेख लिखते ही थे। कानपुर में हिन्दू फ्रेंड्स एसोसियेशन नामक संस्था बना बैठे। श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा, महाशय काशीनाथ, डॉ० बेनीप्रसाद, श्री दया-नारायण निगम, पं० शिवनारायण मिश्र आदि के साथ जमकर वाद-विवाद करते। नाना विषयों पर चर्चा होती और जनता की आवाज को बुलन्द करने का रास्ता सोचा जाता।

१९०६ में दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस का उद्देश्य बताया था—'हमारा सारा आशय केवल एक शब्द स्वशासन या स्वराज्य में आ जाता है।' पर इसे महासमिति में नरम कर दिया गया। कांग्रेस के सदस्यों के चुनाव का भी निर्णय हुआ, विषय निर्वाचिनी समिति बनी और यह तय किया गया कि वैध उपायों का अवलम्बन लिया जाये। वर्तमान शासन-प्रबन्ध में क्रमशः सुधार करवाये जायें, राष्ट्रीय एकता एवं सार्वजनिक भावना को बढ़ाया जाये, राष्ट्र के बौद्धिक-नैतिक, आर्थिक और सामाजिक साधनों का विकास करने का निश्चय किया गया। १९११ के कलकत्ता अधिवेशन में इन्हीं सिद्धान्तों का अनुमोदन किया गया। युवा गणेश उस समय तक गणेशशंकर विद्यार्थी बन चुके थे। विद्या की, ज्ञान की चाह उनमें बहुत प्रखर थी। वातावरण तनाव से भर गया था, प्रथम विश्वयुद्ध के बादल मँडराने लगे थे।

उसी समय आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कानपुर के जुही मोहल्ले में रहा करते थे। वे कानपुर से ही सरस्वती का सम्पादन करते थे। हिन्दी के पुनर्निर्माण से ही पितामह का लेखन उनके मन को छू गया था और उन्होंने युवा गणेश शंकर को २५/- प्रतिमाह पर सरस्वती में सहायक सम्पादक के रूप में रख लिया। गुरु और शिष्य में प्रगाढ़ स्नेह था. दोनों साथ पढ़ते-लिखते और समभय साथ ही अरहर की दाल और भात का भोजन होता आचार्य जी का तीन-चौथाई काम

में स्वयं ही करने लगे थे, सीखने की इच्छा बहुत प्रबल जो थी। उस समय तक वे पितामह पिता बन चुके थे अपने ही समान यशस्वी एक लघु-आयु पुत्र हरिशंकर के। उन्हीं पर परिवार का बोझ पूरा था, पिता, माता, विधुर अग्रज एवं विवाहिता बहन जो साल के दस माह भाई के पास काट देती थी। पत्नी भी तो थी। सरस्वती ने उनकी लेखन-शैली को तलवार की तरह पैना कर दिया था। द्विवेदी जी की अनुशासनप्रियता ने उर्दू का लगाव कम करवा दिया था, हिन्दी सुधर गयी थी। किन्तु पितामह का मन नहीं लग रहा था। बचपन में देखे जेल के वे यातनापूर्ण चित्र उभर कर उन्हें बार-बार राजनीति की ओर खींच रहे थे। देश का तनावपूर्ण वातावरण साहित्य को भी इति-वृत्तात्मक बना रहा था। ऐसी स्थिति में महामना मालवीय जी ने पितामह को स्मरण किया। 'अभ्युदय' बन्द होने वाला था। पर 'सरस्वती' की वीणा पूरी झंकार से उभर रही थी। द्विवेदी जी इन्हें छोटा भाई मानते थे, दोनों का घर भी अगल-बगल था (जुहो का चित्र)। 'गणेश तो मेरे छोटे भाई सरीखे हो गये थे और स्वयं मैं बिना उनसे पूछे बहुत से काम नहीं करता था।' अभ्युदय राजनैतिक था। पितामह का मन राजनैतिक मामलों में लगता था, अतः वे सरस्वती छोड़कर अभ्युदय में काम करने प्रयाग चले गये। अभ्युदय में कठोर श्रम करने से उनकी शरीर-क्षमता घटती गयी और उसके विपरीत अभ्युदय की पाठक संख्या दो-गुनी हो गई। मेरे पितामह अपने शरीर को तो कम साधन का माध्यम मानते और उस पर कभी भी तरस न आता उनको। किन्तु इस बार वे भयानक रूप से बीमार हो कर कानपुर आ गये। १९१३ का समय था, विश्वयुद्ध की घटा उमड़ आई थी। पूरा विश्व एक-दूसरे को निगल लेने के लिये व्याकुल हो रहा था। भारत में ब्रिटिश शासन भी कुछ सावधान हो गया था, परिणामतः दमनचक्र और कड़ा हो गया था। मिण्टो-मार्ले और मांटेस्क्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों ने दमन-चक्र को बजाय नर्म करने के और कड़ा कर दिया था।

देवोत्थानी एकादशी, १९१३, धनरहित, जनरहित, बाईस-तेईस वर्ष के युवा के मन में स्वप्न थे। आँखों में प्रखर क्रोध था—दमन-चक्र के खिलाफ और थी अदम्य प्रीति पीड़ित मानवता हेतु। जनता को वह युवक मुखर करना चाहता था। उसका उद्देश्य था जनता को जगाने और दमन-चक्र के खिलाफ उठ खड़ा कर देने का। मन में थी बलिदान की भावना और हृदय में था अविश्रान्त श्रम का उल्लास। किन्तु उस युवक का परिवार बोझ से भरा था, चिन्तायें थीं, रोज की दाल-रोटी का भी ठिकाना न था। आज खाने को है, कल क्या होगा, इसकी चिन्ता थी। छोटे-छोटे दो बच्चों को दूध तो दूर, ठिकाने से रोटी भी न जुड़ती थी।

ऐसे थे मेरे पितामह। आशाओं, आकांक्षाओं के झूले में झूलते हुए, मन में बन्दिनी भारतमाता को बन्धनमुक्त करने की कामना लिये हुए, चिन्ताओं के बोझ से दबे पर उल्लसित भाव से हर काम में जुट जाने वाले। प्रताप के प्रकाशन के समय उनके पास धन नहीं था, निज का प्रेस नहीं था। पर पितामह के पास साहस, लगन और त्याग प्रचुर मात्रा में था। सोलह पृष्ठों का साप्ताहिक प्रताप निकाला गया और उस दुर्बलकाय नवयुवक ने पत्र की नीति की घोषणा की—

"मनुष्य की उन्नति सत्य की जीत के साथ बँधी हुई है। इसलिये सत्य को दबाना हम महापाप समझें और उसके प्रचार एवं प्रकाश को महापुण्य। हम जानते हैं कि हमें इस काम में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और इसके लिये बड़े भारी साहस और आत्मबल की आवश्यकता है। हमें यह भी अच्छी तरह मालूम है कि हमारा जन्म निर्बलता, पराधीनता और अल्पज्ञता के वायुमण्डल में हुआ है, तो भी हमारे हृदय में सत्य की सेवा करने के लिये आगे बढ़ने की इच्छा है और हमे अपने उद्देश्य की सचाई तथा अच्छाई का अटल विश्वास है।"

और एक भारतीय युवक के नाम लिखा—

"आओ प्रताप आओ, लेकिन पहले परीक्षा दो, स्वतंत्रता देवी के मन्दिर में उनके लिये स्थान नहीं जिनके हृदय का स्थान छोटा है। कैसे परीक्षा दोगे ? अपने सिर को कटा कर ? नहीं, बल्कि अपने सर को धड़ पर रहते हुए। जो सर स्वतंत्रता देवी के सामने झुका, याद रखो, उसे अधिकार नही कि वह और किसी शक्ति के सामने झुके।"

'प्रताप' अपना पराक्रम दिखाने लगा था, सम्पादक की लेखन-शैली प्रताप को देर-देर तक लोकप्रिय बना रही थी और वह नवयुवक प्रताप के यशस्वी सम्पादक के रूप में लाखों का हृदय-सम्राट् बन गया था। पत्रकारिता में नया आयाम बना और सत्य की विजय हेतु कार्य प्रारम्भ हुआ। पहला महायुद्ध शुरू हो चला था। कांग्रेस नरम दल और गर्म दल में बँटी हुई थी। मुसलमानों का बढ़ता हुआ राष्ट्रवादी भाव मुस्लिम लीग को कांग्रेस की ओर ढकेल रहा था। पहले महायुद्ध के बाद शान्ति के स्थान पर दमनकारी और फौजी कानून आये। पंजाब उसका पहला शिकार बना। भारतीय जनता नाराज थी और तीखी बेइज्जती की भावना से भरी हुई थी। लगातार शोषण से गरीबी बढ़ती आ रही थी, मानो भारत का समूचा शरीर अपंग हो गया था। सभी अन्य वस्तुओं के साथ समाचार-पत्र भी इस शोषण के शिकार हो रहे थे। पर भारतीय जनता के मन में डर समाया हुआ था, फौज का, बेकरी का, भुखमरी का और इसी कारण वह अपनी दयनीय दशा के लिये आवाज नहीं उठा पा रही थी। रिपोर्टों के अनुसार आम आदमी एक चूहे के बराबर भोजन पाता था।

मेरे पितामह भी उसी भूखी, वस्त्रहीन भारतीय जनता के एक अंग थे। उसी भूख में उन्होंने पत्र निकाला था, बस अन्तर केवल इतना कि उनकी भूख शरीर की नहीं मन की थी। उनका परिवार भूखा था। पर वे देश की जनता के साथ समझे जाते थे। जितना कष्ट हर व्यक्ति उठाता है, उतना ही उनका परिवार उठाये—ऐसा ही वे चाहते थे। प्रताप के सोलह अंक कोरोनेशन प्रेस में छपे, उधार पर, फिर फीलखाने में पं० शिवनारायन मिश्र का एक मकान किराये पर लेकर अपना प्रेस लगा लिया गया। आर्थिक सहायता देने वाले भी थे, लाला रामगोपाल और लाला कमलापत सिंहानिया। आर्थिक दशा इतनी खराब थी कि एक अंक के बाद दूसरा आना कठिन होता। परिवार भी इसी दशा में प्रसन्न था। 'प्रताप' सम्पादक के घर रोज कुर्की होती, घर की चटाइयाँ तक चली जातीं, पर माता के हृदय पर शिकन न आती। बेटा सत्य के मार्ग पर था। २४ अप्रैल, १९१५ वह भयानक दिन जब कानपुर में प्रताप प्रेस सम्पादक के घर और मकान मालिक पं० शिवनारायण मिश्र के घर ऐतिहासिक तलाशी हुई। रातोंरात इलाके घेर लिये गये। डेस्क, कागज तक उठा ले जाए गए, पर कुछ भी विशेष आपत्तिजनक न मिला, मिलता भी कैसे ? देशभक्त पुलिस वाले भी होते हैं, अतः संवाद पहले ही मिल गया था। प्रताप को आर्थिक क्षति पहुँची। पुनः १९१६ में प्रताप प्रेस से १०००/- की नकद जमानत माँगी गई जिससे प्रेस बन्द हो जाये और प्रताप को चोट पहुँचे। ८ अगस्त, १९१७ को चम्पारन काण्ड पर लिखे गये पितामह के सम्पादकीय लेखों पर पुनः जमानत माँगी गई और 'सौदाये-वतन' (कविता-नानक सिंह) पर प्रताप की जमानत जब्त कर ली गई। यह बहुत बड़ा वार था और प्रताप इसे सहन नहीं कर सकता था। प्रताप सम्पादक गणेश जी ने इसे भविष्य के लिये चेतावनी मान लिया था। ब्रिटिश सरकार के नुमायन्दों का कहना था कि जब तक प्रताप है, ब्रिटिश सरकार की जड़ें जम नहीं सकतीं। पितामह और उनके मित्रों ने मिलकर प्रताप सहायता फंड खोला। प्रताप को काल-कवलित होने से बचाने हेतु और ब्रिटिश सरकार के क्रूर प्रहारों को झेलने हेतु। मित्रों की कृपा से आठ हजार रुपया जमा हो गया

गणेशशंकर विद्यार्थी जिन्होंने धनाभाव में जीना सीखा था, इस रकम को अपने पास रख सकते थे, 'प्रताप' को निजी सम्पत्ति बना सकते थे, पर उन्होंने जनता की धरोहर जनता को सौंपने का निश्चय किया। उन्होंने एक सार्वजनिक न्यास बनाया जिसमें पाँच व्यक्ति थे—श्री मैथिलीशरण गुप्त, डॉ० जवाहर लाल रोहतगी, लाला फूलचन्द्र, पं० शिवनारायण मिश्र, गणेशशंकर विद्यार्थी। न्यास के पास अस्तित्व-रक्षा हेतु आठ हजार रुपया था। प्रताप के मुद्रक प्रकाशक हो गये थे पं० शिवनारायण मिश्र और गणेश जी थे सम्पादक। कारण था—ब्रिटिश दमन-चक्र से बचाना, निजी सम्पत्ति को हड़प लेना सरकार के लिये आसान था, पर सार्वजनिक न्यास को हड़प सकना आसान न था। समाचारपत्र की आवाज बन्द हो जाये, यह सहन करना उस क्षीणकाय भविष्यद्रष्टा को न था। उसकी आँखों के सामने तो वह बचपन के संत्रस्त चेहरे घूम रहे थे, वे कराहें, वे चीत्कारें घूम रही थीं जो पाँच वर्ष तक की कच्ची शिशु आँखों में देखी थीं।

प्रताप सार्वजिनक सम्पत्ति बन गया था पर उसके पीछे लगन तो निजी सम्पत्ति से भी अधिक थी। जिस प्रकार से पितामह ने प्रताप की नींव डाली थी बिना धन के, पास में तनिक भी सम्पत्ति न होने पर भी जैसे वे कर्मपथ से विचलित नहीं हुए थे, उसी प्रकार वे अब भी काम में लगे रहते। प्रताप के चपरासी से लेकर दफतरी तक वे स्वयं थे, अतः कभी उन्हें अनुभव नहीं हुआ कि प्रताप सार्वजनिक सम्पत्ति है। उनका जीवन तो स्वयं सार्वजनिक था। प्रातः से लेकर रात तक अपना पल कौन-सा है, यह वे नहीं जान पाये। जनता के सामने बापू की आवाज गूँज रही थी 'डरो मत' और उसी आवाज को मुखरित करने हेतु प्रताप संघर्ष कर रहा था। असहयोग-आन्दोलन का समय था, जनता धीरे-धीरे जाग रही थी, पर प्रताप के सम्पादक अपनी गति मन्द नहीं करते थे। उनके लेख उसी प्रकार ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आग उगलते। कोई भी घटना उनके तीक्ष्ण नेत्रों से न छूटती और कोई भी घटना, भय उनको मूक नहीं कर पाता था। साधारणतया प्रताप का हर साप्ताहिक अंक ३६ से ४० पृष्ठ तक का होता और उसमें भारत की दीन दशा पर जनता को उद्‌बोधन दिया जाता। कोई भी घटना जो जनहित के विरुद्ध हो, उनके आगे बच नहीं सकती थी। इसी संदर्भ में रायबरेली में किसानों पर हुए भीषण गोलीकाण्ड पर उन्होंने लेख लिखे। १९२० का समय था। मुकदमा चला। प्रताप को ब्रिटिश सरकार नटोरियस कहती ही थी, अतः उसका सम्पादक भी सरकार की दृष्टि में बड़ी सजा पाने का अधिकारी था। इस मुकदमे में उनसे पन्द्रह हजार के मुचलके माँगे गये, पर पितामह के पास न तो मुचलके की रकम थी, न इस सिद्धान्त में विश्वास। निश्चय कर लिया था कि जेल जाना है। पर एक दिन समाचार मिला कि कानपुर के मित्रों ने मुचलके भर दिये हैं। अतः सजा न होगी। बस क्रोध भड़क उठा और तुरन्त कचहरी जाकर मुकदमे में आत्मसमर्पण कर दिया, मुचलके वापस हो गये। १६-८-१९२१ से उनको सजा हो गयी जो २२ मई, १९२२ तक रही। इस सन्दर्भ में वे पहले लखनऊ सेन्ट्रल जेल में रखे गये, बाद में जिला जेल में ले जाये गये। उनके साथ पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहर लाल नेहरू, बापू, पुरुषोत्तम दास टण्डन, आचार्य कृपालानी जी आदि थे। कष्टकर जेल थी। सुविधा का तो प्रश्न ही नहीं, साधारण व्यवस्थायें भी नहीं थीं। इस जेल में पितामह का टूटा स्वास्थ्य और भी टूट गया।

१९२२ में छूटने के बाद पुनः वही क्रम चालू हो गया, प्रताप उनके जीवन का एक अंग था। वे हर समय विदेशी सत्ता के खिलाफ आवाज उठाने में तत्पर थे, उनके लिये विदेशी शासन के खिलाफ उठाया गया हर कदम प्रशंसनीय था।

सम्भवतः यही कारण था कि प्रेस मे टाइप और स्याही के साथ क्रान्तिकारियों का बम बनाने का मसाला भी रहता था। काकोरी की पूरी योजना स्वय सम्पादक प्रताप ने बनवाई

थी। पुलिस के अधिकारी भी जानते थे उनकी देशभक्ति को, अतः कोई भी तलाशी या गिरफ्तारी का वारंट होने पर कुछ पहले ही चुपचाप खबर आ जाया करती।

पुनः फतेहपुर जिला कांग्रेस के सभापति चुने गये विद्यार्थी जी और पुनः उन्होंने उसी प्रकार आग उगलने वाले भाषणों की संख्या जारी रखी। उनकी भाषा में ओज की बहुतायत थी, तभी तो ब्रिटिश सरकार ने उन्हें पुनः एक साल की सजा व साथ में ३०० रु० जुर्माना कर दिया। जुर्माना भरने की न स्थिति थी और न इच्छा, अतः २०-३-१९२३ को गिरफ्तार होकर वे नैनी जेल ले जाये गये और वहाँ अच्छे व्यवहार के कारण वे २९-१-१९२४ को रिहा कर दिये गये। नैनी जेल में उन्हें कठोर श्रम करना पड़ता था, बान भी बटवाया जाता था और दिन भर मजदूर की तरह काम में लगा रखा जाता था। और पितामह ताजे फलों और सब्जियों के बहुत शौकीन थे। जेल में एक फाँसी की सजा पाया गोरा-सा बलिष्ठ नवयुवक रोज उनके लिये फल आदि लाता और खूब रोता। कारण पूछने से भी न बताता। एक दिन पता चला कि यह क्रांतिकारी है--नाम अली अहमद सिद्दिकी। हाल ही में विवाह हुआ है, बड़े भाई का निधन हो चुका है। पूरे परिवार का बोझ है, इसी कारण चिन्ताग्रस्त है। पितामह तो छूट गये, पर उनका मन वहीं कारागार मे रह गया। बाहर आकर उन्होंने उस नवयुवक के लिये अपील आदि की और उसे शीघ्र ही मुक्ति दिलाई। प्रताप प्रेस में एक दिन वह नवयुवक आकर उनके पास बैठा और अपने घर जाने से इन्कार करने लगा। उसके लिये तो पंडित जी ही मसीहा थे, पर पितामह ने समझा-बुझाकर उसे घर भेजा और उस दिन से बाद तक श्री अली अहमद सिद्दिकी उनको अपना भाई मानते रहे। विद्यार्थी परिवार में उनकी प्रतिष्ठा भी वैसी ही होती थी। पुनः २८-८-१९२६ को शिकोहाबाद मानहानि के लिये उन पर मुकदमा चला। हमेशा की तरह वे ही अपराधी करार किये गये। ४०० रु० जुर्माना या छह माह की सजा हो गई। पितामह जुर्माना देने के खिलाफ थे—वे जेल चले गये, पीछे से मित्रों ने (पं० शिव नारायण मिश्र आदि) ने जुर्माने की रकम भर कर उनको छुड़ा दिया। जेल से तो वे बाहर आ गये, पर जब उनको पता चला कि जुर्माना भर दिया गया है तो उन्होंने क्रुद्ध होकर जुर्माना वापस कराया, पूरा मुकदमा हाईकोर्ट तक लड़ा गया और अन्त में वे ही जीते।

और अन्तिम जेलयात्रा १९३० में—कानपुर के प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन में दिये गये भाषण को सरकार ने राज-प्रोत्साहन ठहरा दिया था। काफी कठिन संघर्ष था। भाषण के वाक्यों को खूब तोड़ा-मरोड़ा भी गया था। पितामह को सजा हो गई। किसे पता था कि यह अन्तिम जेल यात्रा है। २१ मई, १९३० को उन्हें हरदोई जेल भेज दिया गया जहाँ पर उन्होंने विक्टर ह्यूगो की इतिहास-प्रसिद्ध पुस्तक 'ले मिरेबल्स' का सम्पूर्ण अनुवाद किया। गांधी-इर्विन समझौता होने वाला था, इसी समझौते के परिणामस्वरूप वे १८ मार्च, १९३१ को रिहा कर दिये गये, अपनी अवधि से कुछेक माह पूर्व।

लेकिन वह रिहाई तो मसीहा को संसार के कारागार से मुक्ति दिलाने की पूर्वसूचना मात्र थी। २५ मार्च, १९३१ को उन्हें संसार छोड़ जाना था। सम्भवतः इसी कारण जेल से भी उन्हें जल्दी छोड दिया गया।

इस बीच प्रताप पूर्णतया अपने पैर जमा चुका था। आर्थिक विपन्नता से अप्रभावित, रोज की कुर्की तलाशी से अभ्यस्त मेरे पितामह का प्रताप परिवार अब निश्चिन्त भाव से देश-सेवा में जुटा था। प्रताप के साथ 'प्रभा' नाम की मासिक पत्रिका भी निकलती थी। प्रकाश भी था जहाँ से हुर बन्दबुदा पुस्तक प्रकाशित होती थी। आयरलैंड का इतिहास प्रवासी भारतीय,

स्वयं विद्यार्थी जी द्वारा अनूदित (नाइन्टी थ्री-विक्टर ह्यूगो), बलिदान आदि वे प्रमुख पुस्तकें थीं जिनका प्रकाशन होता था। तलाशियाँ होती थीं, पर खबर पहले आ जाती थी जिससे सारी सामग्री रातो-रात गायब हो जाती थी। कुछ मिलता ही नहीं था तलाशी में। अधिकारी एवं पुलिस परेशान थे, पर वह डेढ़ हड्डी का व्यक्ति अपनी गतिविधियों पर सतत रूप से लगा था।

कानपुर में मजदूरों की दशा बहुत दयनीय थी, कानपुर सूती कपड़ों का काफी बड़ा इलाका था। अतः यहाँ मजदूर भी बहुत थे। १९२७ में ग्वालटोली में सूती मिल मजदूर सभा का निर्माण उन्होंने किया और १९३१ तक उसके अध्यक्ष भी रहे। इस सभा के द्वारा विद्यार्थी जी के सम्पादकत्व में ही 'मजदूर' नामक साप्ताहिक भी निकाला जाता था। यह सभा आज भी है और आज भी इसके भवन की दीवारें उनकी ओजस्विता की मूक साक्षी हैं। विद्यार्थी जी १९२६ से १९२९ तक प्रान्तीय कौन्सिल उत्तर प्रदेश के सदस्य भी रहे, पर बाद में कांग्रेस का आदेश होने पर उससे इस्तीफा दे कर अलग भी हो गये। १९२५ में वे कानपुर कांग्रेस के स्वागत मन्त्री थे और वह ऐतिहासिक सम्मेलन अनेक महत्वपूर्ण निर्णयों का साक्षी रहा। बापू भी दरिद्रनारायण की कुटिया प्रताप प्रेस में जा कर टिके थे और तिलक जी की स्मृति में कांग्रेस-स्थल को तिलक नगर का नाम दिया गया था जो आज तक चल रहा है। १९२९ में उन्हें फर्रुखाबाद राजनैतिक सम्मेलन का सभापति भी चुना गया। १९२९ में ही विद्यार्थी जी ने कानपुर के पास नर्वल नामक ग्राम में सुधार हेतु सेवाश्रम की स्थापना की। बापू के आदेशों के अनुसार इस गाँव में चर्खा, हस्त-शिल्प आदि की व्यवस्था की गई। यह सेवाश्रम आज तक चल रहा है।

और १९३० में उन्हें युक्त प्रान्त का प्रथम डिक्टेटर बनाया गया। उस समय कांग्रेस का डिक्टेटर ही सर्वोच्च सत्ता होता था जिसके आदेशों का पालन आवश्यक था। पं० जवाहर लाल नेहरू मन्त्री थे और अग्रज गणेश जी के साथ थे। हरदोई जेलयात्रा इसी संदर्भ में हुई थी। उनकी जेल-यात्राओं ने उन्हें कभी त्रस्त नहीं किया। जेल एक प्रकार से पितामह के लिये लेखन आदि के लिये संयोग बनाती रही। 'हाथी की फाँसी' उन्होंने जेल में लिखी। 'ले मिजरेबल्स' का अनुवाद उन्होंने जेल में किया। चिन्तायें तो रहती ही थीं। वृद्ध माता-पिता, बड़े भाई, रुग्णा पत्नी, छोटे-छोटे छह बच्चे और न कितने सामाजिक और राजनैतिक दायित्व। उनके व्यस्त जीवन से ऐसा लगता था कि उनके पास अपने परिवार हेतु अवकाश नहीं है, पर परिवार तो उनके मानस-पटल पर छाया ही रहता था, चाहे वे उस चिन्ता को व्यक्त न करें। मेरे पितामह का जीवन अत्यन्त सम्वेदनशील था, वे वातावरण से बहुत कुछ ग्रहण करते थे। उनका उदय उस समय हुआ था जब भारतीय राजनीति में लोकमान्य तिलक का बहुत प्रभाव था, श्री गोपालकृष्ण गोखले और फिरोजशाह मेहता, महामना मालवीय जी आदि की ओर जनता मार्ग-दर्शन हेतु देखती थी। महात्मा गांधी का आविर्भाव तो १९१६ के बाद से हुआ। तिलक जी की गुरुता और गम्भीरता का विद्यार्थी जी पर बहुत प्रभाव पड़ा। वे केसरी और मराठा के नियमित पाठक थे। इसी श्रद्धा के कारण १९२५ में कानपुर कांग्रेस-स्थल का नाम तिलक नगर रक्खा गया। लोकमान्य के स्पष्ट विचारों और तेजस्विता के अनुसार विद्यार्थी जी ने उस समय की जनता को जागृत करना चाहा। वे लखनऊ कांग्रेस में लोकमान्य से भेंट कर चुके थे और लोकमान्य का नारा 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' उनके हृदय में गहरे पैठ चुका था। मेरे पितामह लोकमान्य की भाँति अपनी करुणा को भी राजनैतिक गाम्भीर्य के कलेवर में छिपा लेने में सफल थे। इसी श्रद्धा के कारण १९२५ में कानपुर कांग्रेस-स्थल का नाम तिलक नगर रक्खा गया। गोखले की भाँति वे ममता के सागर भी थे केवल ममता को

[illegible]

आ कर रोने लगा कि मेरे साथ का सारा सामान चोरी हो गया, पास में पैसे भी नहीं हैं, पितामह ने सारी जेब उलट दी, जो कुछ पास मे था, सब दे दिया। हालांकि अगले दिन क्या होगा, यह सोच कर कुछ लोगों ने टोका भी, यह भी कहा कि सम्भव है कि वह झूठ बोल रहा हो, उनका उत्तर यही था कि भाई उसकी जरूरत मुझसे बड़ी ही होगी, तभी तो वह मेरे पास आया। राजनीति मे उन्होंने गोखले से स्नेह सीखा था, दादा भाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता से तथ्यप्रियता सीखी थी। कोई भी बात, कोई भी लेख बिना तथ्य का नहीं होता था। इसी कारण उनकी बात अकाट्य होती थी, वे सत्य को एकदम पा नहीं लेना चाहते थे, वरन् सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़कर उसे महसूस करते थे, तब जनता के सामने उसे उजागर करते थे।

बापू की सत्य और अहिंसा की नीति तो उनकी अपनी ही थी, साथ ही वे बापू की सादगी और सत्यनिष्ठा के भी कायल थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि बापू का बताया मार्ग ही स्वराज्य-प्राप्ति का मार्ग है। गांधी-इर्विन वार्ताओं के विषय में उन्होंने लिखा—

"महात्मा जी लार्ड इरविन से तीन बार मिले। बीच में इंग्लैण्ड से सलाह करने के लिये सिलसिला स्थगित हो गया है। ऐसा भासित होता है कि महात्मा जी को तो बहुत आशा है। पता नहीं आगे चल कर क्या होगा ? किन्तु ऐसा मालूम होता है कि जितना हम चाहते हैं, उतना वे दे नहीं सकते और जो वे देंगे, वह न यथार्थ है, न हमें स्वीकार है।"

२१ फरवरी, १९३१ हरदोई जेल डायरी। पं० मोतीलाल नेहरू उनके घनिष्ठ मित्र थे। रायबरेली गोलीकाण्ड के मुकदमें में वे विद्यार्थी जी की ओर से लड़े भी। १७ फरवरी, १९३१ को उनके निधन के समाचार से पितामह ने लिखा—

"आज सवेरे ही बा···ने सूचना दी कि मोतीलाल जी का निधन हो गया और नगर मे हड़ताल रहेगी। बड़ा ही दुःखदायी समाचार है। कुछ दिन पण्डित जी के अभी और रहने की देश को जरूरत थी। अजब शान के आदमी थे, आदि से अन्त तक खूब निभी भी।"

कानपुर एक मजदूर जनसंख्या वाला शहर रहा है और मजदूरों का मसीहा वह व्यक्ति न होता, यह सम्भव न था। १९१६-१७ में होमरूल लीग के अन्दोलन के समय उन्होंने मजदूरो का नेतृत्व किया और उन पर होने वाली ज्यादतियों को रोकने की चेष्टा की। पर सूती मिल मजदूर सभा इसी दिशा मे एक कदम थी। वे १९२७ से अन्त समय तक उसके अध्यक्ष रहे और 'मजदूर' नामक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन भी करते रहे। वे लेनिन की तरह यह मानते थे कि मजदूर और कृषक राष्ट्र का भविष्य है···

किसान और मजदूरों का युग आ गया है, थोथी राजनीति से अब काम न चलेगा। भविष्य किसान और मजदूरों के हाथ मे है। जो संस्थाएँ भविष्य में किसान मजदूर सेवा से वंचित रहेंगी, वह शक्तिहीन और निकम्मी सिद्ध होंगी।

रूसी लेखक टाल्सटाय उन्हें बहुत प्रिय था और वैसा ही शान्तिप्रिय स्वभाव था मेरे पितामह का। कानपुर से कुछ दूर नर्वल गाँव में उन्होंने समाज-सुधार की दृष्टि से नर्वल सेवाश्रम बनाया था और बहुधा कहा करते थे कि बुढ़ापा तो मैं वहीं जाकर शान्ति से काटूँगा। वहीं रहूँगा और पुस्तकें लिखूँगा। किन्तु किसे पता था कि बुढ़ापा उनके भाग्य में है ही नहीं ? टाल्सटाय का गाँव यास्नाया पोल्सयाना तो आज भी सुरक्षित है, पर गणेशशंकर विद्यार्थी के सपनों का सेवाश्रम आज बन्द ही पड़ा है। क्या वह सपने टूटना इतना सहज था ?

शरीर पर गाढ़े का कुर्ता-धोती पैरों में मरे हुए चमड़े का जूता बिखरे हुए बाल और गौरवर्ण चहरे पर मोटा चश्मा मधु आकृति थी उस जनसेवक की, जो जनता का हृदय

था। जिसके लेख पढ़कर मानव-हृदय व्याकुल हो जाता और जिसके पास आकर न जाने कितने नौजवान रह जाते कि उनका जीवन भी सुधर जाये। अक्सर मुझे ऐसा लगता है कि शायद विक्टर ह्यू गो को वे इसीलिये पसन्द करते थे क्योंकि उसके पात्रों से उनका जीवन-साम्य था। 'ले मिजरेबल्स' का बिशप जो हर कहीं ईश्वर का रूप देखता था, मानो पितामह के हृदय में कहीं छिपा हुआ था। वह बिशप जो एक-एक कर सारी सम्पत्ति दान में दे देता है और अन्ततोगत्वा अपनी माँ की अन्तिम निशानी चाँदी के दीपदान भी देता है, केवल इसी आकांक्षा से कि संसार में जो भी श्रेष्ठ है, वह किसी न किसी प्रकार उभर कर आये। मेरे पितामह के पास तो उस बिशप से बड़ा कार्य-क्षेत्र था, समूचे भारत की जनता उनके सामने थी, फिर उनको कौन रोक सकता था ? बापू की भाँति वे अपने दरिद्रनारायण के लिये सदा सदय थे। पितामह ने कभी एक साधारण भारतीय नागरिक से अधिक न बन कर रहना चाहा। उनका रहन-सहन भी अत्यन्त सादा था। शौकीनी थे तो सिर्फ पुस्तकों की और लेखन की। उनकी आँखों के सामने मिण्टो-मार्ले सुधार हुए थे, कांग्रेस में वर्ग-विभेद प्रारम्भ हो गया था, माँटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों और रौलट ऐक्ट का भी विरोध हो रहा था। उसी समय अप्रैल, १९१९ में वह रोमांचकारी जलियाँवाला बाग काण्ड भी हुआ था, अतः वे यह जानते थे कि यह ब्रिटिश सरकार भारत को एक स्वतंत्र उपनिवेश भी नहीं बनने देगी। सर उठाने की चेष्टा करते ही सर कुचल दिया जायेगा। सोलह सौ राउन्ड फायर करने पर भी सेना और पुलिस कहेगी कि अभी और होना चाहिये, अभी कम रहा। ऐसी स्थिति बना दी जायेगी कि जनता बोल न सके, बोलेगी तो उसकी प्राणबलि होगी। विद्यार्थी जी का हृदय तो चीत्कार कर रहा था, प्रताप में जितना लिख सकते थे, लिखते थे, पर स्थिति की माँग और अधिक थी। वे बापू की भाँति अनशन नहीं कर सकते थे, पर जनता में विद्वेष की अग्नि भड़का सकते थे। सफलतापूर्वक उन्होने ऐसा किया भी, हरेक क्रान्तिकारी के लिये प्रताप प्रेस रक्षागृह था। भगतसिंह ने दो वर्ष वहाँ छिपकर मशीनमैन का काम किया। चन्द्र-शेखर आजाद, अशफाक उल्ला खाँ आदि सभी को वहाँ से पूरी सहायता मिलती थी। मेरे पितामह का व्यक्तित्व पूरी तरह अहिंसात्मक न था। वे स्वराज्य चाहते थे, दमन-चक्र की गति से मुक्ति चाहते थे और यह मुक्ति यदि अहिंसा से मिलती तो भी ठीक था, वरन् वे उग्रपन्थी मार्गों को भी अपनाना न भूलते। कम से कम क्रान्तिकारियों की इतनी सहायता तो कर ही देते कि उनका कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो जाये। प्रेस में टाइप और स्याही के साथ बम बनाने का सामान भी छिपा रहता था और तलाशी होने पर कुछ भी बरामद नहीं होता था। कारण और कुछ नहीं, केवल यह था कि कानपुर पुलिस अधिकारियों में भी विद्यार्थी जी के अनुयायी बहुत थे जो पेट के कारण नौकरी करते थे, पर तलाशी का आदेश आने पर रात को ही आकर सावधान कर देते, फिर भला आपत्तिजनक सामग्री कैसे मिलती ?

मेरे पितामह में प्रारम्भ से ही पत्रकारिता के लिये रुचि थी। वे पत्रकारिता को जनसेवा का एक माध्यम मानते थे। उनके साप्ताहिक प्रताप और प्रभा मासिक से पूर्व भी बहुत से लेख प्रकाशित होते; कर्मयोगी, हितवाणी, अभ्युदय, सरस्वती का कार्य वे किया ही करते थे; अभ्युदय का सम्पादन भी उन्होंने देखा। पर उनकी पत्रकारिता-शैली पूर्णतया निखर कर आई प्रताप और प्रभा में। एक सफल पत्रकार की भाँति उनमें ईमानदारी थी, सशक्त भाषा थी और थी अद्भुत विवेक-शक्ति। उन्होंने कभी पत्रकरिता को स्वार्थ-साधन नहीं बनाया। एक बार उन्होंने लिखा भी था—

"संसार के अधिकांशतः समाचार-पत्र पैसे कमाने और झूठ को सच एवं सच को झूठ सिद्ध करने में उतने ही लगे हुए हैं जितने संसार के कन्य [illegible] व्यक्ति।

इस देश में दुर्भाग्य से समाचारपत्रों और पत्रकारों के लिये यही मार्ग बनता जा रहा है। हिन्दी पत्रों के सामने भी यही लकीर खिचती जा रही है। यहाँ भी अब बहुत से समाचारपत्र सर्व-साधारण के कल्याण के लिये नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं''''मार्क ट्वेन की भाँति उनमें कटाक्ष करने की क्षमता थी, बड़ी से बड़ी समस्या का हल निकालने के उपरान्त सहज हास्य से वे सारी थकान मिटा देते थे।

ऐसे विलक्षण व्यक्तित्व वाले थे मेरे पितामह, जिनका सारा व्यक्तित्व अब 'ता रसना सो चरित गुन्यो करै' मात्र ही रह गया है। अपने समकालीन साहित्यकारों के प्रति उनके मन में सदा आदर था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और पं० प्रताप नारायण मिश्र इस विषय में उन्हें अधिक प्रिय थे। तुलसी पर उनकी अधिक आस्था थी, मानस का सात बार सम्पूर्ण पारायण उन्होंने किया था और उसे जीवन का सम्पूर्ण दर्शन मानते थे। एक सहज साहित्यकार की भाँति उनमें पढ़ने की इच्छा भी भयानक थी। बर्नार्डशॉ, गॉल्सवर्दी, विक्टर ह्यूगो, अपटन सिन्क्लेयर आदि विदेशी लेखक उनको विशेष प्रिय थे। जेलयात्रा में साधारणतया वे अपने लिये किताबें ही मँगवाते। अध्ययन उनका प्रिय शौक था।

बयालीस वर्ष का वह छोटा-सा जीवन जिसमें उम्र के दिनों से अधिक उनके कार्य थे, एक घर-परिवार से भी संयुक्त था। पूरी गृहस्थी का बोझ था उन पर और पूरी गृहस्थी उन पर ही आधारित थी। वे अच्छी तरह जानते थे कि जिस मार्ग पर चलना है, वह अत्यन्त सीधा है—'अति सुधा स्नेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं'।

पर उस सीधे मार्ग पर घर-परिवार ऐसे स्थल भी नहीं थे। चलते ही जाना था। पितामह स्वयं किसी के पिता थे, किसी के पुत्र थे और किसी के पति थे। इसके अतिरिक्त उनके परिवार में थे पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जो १६१६ में ही लखनऊ कांग्रेस में विद्यार्थी जी से मिले थे। परन्तु थोड़े ही दिनों में मध्य प्रदेश से वे कानपुर आ गये दो कम्बल लेकर। प्रताप प्रेस आकर पितामह के चरण-स्पर्श किये और बोले—'अब यहीं रहूँगा, वापस नहीं जाऊँगा।' और उस दिन वह गणेश जी के अनुज बन गये। प्रताप प्रेस में रहते, खाते और पढ़ते। १६१८ में असहयोग-अन्दोलन में भाग लेने के लिये पढ़ाई छोड़ी और बन गये राजनीतिज्ञ। प्रताप में सम्पादकीय कार्य की ट्रेनिंग तो पा ही रहे थे। अलमस्ती के दिन थे। पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल आदि का साथ था, तो नवीन जी कवि बन गये। और २५, मार्च १६३१ के बाद तो हमारे परिवार के बुजुर्ग भी वही थे। मेरे पिता आदि उनको चाचा कहते और हम बच्चे बाबा कहकर पुकारते। इस अटूट बन्धन को स्वयं उन्होंने लिखा है—"आज मैं राजनीति में जो कुछ भी हूँ, गणेशजी के कारण। उनका परिवार मेरा परिवार है उनके बच्चे मेरे बच्चे। अब तो केवल यही आशा है कि मेरी फटी हुई आँखें हरि (गणेश जी का बड़ा बेटा जो उन्हीं की भाँति यशस्वी है) मूँदे तो मुझे शान्ति मिले।"

मेरे पितामह के समय अर्थात् उनके बलिदान के समय के आस-पास परिवार में उनके वृद्ध माता-पिता, बड़े भाई, रुग्णा पत्नी और बड़े बेटे हरिशंकर के अलावा चार बेटियाँ और एक बेटा भी था। छोटी बेटी उर्मिला के जन्म के समय मुंशी जयनारायण (मेरे प्रपितामह) की गणना से यह सिद्ध हो गया था कि यदि बेटी हुई तो पिता का काल होगा और बेटा हुआ तो परिवार सुखी होगा। जब १६२८ में बेटी होने की सूचना मिली तो उन्होंने माथा फोड़ लिया था और मानसिक रूप से उद्विग्न रहते थे। केवल कहा करते कि गणेश को फाँसी दिये जा रहे हैं। बाद में उनका देहान्त भी मझले बेटे के सामने ही हो गया था पूरा परिवार विश्रृंखलित-सा था पितामह के देहान्त के

समय मेरे पिता की आयु सत्रह वर्ष की थी, वे स्थानीय क्राइस्ट चर्च कालेज में बी० ए० फाइनल कर रहे थे। परिवार और प्रताप का पूरा बोझ उन पर आ गया था।

अजीब-सी कहानी है—कभी आँसुओं से बोली तो कभी आश्चर्यपूर्ण, कभी अभावों की व्यथा है तो कभी प्रचुर साहस। पर मैं तो उसी पितामह की पुत्री हूँ। मेरी परिवार-कथा है यह, कुछ नया नहीं है इसमें। जिस प्रकार देश की विलक्षण परिस्थितियों में उस महामानव का जन्म हुआ था, वैसी ही विलक्षण उसकी परिजन-गाथा भी तो होनी ही थी। अतः ऐसा लगता है मानो मेरे पितामह ने शपथ ली थी कि सुख का कभी लेश मात्र स्पर्श भी नहीं करेंगे। हुआ भी यही। सार्वजनिक जीवन में लगकर उन्होंने अपने हाथों अपना सुख समाप्त कर दिया। किन्तु परिवार की चिन्ता उनको न हो, ऐसी बात न थी। हरदोई जेल (१९३१) में उनकी मानसिक स्थिति बराबर ही उलझन से भरी रही। २८ फरवरी, १९३१ को उन्होंने लिखा—

"परमात्मा बच्चों पर दया करे। मेरे पापों का दण्ड मुझको मिले, बच्चों और प्रकाश को यन्त्रणा से बचाना। परमात्मा राह नहीं दिखाई देती। क्या करूँ और कैसे करूँ? शरीर और मन वैसे ही थकते जाते हैं। काम टेढ़ा, जिम्मेदारी बड़ी। कैसे निभेगी।"

अपने बड़े पुत्र पर उनका बहुत विश्वास था, वे सम्भवतः अपने जीवन के परिणाम को जानते थे। जेल में रहकर, चारों ओर से बँधकर जब व्यक्ति विवश होता है, तब उसकी दशा और भी विचित्र होती है। पितामह को समाचार सभी मिलते थे और चेष्टा वे बराबर करते थे कि हर संकट का निदान कर सकें। ७ फरवरी, १९२२ को लखनऊ जिला जेल में उन्हें समाचार मिला कि बड़े बेटे हरि का लम्बे समय से चला आ रहा ज्वर उतर गया। उन्होंने लिखा—

"हरि अच्छा है, परमात्मा के चरणों में अत्यन्त विनयपूर्वक बार-बार प्रणाम। बहुधा अपनी कमजोरी और पापों पर दृष्टि डालते हुए यह मालूम पड़ता है कि मुझे जो कुछ भी प्राप्त है, वह बहुत है और मैं इसके योग्य भी नहीं।"

चरम शोभा है विश्वास की। हर प्रकार से बँधा व्यक्ति और कर भी क्या सकता है? किन्तु वे अपने निर्देश भी देते रहते थे। १९३१ में ही उनके बड़े पुत्र प्रताप का काम देखने लगे थे। उम्र बहुत कम, जिम्मेदारी बहुत अधिक। पिता ने बेटे को लिखा—

"इन उन्मत्तों ने अब होशियारी से काम लेना सीखा। कुछ व्यावहारिक बुद्धि प्राप्त करने का तुम्हें इससे बढ़कर कोई अवसर प्राप्त होगा। अधिकांश काम दूसरों से कराओ। शिकायत करने वालों की ओर ध्यान न दो, किसी हालत में व्यग्र न होओ।"

कितनी चिन्ता रहती थी इन्हें अपने बेटे की और यह चिन्ता मुख्यतः उनके स्वास्थ्य की थी। एक बार और हरदोई जेल से ही उन्होंने लिखा—

"मेरी यह स्पष्ट राय है कि इस साल तुम कालेज में नहीं पढ़ोगे। इस वर्ष पढ़ना-लिखना बन्द। केवल स्वास्थ्य सुधारना आवश्यक है। बी०ए०, एम०ए० की डिग्रियाँ तो जब चाहोगे, मिल जायेंगी, पर गया हुआ स्वास्थ्य फिर नहीं मिलेगा।"

जाना तो यही गया कि सार्वजनिक जीवन में जो व्यक्ति आ जाता है, उसे परिवार के दुःख-कष्ट नहीं व्यापते। पर मेरे पितामह मृदूनि कुसुमादपि के समान बड़े ही कोमल हृदय वाले थे। पिता गणेश का हृदय केवल अपने ही परिवार हेतु सदय नहीं था, वे तो सारी जनता को अपना परिवार मानते थे। परन्तु अपनी कच्ची गृहस्थी का आभास उन्हें पूरा था उनके सामने

एक बहुत लम्बा पथ था जिस पर चलने से उन्हें कोई भय न था। बड़े पुत्र को प्रेस का काम इतना सिखा दिया था कि वह स्वयं सफलतापूर्वक उसे कर रहे थे। हरिशंकर जी पिता के समान यशस्वी रहे। मार्च, १९३१ में पिता के बलिदान के उपरान्त सितम्बर, १९३१ में ही उन्होंने प्रताप का दैनिक संस्करण निकाला और उसे सफलतापूर्वक चलाया। स्वतन्त्रता के उपरान्त कानपुर विकास बोर्ड के अध्यक्ष भी रहे और पिता ने बयालीस वर्ष की आयु में शरीर छोड़ा १९५५ में।

और अब कहानी उस रक्त-होलिका की तरह आज तक जल रही है। २५ मार्च को जो अग्नि भड़की थी जिसने मेरे पितामह की आहुति ले ली, वह आज तक सुलग रही है। देश में उनके नाम पर उनका श्राद्ध करने वाले, उनकी स्मृति को जगाने वाले, उसी अग्नि की आँच पर पका कर अपना भोजन कर रहे हैं। जीवन लाभ कर रहे हैं। वे यह भूल गये हैं कि इसी अग्नि ने अनेकों ऐसे जीवन ग्रहण कर लिये जिनको अभी और काम करना था। एक मसीहा को जला कर राख कर दिया, अब यदि हर व्यक्ति महाब्राह्मण हो भी गया तो क्या ?

मार्च के महीने में करांची कांग्रेस का अधिवेशन था। पितामह हाल में हरदोई जेल से छूटे थे, पर उक्त प्रान्त के डिक्टेटर होने के नाते जाना जरूरी था। पं० बालकृष्ण शर्मा जाने के लिये बहुत उत्सुक थे। विद्यार्थी जी ने उनको ही भेज दिया और स्वयं रुक गये। किसे पता था कि उनका रुकना बलिदान हेतु है।

२३ मार्च को भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरू को फाँसी हो गई। देश की दशा बहुत सन्त्रस्त थी। २४ की सुबह कानपुर में हिन्दू-मुस्लिम दंगा भड़क उठा। शहर में लूट-पाट प्रारम्भ हो गई। वे प्रताप प्रेस से जाकर दिन भर दंगा शान्त करने का प्रयास करते रहे। मार-पीट मे उनके पैरों पर चोट भी आई, पर उन्होंने यह देख लिया कि पुलिस का रुख बहुत ही विपरीत है, वह बजाय दंगा शान्त करने के उसे भड़काने का प्रयास कर रही है। रात को घर लौट कर उन्होने निश्चय किया कि वे २५ मार्च को कुछ स्वयंसेवकों के साथ निकलेंगे और दंगा शान्त करायेंगे।

२५ मार्च, १९३१। रक्त-भीगा। प्रातःकाल, मसीहा रात भर सो नही सके। शरीर श्लथ, मन क्लान्त, पर आक्रोश से पूर्ण। सुब्ह थोड़ा दूध पीकर घर से निकल पड़े। पत्नी के पैर से बिछुआ निकल गया था, अपशकुन था। वे काँप उठीं। रोकने पर उत्तर दिया, "तुम व्यर्थ घबराती हो। जब मैंने किसी के साथ कोई बुराई नहीं की तो कोई मेरा क्या बिगाड़ेगा ? ईश्वर मेरे साथ है।"

और मसीहा की अन्तिम यात्रा प्रारम्भ हो गई। पहले वे पटकापुर गये और वहाँ पर घिरे पच्चास व्यक्तियों को सुरक्षित स्थल पर भेजा। वहाँ से इटावा बाजार और बंगाली मोहाल होते हुए लगभग डेढ़-दो सौ व्यक्तियों को उन्होंने निकाला और अपने विश्वसनीय हिन्दू मित्रों के यहाँ भेज दिया। दोपहर के तीन बज रहे थे, भूखे-प्यासे वे घूम रहे थे। मिश्री बाजार और मछली बाजार के कुछ हिन्दुओं को उन्होंने बचाया और अन्त में चौबे गोला पहुँचे। वहाँ पर कुछ लोगों ने साथ के स्वयंसेवकों पर हमला करना चाहा। साथ में मुसलमान स्वयंसेवक थे। उन्होंने कहा— पंडित जी तो मुसलमानों को बचा रहे हैं, इनको छोड़ दो। रक्त की प्यासी मानवता को चैन कहाँ ? फिर मार-काट प्रारम्भ हो गई। इतने में भीड़ में से कोई अपरिचित सज्जन विद्यार्थी जी को घसीटते हुए गली के किनारे ले जाने लगे। बस वे क्रुद्ध हो उठे, "क्यों घसीटते हो मुझे ? मैं भाग कर जान नही बचाऊँगा। एक दिन मरना तो है ही। फिर अच्छा है कि मैं यही **कर्तव्य,** पालन करते हुए जान दे दूं। शायद मेरे मरने से ही इन लोगों की रक्त की प्यास बुझ जाये। **चारों ओर से भीड़ टूट पड़ी।**

छूरा, बल्लम, लाठी, जो जिसको मिला, उसने मारा। मुसलमान स्वयंसेवक भाग कर गली के मोड़ पर तैनात पुलिस के थानेदार को बुलाने गया। थानेदार ने आशा के अनुरूप उत्तर दिया—"अपने गांधी जी को बुलाओ, मैं कुछ नहीं कर सकता।" तब तक मसीहा कहाँ चला गया, पता नहीं। साथ मे ज्वालादत्त नामक स्वयंसेवक था, उसे मार दिया गया। दूसरे स्वयंसेवक शंकरराव टाकलीकर के बयान से यह ज्ञात हुआ कि मृत देह को कुछ लोग घसीट ले गये।

पुलिस ने प्रचार करना शुरू कर दिया कि विद्यार्थी जी को चोट बहुत आई है। वे अस्पताल में हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि हर स्थान पर पुलिस मौजूद थी, पर चौबेगोला में पुलिस नही थी। शायद मसीहा के जीवित रहने पर अधिक खतरा था।

शाम साढ़े पाँच बजे घर पर खबर मिली कि वे लापता हैं। घर में चीत्कर होने लगा। वातावरण गम्भीर तो था ही। रात ग्यारह बजे पता लगा कि वे चोट अधिक खा गये हैं। २६ तारीख को दिन भर खोज की गई, कुछ पता नहीं लगा। २७ तारीख को पता चला कि अस्पताल में बहुत सारे मृत लाये गये हैं और उनमें एक देह विद्यार्थी जी का भी है। तुरन्त डॉ० जवाहरलाल, पं० शिवनारायण मिश्र और हरिशंकर विद्यार्थी जी वहाँ पहुँचे। शरीर पहचान में नहीं आ रहा था। पर हाथ पर खुदे गजेन्द्र नाम, जेब में पड़े पत्र आदि, शिनाख्त हो गई, मसीहा की मृत्यु का निश्चय हो गया। २८ को प्रातःकाल स्थानीय भैरोंघाट पर दाह-संस्कार का आयोजन किया गया। दंगा शान्त हो चला था, पर मसीहा खो गया है, यह खबर छिपा ली गई थी, लगभग १००० व्यक्ति भैरोंघाट पर थे, चिता भड़क उठी, बेटे हरिशंकर ने पिता को अग्नि दी और लपटें आकाश से बातें करने लगीं। कहानी खत्म हो गई एक ऐसे शरीर की जिसके पास आत्मा ही थी, जो देह होते हुए भी विदेह था। सभी के आँसू बह रहे थे। राजर्षि टण्डन जी ने एक छोटा-सा भाषण दिया और अन्तिम क्रिया समाप्त हुई। बापू का पत्र आया 'गणेशशंकर जैसी मृत्यु मुझे भी मिले'। जवाहर लाल जी ने लिखा, 'मरकर भी वह ऐसा सबक सिखा गये जो बरसों जिन्दा रहकर भी नही सिखा सकेंगे।'

लेकिन सभी कुछ अधूरा छूट गया। कर्मक्षेत्र को तो बड़े बेटे ने सँभाल लिया। प्रताप का सारा दायित्व ग्रहण कर लिया। प्रताप चल रहा था, साप्ताहिक और दैनिक रूप में। उस मसीहा की वाणी गूँज रही थी और परिवार भी चल रहा था। दायित्व निभे और खूब निभे। पितामह की मृत्यु के बाद भी घर में किसी को कोई भौतिक कमी न रही। अविवाहित कन्याओं का विवाह, भाई की शिक्षा, सभी कुछ हुआ। पर सभी कुछ सूना था।

आज पच्चास साल पुरानी कहानी मैंने फिर दोहरायी है। शायद बार-बार कहानी कहना और सुनना हम भारतवासियो का अभ्यास बन गया है। बिना अथ से इति तक कहे कोई बात ही नहीं पूरी होती। किन्तु यह कहानी मेरे पितामह की है। आज मैं केवल इतना कहना चाहती हूँ कि मेरे पितामह केवल मेरे नहीं थे, वे तो उस सारे त्रस्त समाज के थे जो अपनी आवाज नही उठा पाता था। उनका क्षेत्र उनका परिवार नहीं था, उनका देश था। वरना इस प्रकार मृत्यु की ओर कदम नहीं बढ़ाते, इस प्रकार शरीर पर वार झेले नहीं जा सकते। उनका परिवार कहाँ, कैसे रहेगा, बिना इसकी चिन्ता किये उन्होंने अपनी आहुति दे दी। केवल हिन्दू-मुसलमानों के लिये नहीं, वरन् देश की विवशता के लिये। बापू के सत्याग्रह को अपने शरीर पर ले लिया। हिन्दू-मुसलमान तो केवल प्रतीक थे बहाना थे जो जिया दूसरों के लिये और मरा भी दूसरों

के लिये, उसका अपना क्या था ? न घर, न परिवार, न वत्र, न समाज। उन्होंने जो कुछ भी किया उसे मानवता को सौंप दिया। तभी उनके हृदय में कोई क्लेश न था, ईश्वर पर अटूट विश्वास, रखते हुए उन्होंने कदम बढ़ाया और अपने लक्ष्य को पाया। आज मैं उन्हें केवल अपना नहीं मान सकती, केवल एक परिवार का जनक नहीं मानती। विदेह राजा जनक की भाँति देह रखकर भी देह से लगाव न रखने वाला वह महापुरुष मानती हूँ जिसने मृत्यु को भी चुनौती दी।

आज हमारे पास उनकी स्मृति है, कुछ चिह्न अवशेष हैं जिसे हम बाँटना नहीं चाहते। खून के धन की भाँति उस स्मृति को सहेज रहे हैं। उनकी स्मृति को भविष्य की सत्ता बनाने का स्वप्न देख रहे हैं। पर हम यह भूल जाते हैं कि वह स्मृति तो बाँटने से ही बढ़ती है। जिसने जीवन भर बाँटा, अब उसके बलिदान के बाद हम उसकी स्मृति को संचित कहाँ कर सकते हैं ? समय तो बीतता है, बीत गया। २५ मार्च, १९३१ को बीते भी पचास वर्ष हो चुके हैं, पर हमने पाया कुछ नहीं, खोया बहुत कुछ। आज भी उस चिता के शोले धधक रहे हैं, श्राद्ध-तर्पण से वह आत्मा शान्त नहीं होती क्योंकि हमारी प्यास नहीं बुझी है। पर अन्तरिक्ष से झाँकती उन आँखों में थकान है, अब वे मुक्ति चाहती हैं। हम कहाँ तक उस आत्मा को और दुःखी करेंगे। अब तो हमें बदलना ही होगा। कहाँ तक अब हम कहानी कहेंगे और सुनेंगे, सीखेंगे कुछ भी नहीं।



प्रस्तुतिकर्ता—डॉ० कान्तिकुमार जैन,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय

महादेवी के विचार

[महादेवी जी के काव्य, कला, साहित्य सम्बन्धी विचार जो कि प्रमुखतः उनकी काव्य-पुस्तकों की भूमिकाओं में से संकलित किए गये हैं ।]

सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य साधन है । एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त । इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मय-भरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचाने का क्रम आनन्द की लहर-पर-लहर उठाता हुआ चलता है ।

सत्य की व्यापकता में से हम चाहे जिस अंश को ग्रहण करें, वह हमारी सीमा में बँधकर व्यक्तिगत हो ही जाता है और इस स्थिति में हमारी सीमा के साथ सापेक्ष, पर अपनी व्यापकता में निरपेक्ष बना रहता है । दूसरे के निकट हमारी सीमा से घिरा सत्य हमारा रहकर ही अपना परिचय देना चाहता है और दूसरे हमें तोल कर ही उस सत्य का मूल्य आँकने की इच्छा रखता है । इतना ही नहीं, उसकी तुला पर रुचि-वैचित्र्य, संस्कार, स्वार्थ आदि के न जाने कितने पासंगों की उपस्थिति भी संभव है, अतः सत्य के सापेक्ष ही नहीं निरपेक्ष मूल्य के सम्बन्ध में भी अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं ।

बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भाव क्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिये माध्यम खोजते-खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार कर लिया होगा । कला सत्य को ज्ञान के सिकता-विस्तार से नहीं खोजती, अनुभूति की सरिता के तट से एक विशेष बिन्दु ग्रहण करती है । तट पर एक ही स्थान पर बैठे रहकर भी हम असंख्य नई तरंगों को सामने आते और पुरानी लहरों को आगे जाते देखकर नदी से परिचित हो जाते हैं । वह किस पर्वतीय उद्गम से निकल कर, कहाँ-कहाँ बहती हुई किस समुद्र की अगाध तरलता में विलीन हो जाती है, यह प्रत्यक्ष न होने पर भी हमारी अनुभूति में नदी पूर्ण है और रहेगी ।

जीवन के निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय में ही सम्भव है । काव्य या कला मानो इन दोनों का संधि-पत्र है; जिसके अनुसार बुद्धि-वृत्ति झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर, सत्य को अनन्त रूपों में चिर नवीन स्थिति देती रहती है । अतः कला का सत्य जीवन की परिधि में सौंदर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है ।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं, वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूप-रेखा पर नहीं । प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणि-जगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता सब कुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमें से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त आ उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के समकक्ष खड़ा होकर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण आ पहुँचते हैं जिनमें वह छोटे तृण के साथ बैठकर कृतार्थ बन सकती है

गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक कुछ भी कला-जगत् से बहिष्कृत नहीं किया जाता। उजले कमलों की चादर जैसी चाँदनी में मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम है, पर अँधेरे में स्तर-पर-स्तर ओढ़कर विराट बनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के भार से झुक-झुक पड़ने वाली लता कोमल है, पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक-सा ताकने वाला ठूँठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरल जलदान से पृथ्वी को कँपा देने वाला बादल ऊँचा है, पर एक बूँद ओस के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाये हुए रूपसी कमनीय हैं, पर झुर्रियों में जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय सब मूल्यवान् हैं, पर अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।

सत्य तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत् का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा, तब तक कला के सूक्ष्म उपयोग-सम्बन्धी विवाद भी विशेष महत्त्व नहीं रख सकते। हमारे जीवन में सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्वयात्मक स्थिति है, वही कला को, केवल स्थूल या सूक्ष्म में निर्वासित न होने देगी। जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेंगे, तब उसकी पट-भूमिका बने हुए वायवी स्वप्न, सूक्ष्म आदर्श, रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आँकना आवश्यक हो जायगा। और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय देती है जो कार्य से न दिया जा सकेगा तो जीवन को उसके लिये भीतर-बाहर के सभी द्वार खोलने पड़ेंगे।

जिस चढ़े हुए धनुष की प्रत्यञ्चा कभी नहीं उतरती, वह लक्ष्य-वेध के काम का नहीं रहता। नेत्र जो एक भाव में स्थिर है, जो ओंठ एक मुद्रा में जड़ हैं, जो अंग एक स्थिति में अचल है, वे चित्र या मूर्ति में ही अंकित रह सकते हैं। जीवन की गतिशीलता में कर लेने पर मनुष्य की असंख्य परिस्थितियों और विविध आवश्यकताओं में विश्वास करना अनिवार्य हो उठता है और अभाव की विविधता से उपयोग की बहुरूपता एक अविच्छिन्न सम्बन्ध में बँधी है। यह सत्य है कि जीवन में किसी आवश्यकता का अनुभव नित्य होता रहता है और किसी यदा-कदा परन्तु निरन्तर अनुभूत अभावों की पूर्ति ही पूर्ति है और जिसका अनुभव ऐसा नियमित नहीं, वे अभाव ही नहीं, ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है।

वास्तव में जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ ही क्षण होते हैं, वर्ष नहीं। परन्तु वह क्षण निरन्तरता से रहित होने के कारण कम उपयोगी नहीं कहे जा सकते। जो क्रूर मनुष्य सौ-सौ शास्त्रों के नित्य मनन से कोमल नहीं बन पाता, वह यदि एक छोटे-से निर्दोष बालक के सरल आकस्मिक प्रश्न मात्र से द्रवित हो उठता है तो वह क्षणिक प्रश्न शास्त्र-मनन की निरन्तरता से अधिक उपयोगी क्यों न माना जावे। एक वाणविद्ध-क्रौंच से प्रभावित ऋषि — 'मा निषाद प्रतिष्ठं त्वं' कहकर प्रश्न-श्लोक और आदि-काव्य की रचना में समर्थ हो सका तो उस क्षुद्र पक्षी की व्यथा को, मनीषी की ज्ञान-गरिमा से अधिक मूल्य क्यों न दिया जावे। यदि एक वैज्ञानिक, फल गिरने से पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगा सका तो उस तुच्छ फल का टूटना, पर्वत के टूटने से अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों न समझा जावे।

विधि-निषेध की दृष्टि से महान् से महान् कलाकार के पास उतना भी अधिकार नहीं जितना चौराहे पर खड़े सिपाही को प्राप्त है। वह न किसी को आदेश दे सकता है और न उपदेश, और यदि देने की नासमझी करता भी है तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देते हैं। वास्तव में कलाकार तो ऐसा जीवन-संगी है जो अपनी आत्म-कहानी में हृदय-हृदय की कथा कहता है और

स्वयं चलकर पग-पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। वह बौद्धिक परिणाम नहीं, किन्तु अपनी अनुभूति दूसरों तक पहुँचाता है और वह भी एक विशेषता के साथ। काँटा चुभाकर काँटे का ज्ञान तो संसार दे ही देगा, परन्तु कलाकार बिना काँटा चुभने की पीड़ा दिए हुए ही उसकी कसक की तीव्र-मधुर अनुभूति दूसरे तक पहुँचाने मे समर्थ है। अपने अनुभवों की गहराई में, वह जिस जीवन-सत्य से साक्षात् करता है, उसे दूसरे के लिये संवेदनीय बनाकर चलता है।

उपदेशों के विपरीत अर्थ लगाये जा सकते हैं, नीति के अनुवाद भ्रान्त हो सकते हैं, परन्तु सच्चे कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि का अपरिचित रह जाना सम्भव है, बदल जाना संभव नहीं। मनु की जीवन-स्मृतियों में अनर्थ की सम्भावना है, पर वाल्मीकि का जीवन-दर्शन श्लेष-हीन ही रहेगा। इसी से कलाकारों के मठ नहीं निर्मित हुए, महन्त नहीं प्रतिष्ठित हुए, साम्राज्य नहीं स्थापित हुए और सम्राट् नहीं अभिषिक्त हुए। कवि या कलाकार अपनी सामान्यताओं में ही सबका ऐसा अपना बन गया कि समय-समय पर धर्म, नीति आदि को जीवन के निकट पहुँचाने के लिए उससे परिचय-पत्र माँगना पड़ा।

कला के पारस का स्पर्श पा लेने वाले का कलाकार के अतिरिक्त कोई नाम नहीं; साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नहीं, सत्य के अतिरिक्त कोई पूँजी नहीं, भाव-सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं।

किसी भी उत्थानशील समाज और उसके प्रबुद्ध कलाकारों में जो सक्रिय सहयोग और परस्पर पूरक आदान-प्रदान स्वाभाविक है, वह हमारे समाज के लिए कल्पनातीत बन गया। समाज की एक बिन्दु पर अचलता और कलाकार की लक्ष्यहीन गति-विह्वलता ने उसे एक प्रकार से असामाजिक प्राणी की स्थिति में डाल दिया है।

प्रत्येक सच्चे कलाकार की अनुभूति प्रत्यक्ष सत्य ही नहीं, अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पर्श करती है; उसका स्वप्न वर्तमान ही नहीं, अनागत को भी रूपरेखा में बाँधता है और उसकी भावना यथार्थ ही नहीं, सम्भाव्य यथार्थ को भी मूर्तिमत्ता देती है। परन्तु इन सबकी व्यष्टिगत और अनेक-रूप अभिव्यक्तियाँ दूसरों तक पहुँचकर ही तो जीवन को समष्टिगत एकता का परिचय देने मे समर्थ हैं।

कलाकार के निर्माण में जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है जिसकी स्वीकृति के लिए जीवन की विविधा आवश्यक रहेगी। जब समाज उसके किसी भी स्वप्न का मूल्य नहीं आँकता, किसी भी आदर्श को जीवन की कसौटी पर परखना स्वीकार नहीं करता, तब साधारण कलाकार तो सब कुछ धूल में फेंक रूठे बालक के समान शोक प्रकट कर देता है और महान् समाज की उपस्थिति ही भुलाने लगता है। हमारी कला के क्षेत्र मे जो उच्छृङ्खल गति है, उसके मूल में निर्माण की सन्तुलित सक्रियता से अधिक, विवश क्षोभ की अस्थिरता ही मिलेगी।

हमारी संस्कृति ने धर्म और कला का ऐसा ग्रन्थि-बन्धन किया था जो जीवन से अधिक मृत्यु में दृढ़ हो गया। क्या काव्य, क्या मूर्ति, क्या चित्र सबकी यथार्थ रेखाओं और स्थूल रूपों में अध्यात्म ने सूक्ष्म आदर्श की प्रतिष्ठा की। परन्तु जब ध्वंस के असंख्य स्तरों के नीचे दबकर वह अध्यात्म-स्पन्दन रुक गया, तब धर्म के निर्जीव कंकाल में हमें मृत्यु का ठंडा स्पर्श मिलने लगा।

विज्ञान के चरम विकास ने हमारी आधुनिकता को एकांगी बुद्धिवाद में इस तरह सीमित किया कि आज जीवन के किसी भी आदर्श को उसके निरपेक्ष सत्य के लिए स्वीकार करना कठिन

है। परिणामतः एक निस्सार बौद्धिक उलझन भी हमारे हृदय की सम्पूर्ण सरल भावनाओं से अधिक सारवती जान पड़े तो आश्चर्य की क्या बात है! इस ज्ञान-व्यवसायी युग में बिना स्थायी पूँजी के ही सिद्धान्तों का व्यापार सहज हो गया है, अतः न अब हमें किसी विश्वास का खरापन जाँचने के लिए अपने जीवन को कसौटी बनाना पड़ता है और न किसी आदर्श का मूल्य आँकने के लिए जीवन की विविधता समझने की आवश्यकता होती है। हमारा बिखरा जीवन इतना व्यक्ति-प्रधान है कि प्रायः वैयक्तिक भ्रान्तियाँ भी समष्टिगत सत्य का स्थान ले लेती हैं और स्वार्थ-साधन के प्रयास ही व्यापक गतिशीलता के पर्याय बन जाते हैं।

कवि, कलाकार, साहित्यकार, सब समष्टिगत विशेषताओं को नव-नव रूपों में साकार करने के लिए उनसे कुछ पृथक् खड़े जान पड़ते हैं। परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सकें तो आश्चर्य की वस्तु मात्र रह जायेंगे। महान् से महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर एक परिचय-भरा अपनापन ही जगायेगा, क्योंकि वह धूमकेतु-सा आकस्मिक और विचित्र नहीं, किन्तु ध्रुव-सा निश्चित और परिचित रहकर ही हमें मार्ग दिखाने में समर्थ है।

कलाकार सब तक पहुँच सके, यह एक उजले भविष्य का सुन्दर स्वप्न है। इस अन्धकार के युग में तो सब अपने-अपने पथ पर अकेले ही चल रहे हैं, अतः अपने चलने की सीमा नापने के लिए स्मृति-चिह्न छोड़ना आवश्यक हो जाता है।

हमारा युग दुर्बलताओं और ध्वंस का युग है। दुर्बलता तथा ध्वंस जितने प्रसारगामी होते हैं, शक्ति और निर्माण उतने नहीं हो सकते। शक्ति और गुण मनुष्य को असाधारणता देते हैं, अतः इन्हें दूसरे तक अनायास पहुँचा देना सम्भव नहीं। दूसरे व्यक्ति यदि इस असाधारणता के प्रति श्रद्धालु हैं तो यह पूजा की वस्तु मात्र रह जायेगी और यदि ईर्ष्यालु हैं तो यहाँ इसका विकृत कायाकल्प हो जायगा।

कलाओं में चित्रकला ही काव्य का अधिक विश्वस्त सहयोगी होने की क्षमता रखती है। मूर्ति कठिनतम सीमाओं से बँधी होने के अतिरिक्त रंगों की पृष्ठभूमि असम्भव कर देती है। उसमें एक ही भाव को मूर्तिमत्ता दी जा सकती है और वह भी रंगहीन।

नृत्य भी शरीर की चेष्टाओं पर आश्रित होने के कारण मूर्ति के बंधनों से सर्वथा मुक्त नहीं। वह एक प्रकार का अभिनीत गीत है। भौतिक आधार अर्थात् स्थूल माध्यम से स्वतन्त्र संगीत काव्य के अधिक निकट है, परन्तु अपनी ध्वनि-सापेक्षता के कारण वह काव्य को दृष्टि का विषय बनाने में समर्थ नहीं।

माध्यम की दृष्टि से चित्र सूक्ष्म और स्थूल के मध्य में स्थिति रखता है। देश-सीमा के बन्धन रहते हुए भी वह रंगों की विविधता और रेखाओं की अनेकता के सहारे काव्य को रंग-रूपात्मक साकारता दे सकता है। अमूर्त भावों का जितना मूर्त वैभव चित्रकला में सुरक्षित रह सकता है, उतना किसी अन्य कला में सहज नहीं; इसी से हमारे प्राचीन चित्र जीवन की स्थूलता को जितनी दृढ़ता से सँभाले हैं, जीवन की सूक्ष्मता को भी उतनी ही व्यापकता में बाँधे हुए हैं।

व्यक्तिगत रूप से मुझे मूर्तिकला विशेष आकर्षित करती है, क्योंकि उसमें कलाकार के अन्तर्जगत् का वैभव ही नहीं, बाह्य आयास भी अपेक्षित रहता है। दुर्भाग्यवश उसे सीखने का मुझे कभी अवकाश ही नहीं मिल सका अतः मिट्टी की मूर्तियाँ गढ़-गढ़ कर मैं कुम्भकारों को देने की पात्रता प्राप्त करती रही हूँ

मनुष्य के सुख-दुःख जिस प्रकार चिरन्तन हैं, उनकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही चिरन्तन रही है; परन्तु यह कहना कठिन है कि उन्हें व्यक्त करने के साधनों में प्रथम कौन था।

संभव है जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि को छूकर चिड़िया आनन्द से चहचहा उठती है और मेघ को घुमड़ता-घिरता देखकर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहल अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा ही किया है। विशेषकर स्वर-सामंजस्य में बँधा हुआ गेय काव्य मानव-हृदय के कितना निकट है, यह उदात्त-अनुदात्त स्वरों में बँधे वेदगीत तथा अपनी मधुरता के कारण प्राणों में समा जाने वाले प्राकृत पदों के अधिकारी हम भली भाँति समझ सके हैं।

जड़ चेतन के बिना विकासशून्य है और चेतन जड़ के बिना आकारशून्य। इन दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है। चाहे कविता किसी भाषा में हो, चाहे किसी वाद के अन्तर्गत, चाहे उसमें पार्थिव विश्व की अभिव्यक्ति हो, चाहे अपार्थिव की और चाहे दोनों के अविच्छिन्न सम्बन्ध की, उसके अमूल्य होने का रहस्य यही है कि वह मनुष्य के हृदय से प्रवाहित हुई है। कितनी ही भिन्न परिस्थितियों में होने पर भी हम हृदय से एक ही अंग हैं; यही कारण है कि दो मनुष्यों के देश काल, समाज में समुद्र के तटों जैसा अन्तर होने पर भी वे एक-दूसरे के हृदयगत भावों को समझने मे समर्थ हो सकते हैं। जीवन की एकता का यह छिपा हुआ सूत्र ही कविता का प्राण है। जिस प्रकार वीणा के तारों के भिन्न-भिन्न स्वरों में एक प्रकार की एकता होती है जो उन्हें एकसाथ मिलकर चलने की और अपने साम्य से संगीत की सृष्टि करने की क्षमता देती है, उसी प्रकार मनुष्य के हृदयों में एकता छिपी हुई है। यदि ऐसा न होता तो विश्व का संगीत ही बेसुरा हो जाता।

अपने चित्रों के विषय में कहते हुए मुझे जिस संकोच का अनुभव हो रहा है, वह केवल शिष्टाचारजनित न होकर अपनी अपात्रता के यथार्थ ज्ञानजनित है। मैं सत्य अर्थ में कोई चित्रकार नहीं हूँ, हो सकने की संभावना भी कम है; परन्तु शैशव से ही रंग और रेखाओं के प्रति मेरा बहुत कुछ वैसा ही आकर्षण रहा है जैसा कविता के प्रति। मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी कल्पना के पीछे सदा ही हाथ बाँधकर चलता रहा है। जब रात-दिन होने का प्राकृतिक कारण मुझे ज्ञात न था, तभी संध्या से रात तक बदलने वाले आकाश-रंगों में मुझे परियों का दर्शन होने लगा था; जब मेघों के बनने का क्रम मेरे लिए अज्ञेय था, तभी उनके वाष्पतन में दिखायी देने वाली आकृतियों का मैं नाम-करण कर चुकी थी और जब मुझे तारों का हमारी पृथ्वी से बड़ा या उसके समान होना बता दिया गया था, तब भी मैं रात को अपने आँगन में 'आओ, प्यारे तारो आओ, मेरे आँगन में बिछ जाओ' गा-गाकर उन महान् लोकों को नीचे बुलाने में नहीं हिचकती थी। रात को स्लेट पर गणित के स्थान में तुक मिलाकर और दिन में माँ या चाची की सिन्दूर की डिबिया चुराकर कोने मे फर्श पर रंग भरना और दण्ड पाना मुझे अब तक स्मरण है। कह नहीं सकती अब वे वयोवृद्ध चित्रकार जिनके निकट मैंने रेखाओं का अभ्यास किया था, होंगे या नहीं। यदि होंगे तो सम्भव है उन्हें वह विद्यार्थिनी न भूली हो जो एक रेखा खींचकर तुरन्त ही उसमें भरने के लिए रंग माँगती थी और जब वे रंग भरना सिखाने लगे, तब जो नियम से उनके सामने भरे हुए रंगो पर रात को दूसरा रंग फेरकर चित्र ही नष्ट कर देती थी।

इसके उपरान्त का इतिहास तो पाठ्य-पुस्तकों, परीक्षाओं और प्रमाणपत्रों का इतिहास है जिसे कविता ही सरस बनाती रही मेरी रंगीन कल्पना के जो रंग शब्दों में न समाकर छलक पड़े या जिनकी शब्दों में अभिव्यक्ति मुझे पूर्ण सन्तोष न दे सकी तो वे ही तूलिका के आश्रित

हो सके हैं; इसी से इन रंगों के संघात का स्वतः पूर्ण होना संभव नहीं। यह तो मेरे भावातिरेक में उत्पन्न कविता-प्रवाह से निकल कर एक भिन्न दिशा में जाने वाली शाखा मात्र है। अतः दोनों गुण दोष के समान ही रहेंगे—यदि एक का उद्गम और वातावरण धुंधला है तो दूसरे का भी वैसा ही होना अनिवार्य-सा है, यदि एक वस्तु-जगत् को विशेष दृष्टिकोण से देखता और विशेष रूप से ग्रहण करता है तो दूसरे का दृष्टिकोण भी कुछ भिन्न और ग्रहण करने की शक्ति कुछ विपरीत न हो सकेगी।

मेरी व्यक्तिगत धारणा है कि चित्रकार के लिए कवि होना जितना सहज हो सकता है, उतना कवि के लिए चित्रकार हो सकना नहीं। कला जीवन में जो कुछ सत्यं, शिवं, सुन्दरम् है, सबका उत्कृष्टतम विकास है, परन्तु इस उत्कृष्टतम विकास में भी श्रेणियाँ हैं। जो कला भौतिक उपकरणों से जितनी अधिक स्वतन्त्र होकर भावों की अधिकाधिक अभिव्यंजना में समर्थ हो सकेगी, वह उतनी ही अधिक श्रेष्ठ समझी जायेगी। इस दृष्टि से भौतिक आधार की अधिकता और भाव-व्यंजना की अपेक्षाकृत न्यूनता से युक्त वास्तुकला हमारी कला का प्रथम सोपान और भौतिक सामग्री के अभाव और भाव-व्यंजना की अधिकता से पूर्ण काव्यकला उसका सबसे ऊँचा अन्तिम सोपान मानी जायगी। चित्रकला वास्तुकला की अपेक्षा भौतिक आधार से स्वतन्त्र होने पर भी काव्यकला की अपेक्षा अधिक परतन्त्र है, कारण वह देश के ऐसे कठिनतम बंधन में बँधी है जिसमें उसे चित्रकला बने रहने के लिए सदा ही बँधा रहना होगा। स्वतन्त्र वातावरण का विहारी विहग अपने स्वभाव को बंधनों के उपयुक्त उतनी तरलता से नहीं बना पाता जितनी सुगमता तथा सहज भाव से बंधनों का पक्षी उन्मुक्त वातावरण की पात्रता प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक कवि चित्र के लम्बाई, चौड़ाई से युक्त देश के बंधनों और भावों की अपेक्षाकृत सीमित व्यंजना से क्षुब्ध-सा हो उठता है। न वह इन बंधनों को तोड़ देने में समर्थ है और न काव्य के स्वतन्त्र वातावरण को भूल सकता है।

इसके अतिरिक्त एक और भी कारण है जो चित्रकार को कवि से एकाकार न होने देगा। चित्रकला निरीक्षण और कल्पना तथा कविता भावातिरेक और कल्पना पर निर्भर है। चित्रकार प्रत्यक्ष और कल्पना की सहायता से जो मानसिक चित्र बना लेता है, उसे बहुत काल व्यतीत हो जाने पर भी रेखाओं में बाँधकर रंग से जीवित कर देने की वैसी ही क्षमता रखता है; परन्तु कवि के लिए भावातिरेक और कल्पना की सहायता से किसी लोक की सृष्टि कर उसे बहुत काल के उपरान्त उसी तन्मयता से, उसी तीव्रता से व्यक्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा। अवश्य ही यह पद्यबद्ध इतिहास के समान वर्णनात्मक रचनाओं के विषय में सत्य नहीं, परन्तु व्यक्ति प्रधान भावात्मक काव्य का वही अंश अधिक से अधिक अन्तःस्थल में समा जाने वाला, अनेक मूक सुख-दुःखों की स्मृतियों में प्रतिध्वनित हो उठने के उपयुक्त और जीवन के लिए कोमलतम स्पर्श के समान होगा जिसमें कवि ने गतिमय आत्मानुभूत भावातिरेक को संयत रूप में व्यक्त कर उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना द्वारा किसी बीते क्षण की अनुभूति की पुनरावृत्ति करने में सफल हो सका हो। केवल संस्कार-मात्र भावात्मक कविता के लिए सफल साधन नहीं हैं और न किसी बीती अनुभूति की उतनी ही तीव्र मानसिक पुनरावृत्ति ही सबके लिए सब अवस्थाओं में सुलभ मानी जा सकती है।

नए प्रकाशन

'शामीली' : काव्य-संकलन, संपादक : मायापति मिश्र

प्रकाशक : संगम प्रकाशन, १३८, विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद, मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र

आधुनिक कविता-आन्दोलन और उसके पुरस्कारस्वरूप उसकी सफलता की वर्तमान स्थिति में काव्य-संकलन 'शामीली' मानवता का दस्तावेज है। भाव या विचार के स्मृति-क्षण का भाषिक निरूपण प्रस्तुत काव्य-संकलन की अपनी विशेषता है। मूल्यांकन चीजों की सम्पूर्णता में पहचानने की एक सही चेष्टा है। कविता का मूल्यांकन उसके बाहर और भीतर घुसपैठ नहीं, प्रत्युत् उसके भोगने और साथ ही तटस्थ होकर विचार प्रस्तुत करने की एक प्रक्रिया है।

'शामीली' काव्य-संकलन पुरानी पीढ़ी से नई पीढ़ी को जोड़कर पीढ़ियों के अन्तराल को समझने का मौका देगा। नरेश मेहता और डॉ० जगदीश गुप्त छायावाद-काल के बाद की कविता-धारा के खड़े आलोक-स्तम्भ हैं। नरेश जी की कविताएँ अपने इमेज के द्वारा संगीत के आन्तरिक धर्म का निर्वाह करती हैं। उसकी आन्तरिक लय उच्च वर्ग की सोच की उपज है। "भाषा की तलाश में/मैं कमरे से बाहर निकला / तुम चण्डीदास की पदावली सी / उस माधवी मण्डप के नीचे/ शीतल पाटी पर बैठी हुई/अपनी उँगलियों से फैले केश सुखा रही थी।" यह कविता पाठक को एक कोमल स्थिति में ले जाकर खड़ी करती है जहाँ भूख नहीं है, न रोग है—सिर्फ एक शाश्वत आनन्द है।

डॉ० जगदीश गुप्त ब्रजभाषा का सम्पूर्ण उठान, चित्रकला की रेखाओं और रङ्गों के संकेत को चरितार्थित करते हैं। कविता कला है या कला कविता है, इस अन्तर को उन्होंने अपनी कविता में तिरोहित कर दिया है। डॉ० मोहन अवस्थी की कविताएँ सूक्तिपरकता और भाषा के कटाव के कारण दैनन्दिन जीवन में मूल्य रखती हैं।

भाषा कविता नहीं होती। लेकिन भाषा की कोख से कविता पैदा होती है। डॉ० राजेन्द्र मिश्र की कविताओं में भाषा कविता बन गई है। यह कवि की अपनी विशिष्टता है जिससे संकलन का गौरव बढ़ा है। कैलाश गौतम नवगीत के माने हुए हस्ताक्षर हैं जिनकी फ्रीवर्स की कविताएँ इस संकलन में शामिल हैं। उनके नवगीत की कला उन कविताओं में छिपाए नहीं छिपती। "आदमी हूँ/आदमी की संज्ञा हूँ—कैलाश हूँ मैं / एहसास सिर्फ यह होता है कि/बोरे में बँधी, पानी में डूबी/ एक सिर कटी लाश हूँ मैं।" कैलाश गौतम की संकलित कविताएँ उनके द्वारा चलाई परम्परा से हटकर एक नई परम्परा का सृजन करती हैं।

ममता कालिया बहुकोणात्मक प्रतिभा की धनी कवयित्री हैं। कविता, कहानी और उपन्यास सृजन के बीच से गुजरते हुए वे जो कुछ बचती हैं, उससे कवयित्री शब्द बनता है। शब्दों का रचाव भाषा की कुहेलिका से मुक्त एक जमीन बनाता है जहाँ कविता सोच का चेहरा उठाती है। यथार्थ के सवाल कविता के माध्यम से याद करते हैं जाओ उनसे कह दो / मैं न कैदी

हूँ न भिखारी / मेरा हक है एक साबुत समूची आजादी।" जहाँ जिन्दगी की आन्तरिक लय का अनुकरण नहीं है, चिन्तन की गाँस है।

—"कगारों पर आशाओं के / बैठे हैं मछुआरे / कुछ थके / कुछ मनहारे।" वाक्य में मायापति मिश्र युवा पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते दिखते हैं। अपनी बेचैनी में तड़पता हुआ माहौल कोई आकस्मिक घटना नहीं है। व्यवस्था का सुनियोजित षड्यन्त्र है जिसे आज की पीढ़ी झेल रही है। मायापति उसी बेचैनी और तड़पन को सृजन की दीप्ति देते हैं। —"कर गये कत्लेआम कितने जो स्वयं न्यायी हाथों से / हाँ उन्हीं को कहने में प्रभु कँपती नहीं जिह्वा।" अभिव्यक्ति को सार्थक और सशक्त बनाने के लिए व्यंजना का बहुकोणात्मक जादुई स्पर्श कला की श्रेष्ठ पहचान है। सृजन के क्षणों की पहचान युवा कवियों में कुछ ही हस्ताक्षर कर पाए हैं। संकलित कविताएँ इस बात का संकेत देती हैं।

अनुराग वर्मा और डॉ० नरेशकुमार गौड 'अशोक' संकलन के अवान्तर कवि नहीं हैं, उनका भी महत्त्व है। कविता और क्रान्ति आज की श्रेष्ठ कविता की अनिवार्य शर्तें हैं। अपनी कविताओं की तहत हरीश इस बात को सोचते हैं और उसकी अनिवार्यता को स्वीकारते हैं।—"फिर भी इस तिमिर में / हम तलाश रहे हैं प्रकाश / इधर या उधर। देखिये कब पाते हैं पगडंडी।" मुश्ताक की काव्य-कला बात को सीधे ढंग से जनता तक पहुँचाने की कोशिश करती दिखती है। उनकी सम्भावना और प्रयोग की दिशाएँ आशा और विश्वास की पूरक हैं। राजीव मेहता जब कहते हैं—"रात अंगारों-सी दहकने लगी थी/तब कविता फैसला नहीं बनती / समय का तत्कालीन आकार बन जाती है।" "क्या होगा उन सपनों के बीजों का —जो हमने खेतों में बोया।"

काव्य-संकलन 'शामीली' में संकलित कविताएँ अपनी ताकत और बनावट के सुघरेपन में, कहीं भी, किसी भी श्रेष्ठ संकलन के जवाब में खड़ी हो सकती हैं। संकलन के तेरहों कवि सशक्त एवं समर्थ रचनाकार हैं। उत्कृष्ट छपाई और सजा-सँवरा रूप इसकी सुन्दरता को बढ़ाता है।



— डॉ० सिद्धेश्वर सिंह,
१४, डायमण्ड जुबली होस्टल,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ० जगदीश गुप्त, सचिव एवं कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित
एवं बीना प्रिंटिंग प्रेस कीटगंज, १ द्वारा मुद्रित

है

दे
कि

व
का
इ

उर
वर्ग

स
उ
नह
पर

या
वैज्ञ

वार
सर्व
स्पष्ट
फल
फा

रत्व
मान
वृत्ति
स्तर
और
बास
की
प्र द

हैं ।

हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

[आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विशेषांक]

भाग ४४ जुलाई-दिसम्बर

अङ्क ३-४ सन् १९८३ ई०

प्रधान संपादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

संपादक

डॉ० जगदीश गुप्त

सहायक संपादक

डॉ० रामजी पाण्डेय



मूल्य १० रुपये वार्षिक २० रुपये

अनुक्रमणिका

●

स्मरण

शास्त्र तथा साहित्य लिखे जाने के उपरान्त ही उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना सम्भव होती है। इस प्रकार इन दोनों विधाओं में समय का अन्तर होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाता है।

आर्यवाणी की सृजनात्मक रचनाओं तथा उनकी शुद्धता बनाये रखना ही आरम्भिक आलोचना का लक्ष्य होने के कारण आधुनिक युग की आलोचना के लिए उनमें स्थान नहीं था, परन्तु काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में बहुत से मत-मतान्तर प्राप्त होते हैं।

मध्य में आक्रमणकारियों के भारत में बस जाने के कारण फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं को राजभाषा होने का महत्त्व मिल गया और शिक्षा में मकतब-प्रणाली का उपयोग होने लगा।

उसके उपरान्त अंग्रेजी का युग आ गया जिसने आलोचना में कोई मौलिक कार्य करने की प्रेरणा नहीं दी।

इस प्रकार पं० रामचन्द्र शुक्ल का कार्य भगीरथ के गंगा लाने जैसा कठिन मौलिक कार्य कहा जाएगा।

छायावाद के कवियों ने उन्हे तब देखा जब इन कवियों की रचनाएँ प्रकाशित होने लगी थीं।

मैंने भी उनके दर्शन तब किये जब मेरी दो-तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। उनसे मिलना मानो अपने किसी आत्मीय बड़े-बूढ़े से मिलने का सुखद अनुभव था। गोलाई लिए कुछ चौड़ा मुख, मूछों के नीचे छिपी-सी मुस्कराहट। क्या ऐसा स्नेहिल व्यक्तित्व हमारा विरोधी आलोचक हो सकता है? हममें से किसी का भी मन उनसे न कभी भयभीत हुआ, न उनका विरोधी। हमारी रचना-प्रक्रिया की सच्चाई ने उन्हें भी प्रभावित किया और उसके उपरान्त जो साहित्य का इतिहास लिखा गया, वह स्नेह की भूमिका में है।

इसी से आज उन्हें प्रणाम देना कृतार्थता लगती है।

महादेवी
१७-सी, अशोकनगर,
इलाहाबाद

सरस स्मृति

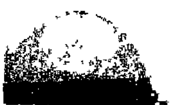
प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की स्थापना सन् १९२४ में हुई थी। किन्तु, दस वर्षों में ही डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में विभाग ने हिन्दी अध्ययन-अध्यापन और अन्वेषण के क्षेत्र में जो ख्याति अर्जित की, वह अन्य विश्वविद्यालयों के लिए स्पर्धा की बात बन गयी। उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय हिन्दी का गढ़ समझा जाता था, किन्तु हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन के लिए अन्य प्रदेशों या विदेशों से आने वाले विद्यार्थियों ने धीरे-धीरे जो सम्मान प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को देना आरम्भ किया, उससे हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की कीर्ति धूमिल होने लगी। उस समय भी हिन्दी विभाग की मर्यादा को स्थिर रखने वाले एक मनीषी कीर्ति-स्तम्भ के रूप में थे और वे थे—'आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल'।

अपने विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक दिनों में मैंने सुना था कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के बाद विभाग के दूसरे पद के लिए सन् १९२५ में पं० रामचन्द्र शुक्ल का नाम प्रस्तावित किया गया था। तब शुक्ल जी की साहित्य-सेवा सामान्य ही थी। पर पं० मदनमोहन मालवीय जी ने पं० देवीप्रसाद शुक्ल का नाम पं० गंगानाथ झा, तत्कालीन कुलपति, के समक्ष प्रस्तावित कर दिया। क्योंकि पं० देवीप्रसाद शुक्ल पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की अस्वस्थता में चार महीने सरस्वती मासिक पत्रिका का सम्पादन कर चुके थे। इस भाँति प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में पं० रामचन्द्र शुक्ल जी तो नहीं आये, पं० देवीप्रसाद शुक्ल आ गये। यदि पं० रामचन्द्र शुक्ल जी आते तो हिन्दी विभाग की स्थिति दूसरी ही होती।

पं० रामचन्द्र शुक्ल जी की साहित्य-सेवा यों तो व्रजभाषा-काव्य से आरम्भ हुई। किन्तु, धीरे-धीरे उनके भावपक्ष पर बुद्धितत्त्व का प्राधान्य होता गया और वे ललित, मनोवैज्ञानिक और आलोचनात्मक निबन्ध लिखने लगे। इसकी परिणति 'चिन्तामणि' निबन्ध-संग्रह में हुई।

हिन्दी साहित्य को उनकी अविस्मरणीय देन उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है जिसने सर्वप्रथम भारतीय भाषाओं में हिन्दी के वास्तविक स्वरूप का बोध कराया। सन् १९३५ की बात है, मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन का परीक्षा मंत्री था। हिन्दी की प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा परीक्षाओं में पाठ्यक्रम के निर्धारण करने का दायित्व मेरा था। परीक्षा विभाग की प्रत्येक बैठक में राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन जी आया करते थे। उत्तमा परीक्षा के पाठ्यक्रम में जब इतिहास की बात चली, तो पं० रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास निर्धारित हुआ। राजर्षि चाहते थे कि इतिहास में आलोचनात्मक तत्त्व भी होना चाहिए और उन्होंने मुझे ऐसा इतिहास लिखने के लिए प्रेरित किया। मैंने शुक्ल जी के इतिहास से ही प्रेरणा ग्रहण की और अपना 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' सन् १९३६ में लिखा जिस पर अनायास मुझे डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त हुई। इस प्रकार आलोचना और इतिहास-लेखन में शुक्ल जी का दृष्टिकोण मुझे सदैव प्रेरणा देता रहा।

डॉ० रामकुमार वर्मा
साकेत, प्रयाग स्ट्रीट,
इलाहाबाद



आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लोकमंगल की अवधारणा

डॉ० विद्यानिवास मिश्र

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध (काव्य में लोकमंगल और माधुर्य) में लोक में आनन्द की दो अवस्थाओं की स्थापना की है : (१) साधनावस्था और (२) सिद्धावस्था। साधनावस्था के बीज के रूप में करुणा है और उसके विकास के रूप में सात्त्विक अमर्ष, क्रोध, उत्साह जैसे दीप्त भाव हैं। इन सबके योग से लोकमंगल की भूमिका तैयार होती है। सिद्धावस्था का बीज है प्रेम और उसकी गति रंजन की ओर होती है। यद्यपि प्रेम में दुःख का भी अनुभव होता है, पर प्रेम का लक्ष्य माधुर्य की सिद्धि ही है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में साधनावस्था की अभिव्यक्ति ही श्रेष्ठतर काव्य के रूप में परिगत होती है। इस प्रकार उन्होंने एक सम्पूर्ण दृष्टि से एक लोकमंगलवादी सिद्धान्त की स्थापना की, किन्तु लोक क्या है, यह बात उनके आलोचनात्मक निबन्धों में कहीं स्पष्टतः निरूपित नहीं हो पाती। उनकी लोकदृष्टि को समझने के लिए उनकी काव्य-रचनाओं से सहायता लेनी पड़ती है अथवा हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनकी साहित्यिक रुझान से कुछ सहायता मिलती है। इस आलेख में मुख्य रूप से उनकी लोकदृष्टि के अनिरूपित पक्ष को आकलित करने का प्रयत्न किया जायगा।

एक बात तो स्पष्ट है कि उनकी लोकदृष्टि में केवल मानव-समुदाय नहीं है। उनका लोक मनुष्य और सृष्टि की व्यापक साझेदारी का भाव है। 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता में वे, मनुष्य और पक्षी के साहचर्य में ही जीवन की मूल्यवत्ता है, यह स्थापित करते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं—

> सहचर सारे ये हमारे रहते भी जहाँ
> कुछ सुख पावें पुण्यधाम वो हमारे हैं।
> इनके सुखों से सुख अपना हटा के दूर
> जीवन का मूल्य तो समूल हम हारे हैं।
> पर ये हमारे, हम इनके बने हैं अभी
> जैसे हम इन्हें वैसे हमको ये प्यारे हैं।

जब मनुष्य का अहंकार इस साझेदारी से हटकर उपभोक्ता के मद में चूर हो जाता है तो उसकी नरता कितनी भयावह है, यह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल परिवेश की वर्तमान जागरूकता के दशकों से समझ चुके थे, तभी वे ऐसी बात कह सकते थे कि तुम जंगलों को काट डालो, पहाड़ों को समतल बना दो, जीवों का संहार कर लो, धरती की गोद सूनी कर दो—तुम्हें क्या मिलेगा ? एक प्रेत का अकेलापन। क्या अकेले नरता पर्याप्त है ?

> कर से कराल निज काननों को काटकर
> शैलों को सपाट कर सृष्टि को संहार ले

नाना रूप रंग भरे जीवन उमंग भरे
जीव जहाँ तक बने मारते तू मार ले
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर
प्रेत सा अकेला पाँव अपने पसार ले
विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही
होगी किन्तु अलम, न मानव ! विचार ले।

आचार्य शुक्ल की लोकदृष्टि का दूसरा पक्ष यह है कि लोक का अर्थ है गोचर जगत् के साथ गोचर रागात्मक सम्बन्ध। दूसरे शब्दों में जो इन्द्रियगोचर संसार है, वह व्यर्थ नहीं है, वह अर्थवान् है। यदि मनुष्य उसे इस भाव से देखता है कि जो नारायण हमारे भीतर है, वही नारायण बाहर भी समान है और बाहिर्जनी नारायण को जो समझ नहीं पाता, वह अन्तर्यामी को भी नहीं समझ सकता। कुछ लोग इस भाव को स्थूल भौतिकवादी दृष्टि मानने की भूल कर सकते हैं और करते भी हैं। ऐसे लोग तर्क देते हैं कि आचार्य शुक्ल ने 'रिडिल ऑफ यूनिवर्स' जैसी अनीश्वरवादी रचना का अनुवाद 'विश्व-प्रपंच' के नाम से याद किया तो इसके पीछे यही कारण है कि उनका झुकाव भौतिकवाद की ओर है, परन्तु उनकी अधिकांश रचनाएँ यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित करती है कि वे निरे भौतिकवादी नहीं थे। वे भौतिक पदार्थों में एक जोड़ने वाली सत्ता का अनुभव करते थे और भौतिक पदार्थों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाली मनुष्य की जातीय स्मृति का महत्त्व भलीभाँति समझते थे। उन्हीं के शब्दों में 'विंध्य की वनवीथियाँ इसलिए और भी प्यारी लगती हैं कि वो रामपद अंकित है, ये कटीले झाड़ भी प्यारे लगते है क्योंकि है उनके ही वंशज ये जो—

कभी राम को छुए हमारे
इस नाते की चाट जिन्हें है
चित्रकूट कुछ और उन्हें है।'

वे इस नाते की चाट के ही कारण एक विचित्र प्रकार की आत्मीयता बीहड़ से बीहड़ प्रकृति से स्थापित करते हैं। इस प्रकार 'लोक' उनके लिए एक खुला हुआ संसार है जिसमें एक आन्तरिक संगति है जिसमे मनुष्य की पीढ़ी-दर-पीढ़ी के साहचर्य का जुड़ाव है जिसमें नर और नारायण के रिश्तों के बीच हजार किस्म के रिश्तों की सम्भावना की पहचान है और जिसमें एक दूसरे के ऊपर न्यौछावर होने में परम उल्लास का भाव है।

आचार्य शुक्ल की लोकदृष्टि में कभी-कभी एक अतिरिक्त ऊर्जस्विता दिखलाई पड़ती है जिसके कारण वे रहस्यवाद और छायावाद के कवियों के प्रति कुछ अकरुण भी हो जाते हैं। उन्होंने तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सौन्दर्य-बोध को भी थोड़ा न्यून ही महत्त्व दिया है। वे अन्तर के साईं की खोज को अन्धकूप का भटकाव समझते हैं। यही नहीं, ब्लेक जैसे कवियों की नकल में अज्ञात प्रियतम की खोज की परम्परा को पाखण्ड की भी संज्ञा देते हैं। 'पाखण्ड-प्रतिबन्ध' शीर्षक से उनकी एक लम्बी कविता है जिसमें मुख्य रूप से तीन मुद्दे उठाये गये हैं, पहला तो यह है कि सत् का आभास अधिक महत्त्वपूर्ण है, ध्वंसस्वरूप असत् की छाया का महत्त्व उसकी अपेक्षा कहीं कम है। दूसरा यह कि भारतीय काव्यधारा वाल्मीक से लेकर आज तक जगत् की जागती सगुण विभूतिमयी भासमान सत्ता में अनन्त शाश्वत कला देखती आई है। इसी कारण उस परम्परा के सत्त्वमर्म मानव को 'खग' के भी जीवन की हानि और सुखभग साध्य नहीं हुए भारतीय काव्य लुकी छिपी किसी कोने में नहीं रहती वह खले

आकाश में भ्रमण करती है। यह तो पश्चिम की नकल है जिसमें अज्ञात की लालसा के नाम पर ढोंग रचा है जिसमें न भाषा है, न भाव है, न भूति भाँपने की आँखें हैं। लोग गुरुज्ञान-गूदड़ी के चिने हुए चिथड़ों से मन ब्रह्मलीन किये गाँठते हैं और 'कलाहीन कोटि' शब्द की उड़ान भरते हैं। आचार्य शुक्ल को ऐसे सिद्ध साइँयों पर बड़ा आक्रोश है जो अन्तर की वासना को, कामवृत्तियों के झंझावात को, झूठ की प्रचण्ड गति को अध्यात्म और ब्रह्मलिप्सा का मुलम्मा चढ़ते हैं। वे प्रत्यक्ष अनुभव के जगत् से बाहर अध्यात्म की खोज को निरन्तर नकारते रहते हैं। इसीलिए उन्होंने 'हृदय का मधुर भाव' शीर्षक कविता में छायावाद के प्रतिलोम में 'प्रकाशवाद' शब्द का आविष्कार किया है और इस पर क्षोभ व्यक्त किया है कि जिनके पास प्रकृति के शुद्ध रूप को देखने की आँख नहीं है, वे क्यों व्यर्थ भीतरी रहस्य समझाते हैं—

प्रकृति के शुद्ध रूप देखने की आँख नहीं
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।

झूठे झूठे भावों के आरोपों से आच्छन्न उसे
करके पाखण्ड कला अपनी दिखाते हैं।

अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु, श्वास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन नित्य
देख अपना ही तंत्री तार वे बजाते हैं।

तीसरा मुद्दा यह है कि लोकदृष्टि व्यक्ति के दु:ख को महत्त्व तभी देती है जब वह समस्त सृष्टि के दु:ख के साथ समवेत हो, अन्यथा उस दु:ख में साधारणीकरण की संभावना नहीं हो पाती है तो उसे काव्य के लिए हेय समझती है।

इन तीनों मुद्दों में आचार्य शुक्ल का जो आवेशमय रूप दिखाई पड़ता है, वह ऊपर से तो बहुत ही निर्मम और कठोर लगता है, उससे पूरी तरह सहमत होने में भी कभी-कभी कठिनाई मालूम होती है किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह उनके स्वस्थ और आलोचक रूप का प्रमाण है। वे बिना लाग-लपेट के खरी बात कहना चाहते है। वे मलिक मोहम्मद जायसी के 'पद्मावत' में पद्मावती के अलौकिक रूप-वर्णन की अपेक्षा नागमती के विरह-वर्णन में जायसी की लोक-दृष्टि का प्रमाण अधिक पाते हैं क्योंकि वह विरह-वर्णन सामान्य गृहस्थ के जीवन से एक ओर जुड़ा हुआ है तो दूसरी ओर पूरी सृष्टि के परिवर्तनशील रूप की द्रवणशीलता से भी। इसमें हर बरसने वाला नक्षत्र, हर बरसने वाली नक्षत्र-माला कुछ नये ही ढंग से धरती को भिगोती है। उन्हें सूर का माधुर्य भाव इसलिए भी मोहित करता है कि उसमें सगुण रूप की लीला है और सूर से भी तुलसी इसलिए अधिक प्रिय लगते है क्योंकि वे लोकरंजक रूप की अपेक्षा लोकरक्षक रूप की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। परन्तु वे तुलसीदास से भी कभी-कभी नाराज हो उठते हैं जब वे देखते हैं कि उनके प्रकृति-वर्णन में सहजता और स्वाभाविकता नही रह गई है, प्रकृति केवल उद्दीपन बनकर तत्त्वहीन हो गयी है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में प्रकृति उद्दीपन से अधिक आलम्बन बनकर ही काव्य में सार्थक है। प्रकृति के भी निरे कोमल पक्ष में भी उन्हें उतना सौंदर्य नहीं दिखाई पड़ता जितना ऊपर से रूखे, किन्तु भीतर से सरस पक्ष में। शायद उनके ऊपर विंध्य की पथरीली-रूखी, पर वर्षा होते ही श्यामलता और रसमयता से आलुप्त धरती का प्रभाव है या उनके भीतर के वे संस्कार हों जो कर्तव्य की कठोरता के नीचे छिपी हुई नक्काशी से अधिक प्रभावित हुए हो कारण जो भी हो आचार्य शुक्ल बेल बूटों की नक्काशी

मे नहा रम व बीहड वना म खुलेपन मे अधिक रमते हैं क्योकि वहा सहजता है, वहाँ एक खुली हुई सच्चाई है. कही भी दुराव नहीं है। इस प्रकृति में ही 'मानस के अनेक द्वार' गुप्त होते हैं और हास की ऊँची तरंगे उठती है। वे धरती में अपने आप उगने वाले पेड़ में एकसाथ पालन और रंजन का भाव पाते है—

> गर्भ मे धरित्री अपने ही कुछ काल जिन्हें
> घटकर गोद में उठाती फिर चाव से।
> और सगे है वे ही उसके जो हरे-हरे
> खड़े लहराते पले मृदु क्षीर-स्राव से।
> धरती हैं जननी प्रथम इनको ही निज
> भले हुए पालन और रंजन के भाव से।
> पालते यही है, बहलाते भी यही है फिर
> सारी सृष्टि उसी प्राप्त शक्ति के प्रभाव से।

वे कविता की संभावना वहाँ देखते है जहाँ धरती किसानों के धूल-सने श्रम से फल के रूप में अपनी पूरी निधि बिछा देती है। उसी बिछी हुई निधि में से चिड़ियाँ अपना भार बँटाती है। धरती की इस ममता से भरी हुई छाँह का आमन्त्रण दुर्निवार है—

> जननी धरणी निज अंक लिए बहु कीट पतंग खेलाती जहाँ
> ममता से भरी हरी बाँह की छाँह पसार के नीड़ बसाती जहाँ।
> मृदु वाणी, मनोहर वर्ण अनेक लगाकर पंख उड़ाती जहाँ
> उजली कंकराली गली में धँसी तनुधार लटी बल खाती जहाँ।

अब इस आलोक में जब हम लोकमंगल की अवधारणा का स्वरूप-निर्धारण करेंगे तो समझ में आयेगा कि सौदर्य का बीज न राग है, न द्वेष, उसका बीज है मंगल-विधान, अर्थात् सब की चिन्ता, सर्वमय होकर सबकी चिन्ता। यदि यह चिन्ता है तो सारे भाव—कोमल या मधुर, कठोर या तीक्ष्ण—सुन्दर हो जाते हैं। मंगलविधान तभी शक्तिशाली होता है जब वह निर्विरोध और व्यापक होता है। आचार्य शुक्ल ही के शब्दों में 'यदि करुणा किसी व्यक्ति की विशिष्टता पर अवलम्बित होगी कि पीडित व्यक्ति हमारा मित्र, कुटुम्बी आदि है तो उस करुणा द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भाव में उतनी सुन्दरता न होगी। पर बीज रूप में अन्त:संज्ञा में स्थित करुणा यदि ढब की होगी कि इतने पुरवासी, इतने देशवासी या इतने मनुष्य पीड़ा पा रहे हैं तो उसके द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों का सौन्दर्य उत्तरोत्तर अधिक होगा। शुक्ल जी राग को प्रेम और करुणा दोनों का प्रवर्तक मानते है, किन्तु उनकी दृष्टि में प्रेम में कोई न कोई विशेषता अपेक्षित होती है, जबकि करुणा में निर्विशेषता की सिद्धि होती है। इसीलिए प्रेम की भूमिका की अपेक्षा करुणा की भूमिका अधिक व्यापक होती है।

आचार्य शुक्ल की इस स्थापना के पर स्पष्ट हैं, कहीं न कहीं एक हल्का पश्चिमी प्रभाव जरूर है। वे अपनी काव्य-रचना में साझेदारी की मधुरता की बात करते हैं। वहाँ करुणा से अधिक निर्विरोध प्यार का ही प्रसार है, परन्तु समीक्षा में वे यदि उस माधुर्य को कुछ न्यून करके देखते हैं तो यह योरोप के औद्योगीकरण से पनपी हुई मनुष्य की कर्मठता के उत्साह के प्रति श्रद्धा-भाव का ही प्रभाव कहा जा सकता है—विशेष रूप से उस समय जब देश में नवजागरण का संकल्प लिया जा रहा हो। यहीं आचार्य शुक्ल एक अन्तर्विरोध के जाल में फँस जाते हैं। वे एक ओर तो सहज भावुकता से वहाँ बिक जाते है 'जहाँ बक के निखरे सित पंख बिलोक के—बाकी बिक जाती हैं' वहीं दूसरी ओर वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आनन्दानुभूति को कुछ थोथी मानते हैं सूर के माधुर्य भाव को भी वे केवल

रंजक मानते हैं। वे एक ओर तो अछूतों के लिए अपार करुणा से लहरा कर उनकी ओर से कविता के करुण अन्तर्नाद कर सकते हैं, दूसरी ओर कबीर-जैसे पाखण्ड-विरोधी कवि की रचना की मूल्यवत्ता बहुत कुछ अनदेखी कर जाते हैं। वे आनन्द और सुख का अन्तर ही अनदेखा कर जाते हैं। भारतीय दृष्टि दोनों को बराबर पृथक् मानती आई है। आनन्द न सुख है, न दुःख है, बल्कि सुख-दुःख की एक तटस्थ पर लोकसंपृक्त अनुभूति है। यह अनुभूति केवल करुणा से प्रेरित अक्षम या क्रोध की होने पर ही सुन्दर हो, ऐसी बात नहीं। स्वयं आचार्य शुक्ल अपने लोकमंगल वाले निबन्ध में माधुर्य की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार के रागात्मक प्रसारों में पाते हैं (अतीत की स्मृति में)। कौमार अवस्था के परिचित पुराने पेड़ों और उजाड़ टीलों में, किसानों के झोपड़ों में, काई और कीचड़ भरे तालों में, चरकर लौटती हुई गायों के धूल उड़ाते हुए झुण्ड में, गड़ेरियों और ग्वालों की कमली में, ऊसर की पगडंडियों में मन को लीन करने वाला जो गुण है, वह माधुर्य है। यदि मंगल केवल प्रयत्न या साधनावस्था तक ही सीमित रहे, तो उसकी भूमिका कितनी छोटी होती है, इस ओर शुक्ल जी का ध्यान न गया हो, ऐसी बात नहीं, पर उनके भीतर एक आग्रह है जो लगता है किसी चिढ़ के कारण है। वे कहीं नकलीपन से उद्विग्न हो गये हैं, अन्तर्नाद, अन्तर्वेदना के खोखलेपन से खीझ गये हैं। इसलिए यह पहचानते ही कि श्रीकृष्ण के मथुरा जाने के बाद गोपियों की विरह-व्यथा का वर्णन जिस हृदय को द्रवित करता है, वह हृदय घुल जाता है। वे श्रीकृष्ण को लोकरंजक मात्र ही मानते हैं और यह भूल जाते है कि श्रीकृष्ण श्रीराम की तरह ही लोकरक्षक है। अन्तर केवल इतना है कि श्रीकृष्ण लोकरक्षक रूप को बराबर भुलवाते रहते है ताकि वे गोपियों के अधिक से अधिक आत्मीय हों, अधिक से अधिक सगे हों। स्वयं राम भी तुलसी के काव्य में विनम्रता और मधुरता की भूमिका से अपने स्फीत वीरभाव को दबाते चलाते हैं, ताकि वे सामान्य रूप से सामान्य व्यक्ति के आत्म हो सकें। निश्चय है कि यद्यपि आचार्य शुक्ल के मन में लोक है, वह बहुत व्यापक है। उसमें मनुष्य और पूरी सृष्टि समायी हुई है, पर उनकी सैद्धांतिक पीठिका में जो रुख है, वह मानववाद के पश्चिमी आन्दोलन की छाया से ग्रस्त है। इसलिए जहाँ कवि के रूप में आचार्य शुक्ल एक व्यापक लोक-मंगल की झाँकी प्रस्तुत करते हैं, वहीं आलोचक के रूप मे लोकमंगल को एक दायरे में सीमित कर देते हैं।

इस अन्तर्विरोध के बावजूद भी यह स्वीकार करना चाहिए कि आचार्य शुक्ल मे एक स्वस्थ और मौलिक लोकदृष्टि साहित्य-समीक्षा को दी और उन्होंने अपने समय के प्रवाह में न बहते हुए एक दूरदर्शिता का परिचय दिया। एक ऐसी आधुनिक चेतना का परिचय दिया जो उनके मरने के बाद आज दबाव में उभर रही है। आचार्य शुक्ल की मंगल-विधायिनी, लोकदृश्य जीवन से स्वीकार्य और जीवन की सम्पूर्णता की पहचान कराने वाली जो दृष्टि है, वह अध्यात्म को संसार से अलग नहीं देखती। इस गोचर संसार में ही अध्यात्म है, देखने का भाव होना चाहिए। दूसरे शब्दों में न तो वे मायावाद के फाँस में पड़े, न छायावाद के, न रूपवाद या भोगवाद के। वे एक सीधी राह निकाल सके हैं—यह बात ही अपने आप मे बहुत महत्त्व रखती है।

निदेशक
क० मुं० हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ,
आगरा यूनिवर्सिटी, आगरा

हिन्दी-समीक्षा में शुक्ल जी के आचार्यत्व का स्थान

डॉ॰ रामलाल सिंह

अर्थ-परिवर्तन के विशिष्टीकरण की प्रक्रिया मे 'आचार्य' शब्द का पारिभाषिक या शास्त्रीय अर्थ है ज्ञान के क्षेत्र मे किसी नये सिद्धान्त की उद्भावना करने वाला शास्त्रीय विद्वान् व्यक्ति। इसी अर्थ में हमारे यहाँ भारतीय साहित्यशास्त्र में भरत, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि को आचार्य की उपाधि मिली है। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी-समीक्षा में शुक्ल जी के आचार्यत्व पर विचार करते है, तब हमें यह विदित होता है कि उन्होंने साहित्य-समीक्षा में किसी अभूतपूर्व नये साहित्य-सिद्धान्त की उद्भावना नहीं की है, किन्तु इससे उनके आचार्यत्व में किसी प्रकार की कमी भी नही आती, क्योंकि जिस जाति या देश के पास दो सहस्र से अधिक वर्षों का साहित्य-चिन्तन भरा पड़ा हो, जिसमे एक से एक उदात्त सिद्धान्त आविष्कृत हो चुके हों, उस देश के साहित्य-चिन्तन के लिए सर्वथारूपेण किसी नये या मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना का अवसर बहुत ही कम रहता है। ऐसी स्थिति में उसकी मौलिकता या आचार्यत्व की परीक्षा सर्वप्रथम मूल तथा व्यापक सिद्धान्त के ग्रहण से होती है, तदन्तर उस सिद्धान्त के विवेचन में प्रयुक्त उसकी मौलिक सामग्री तथा मौलिक विवेचन शैली से होती है। इसके पश्चात् उसके आचार्यत्व का परिचय उस मूल सिद्धान्त की युगानुरूप नवीन व्याख्या, उसके नवीन महत्व-प्रतिपादन, नवीन सम्बन्ध-स्थापन, नूतन संश्लेषण, नवीन बल, उसकी त्रुटियों के दूरीकरण के प्रयत्न तथा उसके अन्तर्गत की गयी नवीन उद्भावनाओं से मिलता है। उपर्युक्त दृष्टियो से जब हम शुक्ल जी के आचार्यत्व पर विचार करते हैं तो यह विदित होता है कि वे भारतीय समीक्षा के मूल सिद्धान्त 'रस-सिद्धान्त' के व्यापक स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ है। उन्होंने रस-सिद्धान्त को इतना व्यापक स्वरूप प्रदान किया है कि जिसमें भारतीय काव्य के सभी तत्त्व—अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य तथा पश्चिमी दृष्टि से काव्य के प्रमुख तत्त्व—कल्पना, अनुभूति, सौन्दर्य-तत्त्व, वर्ण्य तत्त्व, शील-निरूपण, जीवन-सन्देश आदि एवं जीवन के प्रमुख पक्ष—मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तत्त्व, युगचेतना तत्त्व, दार्शनिक तथ्य आदि समाहित हो जाते हैं जिसमे पूर्व तथा पश्चिम, प्राचीन तथा नवीन, सभी प्रकार के काव्यों की सम्पूर्ण सम्पदाएँ तथा विशेषताएँ समन्वित होकर काव्य-समीक्षा का इतना व्यापक प्रतिमान तैयार करती हैं कि जिसके द्वारा संसार भर के सभी प्रकार के साहित्यों की परीक्षा हो सकती है। जीवन की दृष्टि से शुक्ल जी इसमें लोक-जीवन तथा व्यक्ति-जीवन के संश्लेषण की क्षमता सिद्ध करते हैं इसमें जीवन के आदर्श तथा यथार्थ दोनों पक्षों का समावेश करते है, इसमें यथासम्भव नये जीवन तथा नये विचारों की सन्निहिति की व्याप्ति प्रतिपादित करते हैं तथा अन्ततोगत्वा इसमे विश्व-जीवन की आन्तरिक एकता की अनुभूति सिद्ध करते हैं।

रस-सिद्धान्त सम्बन्धी उनकी नवीन उद्भावनाएँ उनके आचार्यत्व को प्रमाणित करने मे पूर्ण समर्थ हैं।

"लोकहृदय में लीन होने की दशा या हृदय की ˝ के रूप में शुक्ल जी की रस-परिभाषा मौलिक है भाव तथा प्रत्येक भाव के विभिन्न निर्माणकारी तत्त्वों,

लक्षणों, विशेषताओं, भेदोपभेदों, स्वरूपों का पृथक्करण, वर्गीकरण तथा विश्लेषण, उनकी विस्तृत व्याप्ति, उनके उद्भव, गतिविधि तथा विकास की प्रक्रिया, जीवन तथा साहित्य में प्रत्येक भाव के महत्त्व तथा उपयोगिता का विवेचन, भावों की विभिन्न दशाओं—क्षणिक दशा, शील दशा, स्थायी दशा—का पृथक्करण तथा महत्त्वसहित उनका विवेचन जैसा शुक्ल जी ने कर दिया है, वैसा भारतीय साहित्यशास्त्र में कहीं देखने को नहीं मिलता।

भाव का एक वृत्ति-चक्र या मानसिक-शारीरिक विधान-व्यवस्था के रूप में निरूपण तथा स्थायी भाव का एक भावकोश या भाव-प्रणाली के रूप में प्रतिपादन एवं उसमें प्राथमिक भाव, साधित भाव, वासना, मनोवेग, इन्द्रिय-वेग, प्रवृत्ति, अन्तःकरण-वृत्ति, विवेकात्मक बुद्धि-व्यापार, संकल्प, इच्छा तथा शरीर-व्यापार का मूल भाव के शासन के भीतर नियोजन हिन्दी-समीक्षा में नितांत मौलिक वस्तु है।

शुक्ल जी ने भाव तथा रस-विवेचन में भावों तथा रसों की ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख किया है जो शास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। जैसे, रौद्र रस के विवेचन में राजकोप, धर्मकोप, तथा लोककोप का विवेचन। साहित्य-मीमांसकों द्वारा विवेचित वीर रस के चार भेदों—दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर के अतिरिक्त कर्मवीर, बुद्धिवीर तथा वाग्वीर की उद्भावना शुक्ल जी के निजी चिन्तन का फल है। स्थायी भाव की विशेषताओं तथा उसके निर्माणकारी तत्त्वों का निरूपण तथा उसकी जीवन-सम्बन्धी साहित्यिक तथा सामाजिक व्याख्या शुक्ल जी के पूर्व किसी हिन्दी अथवा संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलती। प्रमुख सात स्थायी भावों—उत्साह, करुणा, प्रीति, घृणा, भय, क्रोध और श्रद्धा-भक्ति तथा प्रमुख तीन संचारी भावों—लज्जा, ग्लानि तथा ईर्ष्या में से प्रत्येक की परिभाषा, स्वरूप, लक्षण, उसके निर्माणकारी तत्त्वों, व्यावहारिक जीवन में पाये जाने वाले उनके भेदोपभेदों, उनकी उत्पत्ति, विकास तथा गतिविधि आदि की जैसी मौलिक सामग्री शुक्ल जी ने दी है, वैसी हिन्दी क्या संस्कृत के किसी साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ में नहीं मिलती। उपर्युक्त भावों का विवेचन करते समय शुक्ल जी ने 'चिन्तामणि' तथा 'रस-मीमांसा' के निबन्धों में साहित्य के माध्यम से अपने युग की प्रायः सभी प्रमुख समस्याओं का उद्घाटन तथा समाधान जिस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है तथा इनके द्वारा रस तत्त्व के भीतर ऐतिहासिक तथ्य, प्रकृति-दर्शन, युग-चेतना-तत्त्व, सांस्कृतिक तत्त्व, राष्ट्रीय तत्त्व आदि का समावेश जिस कलात्मक ढंग से किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आधार की जितनी विस्तृत सामग्री शुक्ल जी ने 'रस-मीमांसा' में दी है, उतनी अन्यत्र नहीं मिलती। जीवन तथा साहित्य में प्रत्येक भाव तथा रस के ही नहीं, उनके विभिन्न स्वरूपों के महत्त्व तथा उपयोगिता का विवेचन 'रस-मीमांसा' में बिलकुल नया है। रस-सिद्धान्त को शुक्ल जी ने साहित्यशास्त्रीय सामग्री से ही नहीं, वरन् जीवन-सामग्री से भी समझाने का प्रयत्न किया है। अतः रस-व्याख्या के समय विवेचित शुक्ल जी का जीवन-दर्शन तथा साहित्य-दर्शन हिन्दी-समीक्षा-संसार में नवीन ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। जगत् के सच्चे प्रतिनिधि बनने के रूप में स्थायी भाव के विवेचन की सामग्री शुक्ल जी की नवीन सूझ है। इस प्रकार रस-सिद्धान्त द्वारा जीवन तथा साहित्य को एक सूत्र में व्यवस्थित कर बाँधने का प्रयत्न किया है।

विभाव के भीतर मनुष्य से लेकर कीट-पतंग, वृक्ष-नदी-पर्वत आदि सृष्टि के सभी साधारण-असाधारण पदार्थों की योजना शुक्ल जी के व्यापक तथा मौलिक चिन्तन का फल है। अनुभाव को शारीरिक ही मानने वाले उनके मत का मनोवैज्ञानिक पक्ष बिलकुल मौलिक ढंग का है हावों को अधिकांश मात्रा में विभाव के भीतर रखने के औचित्य का प्रतिपादन हिन्दी-

समीक्षा के लिए मौलिक सामग्री है। संचारियों का वर्गीकरण तथा प्रत्येक वर्ग की विशेषताओं का निरूपण जैसा शुक्ल जी ने 'रस-मीमांसा' में किया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। तैंतीस संचारियों को उपलक्षण मानकर उनसे अधिक संचारियों की संख्या मानने वाले मत का प्रतिपादन तथा विस्मृति, चकपकाहट, आदि नये संचारियों का आविष्कार महाकवि देव के विवेचन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

साधारणीकरण-विवेचन के संदर्भ में रस-प्रक्रिया का जैसा मनोवैज्ञानिक विवेचन शुक्ल जी ने किया है, वैसा मनोवैज्ञानिक विवेचन हिन्दी अथवा संस्कृत के किसी साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलता। साधारणीकरण के तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख, उसकी प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्टीकरण, उसकी उच्च, मध्यम तथा अधम कोटियों की उद्भावना तथा उनका स्पष्ट निरूपण, शृंगार, वीर, रौद्र के अतिरिक्त अन्य रसों के साथ साधारणीकरण-प्रक्रिया की प्रयोग-विधि तथा काव्य, नाटक के अतिरिक्त अन्य साहित्य-रूपों के साथ उसका प्रयोग शुक्ल जी के अतिरिक्त अन्यत्र किसी दूसरे भारतीय आचार्य के ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता।

रस की समग्र जीवनमयी तथा साहित्यमयी व्याप्ति का विवेचन रस-सिद्धान्त के क्षेत्र में शुक्ल जी की बहुत बड़ी देन है। रस-व्याप्ति में उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष की विवृति, उसके नैतिक तथा सांस्कृतिक पक्ष का उल्लेख, दार्शनिक पक्ष का संकेत, उसके भीतर चरित्र-चित्रण तत्त्व का समावेश, प्रत्यक्ष जीवन में रसानुभूति का उल्लेख जैसे—प्रकृति के रमणीय दृश्यों के दर्शन एवं ऐतिहासिक खंडहरों के प्रत्यक्षीकरण में उसकी सीमा के भीतर जीवन के आदर्श तथा यथार्थ दोनों पक्षों की सन्निहिति, उसके भीतर बोधवृत्ति, रागवृत्ति तथा संकल्प-वृत्ति की समाहिति तथा अनुभूति के माध्यम से उसके भीतर काव्य के अन्य तत्त्वों का समावेश करके शुक्ल जी ने रस-व्याप्ति-सम्बन्धी सामग्री को नितान्त मौलिक बना दिया है।

शुक्ल जी की रस-स्वरूप-सम्बन्धी सामग्री हिन्दी-समीक्षा के लिए ही नहीं, वरन् संस्कृत समीक्षा के लिए भी नितान्त नूतन वस्तु है। रस की उच्च, मध्यम तथा अधम दशाओं की उद्भावना शुक्ल जी के अतिरिक्त किसी दूसरे भारतीय आचार्य के विवेचन में नहीं मिलती। कल्पित रूप-विधान के अतिरिक्त प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा स्मृत रूप-विधानजन्य अनुभूति में रसानुभूति का दर्शन करना शुक्ल जी की मौलिक सूझ है, क्योंकि उन्होंने जहाँ से इसका संकेत प्राप्त किया था, वहाँ इसका प्रयोग कल्पनानन्द के लिए किया गया था। रसानुभूति की विशेषताओं का विवेचन भी शुक्ल जी ने नवीन ढंग से किया है। रस के लौकिक स्वरूप पर इतना अधिक बल हिन्दी-समीक्षा में ही नहीं, संस्कृत-समीक्षा में भी किसी आचार्य ने नहीं दिया। लौकिक सुख-दुःख से भिन्न रस के सत्त्वोद्रेकयुक्त सामाजिक सुख-दुःखात्मक स्वरूप का समर्थन शुक्ल जी का मौलिक विचार है।

शुक्ल जी ने अपने युग के अनुरूप रस की नवीन व्याख्या की है। उनके युग में जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता, सबसे अधिक माँग सामाजिकता की थी। अतः उन्होंने रस की व्याख्या सामाजिकता, निर्वैयक्तिकता तथा लोकदशा में हृदय के लीन होने की दशा के रूप में की है। शुक्ल जी द्वारा निर्मित रसादर्श आवश्यक संशोधनों के साथ युग का प्रतिनिधि साहित्यादर्श स्वीकार किया गया है और उसी के आधार पर लोकधर्म का रस-सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित समीक्षा की एक नयी परम्परा प्रतिष्ठित हुई है जो आज तक चलती जा रही है। उनके द्वारा निर्मित समीक्षा का जो जीवन-सम्बन्धी प्रतिमान 'जन-कल्याण' स्थापित हुआ, वह अनेक झोंके-झकोरे खाने के बावजूद भी आज तक अटूट बना हुआ है। इससे यह विदित कि आचार्य शुक्ल अपने समीक्षा-सम्बन्धी आचरण की अमिट छाप अपने परवर्ती समीक्षकों पर

लगाने में समर्थ हुए हैं । आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ-दृष्टि[1] से उनके आचार्यत्व का यह दूसरा सबसे बड़ा प्रमाण है ।

शुक्ल जी का रस-सिद्धान्त विश्व-समीक्षा सिद्धान्त बनने की सम्भावना के प्रतिपादन के कारण हिन्दी समीक्षा में उसके नवीन महत्त्व का प्रतीक है। शुक्ल जी ने हिन्दी समीक्षा मे काव्य के सभी तत्त्वों का सम्बन्ध रस से नये सिरे से स्थापित किया है। सैद्धान्कि समीक्षा में साहित्य के विभिन्न सिद्धान्तों की क्या स्थिति होनी चाहिए, किस प्रकार सभी सिद्धान्त अनुभूतिजन्य होने के कारण रस से सम्बन्धित हो जाते हैं, इसे सर्वप्रथम हिन्दी समीक्षा में बलपूर्वक आचार्य शुक्ल जी ने ही कहा । हिन्दी समीक्षा में शुक्ल जी के पूर्व रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि के विवेचन बिखरे-बिखरे रहते थे, पूर्वी एवं पश्चिमी समीक्षा के सिद्धान्त अलग-अलग दिखाई पड़ते थे। इनमें संश्लेषण लाने का कार्य सर्वप्रथम शुक्ल जी द्वारा रस के माध्यम से संपादित हुआ ।

शुक्ल जी ने सर्वप्रथम रस के दार्शनिक पक्ष से बल, सामाजिक पक्ष पर तथा शास्त्रीय पक्ष से व्यावहारिक पक्ष पर अवतरित किया । उन्होंने अपने रस-विवेचन में रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आधार, नैतिक पक्ष, त्रिकालवर्तिनी विश्वात्मक अनुभूति के स्वरूप तथा साधारणीकरण में आलम्बन के लोकधर्मी स्वरूप पर सर्वाधिक बल दिया है। इससे एक ओर तो उन्होंने रस को लौकिक अनुभूति सिद्ध किया तथा दूसरी ओर अलौकिकता, आध्यात्मिकता को रस-क्षेत्र से अलग करने का प्रयत्न किया । इन प्रयत्नों के फलस्वरूप वे साहित्य को जीवन के निकट लाने में तथा उसे सामाजिक बनाने में सर्वाधिक मात्रा में सफल हुए ।

शुक्ल जी के अंग-सिद्धान्तों का विवेचन भी उनके अंगी-सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त के समान ही प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का आधार लेने पर भी नवीनता रखता है । अलंकार-विवेचन में कल्पना का प्रयोग, उसके प्रयोग के मनोवैज्ञानिक कारणों का विचार, रूप. गुण, क्रिया तथा प्रभाव के आधार पर उसका वर्गीकरण, जीवन-सौन्दर्य के पर्याय-रूप में उसकी स्वीकृति शुक्ल जी सर्वप्रथम भारतीय समीक्षा में की । वे काव्य में अलंकार को वर्णन-प्रणाली मानकर उसका स्थान अन्य अंग तत्त्वों के समान रूप में ही स्वीकार करते हैं । अलंकार-सम्बन्धी उनका उपर्युक्त मत हिन्दी के परवर्ती समीक्षकों में निर्विवाद रूप से मान्य हो गया है । हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थों में संस्कृत अलंकार-ग्रन्थों की देखा-देखी स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति, हेतु आदि वर्ण्य से संबंध रखने वाले अलंकार अलंकारों की श्रेणी में रखे जाते थे । इनका सम्बन्ध वर्ण्य से होने के कारण शुक्ल जी ने इनके अलंकारत्व का निषेध किया है । यह धारणा उनके परवर्ती समीक्षकों को भी मान्य-सी हो गई है । अलंकारों की संख्या के विषय में शुक्ल जी का विचार बहुत ही प्रगतिशील ढंग का है, क्योंकि वे उनकी इयत्ता नहीं मानते । उनकी दृष्टि में नये अलकारों के आविष्कार की सम्भावना प्रत्येक कवि तथा कृति मे है । इस प्रकार शुक्ल जी की प्रगतिशील अलंकार-धारणा हिन्दी के अलंकार-सम्बन्धी मत को उसकी संकुचित यंत्रगतिक शृंखला से उन्मुक्त कर उसे विस्तृत रूप देती है ।

शुक्ल जी की रीति-सम्बन्धी व्याख्या आज हिन्दी-समीक्षकों के बीच रीति-सम्बन्धी मान्य धारणा के रूप में प्रचलित है । रीतिवादियों के समान आज हिन्दी का कोई समीक्षक रीति को काव्यात्मा नहीं मानता । शुक्ल जी ने रीति का सम्बन्ध भाषा से, पद-संघटना से, शैली से मानते हुए उसका सम्बन्ध काव्य के बहिरंग-पक्ष से स्थापित किया है । रीति के सम्बन्ध में यही धारणा हिन्दी-समीक्षा में आज भी प्रचलित है ।

१. [illegible]

शुक्ल जी की गुण-सम्बन्धी धारणा रस-धर्म के रूप में अन्तरंग कोटि की है। गुण की यही धारणा हिन्दी समीक्षकों को आज मान्य है। शुक्ल जी रस के सहायक सिद्धान्त के रूप मे औचित्य सिद्धान्त की सार्थकता स्वीकार करते हैं। वह भारतीय संस्कृति तथा वातावरण में पले किसी हिन्दी-समीक्षक को अमान्य नहीं हो सकती।

अन्य सिद्धान्तों के समान वक्रोक्ति-सिद्धान्त की वास्तविकता को भी शुक्ल जी ने स्वीकार किया है। हिन्दी में शुक्ल जी के पूर्ववर्ती आचार्यों में एकाध को छोड़कर प्रायः सभी ने वक्रोक्ति को अलंकार-विशेष के रूप में ही स्वीकार किया है। जिन आचार्यों ने वक्रोक्ति को सिद्धान्त-रूप में ग्रहण किया, उनमें से पद्मसिंह शर्मा, भामह, दण्डी, कुंतक आदि के वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति सम्बन्धी प्राचीन मत को ज्यों का त्यों रखते हैं। रत्नाकर जो उसे रमणीयता की सृष्टि में सहायक मानकर रस के समक्ष रखते हैं। ये दोनों आचार्य उसके सापेक्ष महत्त्व तथा वास्तविकता को अलग करने में असमर्थ हुए हैं, किन्तु शुक्ल जी अपनी तत्त्वाभिनिवेशी दृष्टि द्वारा वक्रोक्ति की सापेक्ष महत्ता तथा वास्तविकता को ग्रहण करने मे समर्थ हुए हैं और उन्हें उसकी सार्थकता, मार्मिक अनुभूति से उत्पन्न होकर रसोद्रेक में सहायता पहुँचाने में मान्य है, इसके आगे नहीं। अर्थात् कुन्तक की वक्रोक्ति जहाँ तक अनुभूतिजन्य चमत्कार को लेकर चलती है, वहाँ तक शुक्ल जी को मान्य है; किन्तु जहाँ वह केवल अनुभूति-विरहित कोरे चमत्कार की प्रतिष्ठा करती है, वहाँ मान्य नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी की वक्रोक्ति-सम्बन्धी उक्त धारणा हिन्दी-समीक्षा के लिए नवीन वस्तु है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त-विषयक इस प्रकार की संतुलित धारणा शुक्ल जी के पूर्व किसी आचार्य ने प्रतिपादित नहीं की थी।

शब्द-शक्ति के विषय में आचार्य शुक्ल की हिन्दी-समीक्षा में सबसे बड़ी मौलिक देन यह है कि वे रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया व्यंजना-प्रक्रिया से मानते हुए भी वाच्यार्थ में काव्य की रमणीयता मानते हैं। अर्थात्, वे व्यंजना को मानते हुए भी अभिधावादी हैं, अभिधा में काव्य का चमत्कार मानते है। इस प्रकार वे अनुभूति तथा सौन्दर्य पक्ष में समन्वय स्थापित करते हैं। काव्य की अनुभूति तथा चमत्कार पक्ष का यह सुन्दर समन्वय हिन्दी-साहित्य तथा समीक्षा के लिए बहुत बड़ी देन है। शुक्ल जी द्वारा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का स्पष्ट अन्तर भारतीय समीक्षा में अन्यत्र नहीं मिलता। यह शुक्ल जी के सूक्ष्म मौलिक चिन्तन का फल है। युक्तियुक्त ढंग से शुक्ल जी द्वारा व्यंजना की स्थापना, असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य की विशेषता का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण तथा लक्षण एवं व्यंजना के भीतर अभिधा की समाहिति का निरूपण इस बात को स्पष्ट करता है कि उनकी दृष्टि कभी एकपक्षीय अथवा एकांगी नहीं होती थी। वे किसी मत या वाद को मानने के कारण दूसरे मत के मूल्य की अवमानना नहीं करते थे, वरन् उसके सत्पक्ष को ग्रहण करने के लिए वे सदैव तैयार रहते थे। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सम्प्रदाय की आधारभूत वास्तविकताओं को ग्रहण कर काव्य में सबके यथोचित मूल्य का निरूपण कर सैद्धान्तिक समीक्षा को उसके सभी विकसित अंगों सहित हिन्दी समीक्षा में प्रस्तुत किया है।

जिस प्रकार शुक्ल जी ने भारतीय समीक्षा के सभी सिद्धान्तों का मौलिक मनोवैज्ञानिक विवेचन कर सैद्धान्तिक समीक्षा का सर्वांगीण विकसित रूप उपस्थित करते हुए हिन्दी के अनुशीलन-कार्य को नई चेतना दी, तद्वत् उन्होंने साहित्य की सर्वांगीण व्याख्या और मूल्यांकन करने वाला काव्य-दर्शन देकर हिन्दी समीक्षा को नई दृष्टि दी। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-समीक्षा का स्वतन्त्र तथा नव्य दर्शन उपस्थित कर अपने आचार्यत्व को अपने कार्यों तथा

आचार्यों द्वारा प्रमाणित किया। उन्होंने काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-तत्त्व, काव्य-स्वरूप, कवि-कर्म, काव्य-प्रक्रिया, काव्य-निकष, काव्य की आवश्यकता, महत्ता तथा कार्य, कवि-व्यक्तित्व, काव्याधिकारी आदि काव्य-दर्शन-सम्बन्धी सभी आवश्यक प्रश्नों पर अधुनातन ढंग से विचार किया है।[४] उनके काव्य-दर्शन के विवेच्य अंगों की पदावली अधिकांश मात्रा में पुरानी है, पर उनके विवेचन की सामग्री नवीन तथा वैज्ञानिक है। फलस्वरूप पुराना काव्य-दर्शन सजीव तथा समयोपयोगी हो गया है, निर्जीव परम्परा सजीव हो उठी है।

भारतीय काव्यशास्त्र के सभी प्रतिनिधि लक्षणों में काव्य 'शब्दार्थ रूप' माना गया है। शुक्ल जी भी अपने काव्य-लक्षण-निरूपण में दोनों को रखते हैं, किन्तु हृदय की मुक्ति-साधना को काव्य का व्यावर्तक धर्म मानकर उसमें नवीनता ला देते हैं। काव्य-प्रयोजन-सम्बन्धी शुक्ल जी की दृष्टि शास्त्र-सम्मत होते हुए भी युगानुकूलता के तत्त्व को अपनाने के कारण, उसकी व्याख्या में नवीन वैज्ञानिक पदावली के प्रयोग के कारण नवीन कोटि की हो गई है। उन्होंने कविता के उदात्त से उदात्ततर प्रयोजनों को अपनी काव्य-प्रयोजन-धारणा में समाहित कर, काव्य को दर्शन की कोटि में तथा कवि को योगी की श्रेणी में ले जाकर कवि तथा काव्य, दोनों को यह प्राचीन गौरव तथा महत्त्व फिर एक बार दिलाने का प्रयत्न किया है जब कवि ऋषि, क्रान्तदर्शी, मनीषी आदि की श्रेणी में रखे जाते थे और कविता दर्शन के समान उदात्त तथा मंत्र के समान प्रभावशाली मानी जाती थी।

काव्य-हेतुओं का विवेचन शुक्ल जी द्वारा प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा के मेल में होते हुए भी प्रतिभा के मनोवैज्ञानिक विवेचन के कारण नवीनता रखता है। उन्होंने प्रतिभा के विवेचन में उसकी अलौकिक, अतिप्राकृत, दैवी धारणाओं का खण्डन करते हुए बौद्धिक ढंग से नवीन पदावली में उसका विवेचन किया है। प्रतिभा का ऐसा मनोवैज्ञानिक विवेचन शुक्ल जी के पूर्व किसी हिन्दी-समीक्षक ने नहीं किया है।

शुक्ल जी ने भारतीय काव्य-तत्त्वों—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य तथा ध्वनि एवं पश्चिमी काव्य-तत्त्वों—अनुभूति, कल्पना, सौन्दर्य तत्त्व, राग तत्त्व, बुद्धि तत्त्व, अभिव्यंजना तत्त्व, आदर्श तत्त्व तथा यथार्थ पक्ष पर विचार करते हुए सबका समन्वय रस के माध्यम से सफलतापूर्वक करके काव्य का बहुत ही विस्तृत स्वरूप खड़ा किया है। वह कविता जो चुने हुए नायक-नायिकाओं, बँधी हुई जीवन-धाराओं, कुछ सीमित भावनाओं तथा कुछ विषयों में बँध गई थी, उसको उसके संकुचित स्वरूप से मुक्त कर, जगत् और जीवन के विस्तार के समान विस्तृत कर उसको इतना व्यापक स्वरूप शुक्ल जी ने दिया है कि उससे अधिक की कल्पना करना असम्भव है। उसके पूर्ववर्ती किसी भी हिन्दी-समीक्षक ने कविता को इतना व्यापक स्वरूप नहीं प्रदान किया था।

शुक्ल जी ने कवि-कर्म का निरूपण भारतीय काव्य-पक्ष—विभाव एवं भाव पक्ष तथा पश्चिमी काव्य-पक्ष—अनुभूति, कल्पना, चिन्तन तथा प्रेषणीयता के माध्यम से किया है। इसलिए उसमें मौलिकता तथा आधुनिकता का पुट आ गया है। उन्होंने काव्य-प्रक्रिया का सम्बन्ध भावना-प्रक्रिया तथा अथवा कल्पना-प्रक्रिया से जोड़कर एवं उसके माध्यम से काव्य के सभी तत्त्वों को संश्लिष्ट कर उसकी अधुनातन व्याख्या की है।

शुक्ल जी द्वारा निरूपित काव्योद्देश्य—विश्व से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने अथवा विश्वव्यापिनी त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करने में साहित्य एवं जीवन के ऊँचे से ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इतना व्यापक काव्योद्देश्य हिन्दी-समीक्षा में पहली बार उन्हीं के द्वारा निरूपित हुआ। उनके द्वारा वर्ण्य तथा रस के आधार पर किया हुआ काव्य का वर्गीकरण

अपने ढग का नवीन प्रकार का काव्य-वर्गीकरण है जो भारतीय समीक्षा में कहीं नहीं मिलता।

शुक्ल जी ने काव्य के सभी वादों तथा तत्त्वों को रस की कसौटी पर कस कर देखा है। जो खरे उतरे हैं, उनको उन्होंने देशी और विदेशी के भेदभाव से निराशक्त होकर ग्रहण किया है। आवश्यकतानुसार इनका संस्कार भी किया है। इस प्रकार उन्होंने अपनी रस-कसौटी द्वारा हिन्दी-समीक्षा को तत्त्वाभिनिवेशी, सारग्राहिणी तथा सामंजस्यपूर्ण दृष्टि प्रदान की है।

शुक्ल जी ने काव्य की महत्ता, आवश्यकता तथा कार्य का निरूपण जितने उच्च स्तर तथा उदात्त दृष्टि से किया है, उतनी उदात्तता किसी दूसरे हिन्दी-समीक्षक में नहीं मिलती। उन्होंने काव्य का सम्बन्ध संस्कृत-प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियों से स्थापित कर उसमें नीति तथा लोकमंगल की जैसी प्रतिष्ठा की है, वैसी प्रतिष्ठा हिन्दी का कोई समीक्षक नहीं कर सका। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने काव्य में कलात्मक ढंग की नीति-प्रतिष्ठा का समर्थन किया है, उपदेशात्मक ढंग की नीति-प्रतिष्ठा का नहीं।

कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी परिवृत्ति पर विचार करने वाले शुक्ल जी हिन्दी में पहले आलोचक हैं। यह दूसरी बात है कि उनके व्यक्तित्व-विवेचन में मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म तत्त्वों का निदर्शन बहुत गम्भीर कोटि का नहीं है। उनके द्वारा निरूपित काव्याधिकारी अथवा सहृदय का लक्षण बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग का है। ऐसा मनोवैज्ञानिक निरूपण अन्यत्र पूर्ववर्ती हिन्दी-समीक्षा में नहीं मिलता।

जिस प्रकार आचार्यत्व की अभिव्यक्ति पुराने सिद्धान्तों में नवीन सामग्री की उद्-भावना, युगानुरूप उसकी नवीन व्याख्या तथा नवीन महत्त्व-प्रतिपादन से होती है, उसी प्रकार और उसी मात्रा में उसकी अभिव्यक्ति उसकी त्रुटियों के दूरीकरण के प्रयत्न में होती है। इस दृष्टि से शुक्ल जी ने प्राचीन रस-विवेचन-सम्बन्धी त्रुटियों के दूरीकरण के प्रयत्न में अपने आचार्यत्व की सच्ची अभिव्यक्ति की है। इसका प्रमाण रस-विवेचन-सम्बन्धी त्रुटियों के दूरीकरण के उनके प्रयत्न द्वारा दिया जायगा।

भरत मुनि की रस-परिभाषा का अभाव बतलाते हुए शुक्ल जी ने यह कहा कि वह दृश्य काव्य के लिए ही अधिक उपयुक्त है और उस अभाव को उन्होंने अपनी मौलिक परिभाषा द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया। आचार्यों द्वारा निरूपित स्थायीभाव के प्राचीन लक्षण में अति-व्याप्ति दोष दिखाकर शुक्ल जी ने उसे दूर करने का उपाय बताया। प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में भावों-विभावों का विवेचन प्रायः यंत्रगतिक ढंग का था, उनके विभिन्न निर्माणकारी तत्त्वों का स्पष्ट रूप से पृथक्करण नहीं हुआ था, संचारियों का तो प्रायः नाम गिना दिया जाता था, पर शुक्ल जी ने अपने मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों द्वारा इस अभाव को दूर किया।

शृंगार रस के विवेचन में शृंगार का मूल संस्थापक भाव रति या प्रीति न मानकर शुक्ल जी ने राग माना है। इसी प्रकार रौद्र का स्थायीभाव क्रोध न मानकर वे वैर बताते हैं। अनुभाव के प्राचीनतर भेदों को शुक्ल जी अनावश्यक समझ कर उसे शारीरिक ही मानना अधिक उचित समझते हैं। प्राचीन आचार्यों ने उत्साह का आलम्बन विजेयत्व माना था, शुक्ल जी उत्साह का जीवनव्यापी स्वरूप दिखाकर उसका आलम्बन विकट कर्म मानते है। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों तथा हिन्दी के एकाध को छोड़ कर प्रायः सभी आचार्यों ने प्रकृति-वर्णन को केवल उद्दीपन के भीतर ही रखा था, शुक्ल जी इस मत को भी त्रुटिपूर्ण समझते हुए विशुद्ध प्रकृति-वर्णन को आलम्बन के भीतर रखने का आदेश देते है। वे वात्सल्य, भक्ति आदि को अलग रस मानने वाले आचार्यों का खण्डन करते हुए उनको शृंगार रस के भीतर रखना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। आचार्य-प्रेम पितृ-प्रेम, मित्र-प्रेम आदि के वर्णन से उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने भाव-कोटि का ही माना था, किन्तु शुक्ल जी ने इस मत को अनुपयुक्त समझते हुए उन्हें

अपने तुलसीदास के विवेचन में तत्सम्बन्धी प्रसंगों में रस-कोटि के भीतर रखा है। प्राचीन आचार्यों के रस-प्रक्रिया-विवेचन में दार्शनिक रंग अधिक चढ़ गया है, इसलिए उनके रस-विवेचन में रस का स्वरूप कभी-कभी मनोमय कोश के बाहर चला जाता है। शुक्ल जी ने रस-प्रक्रिया को मनोमय कोश के भीतर की वस्तु समझते हुए उसका मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है। रस के आध्यात्मिक स्वरूप को सामाजिक जीवन के लिए अनुपयुक्त समझने के कारण उन्होंने उसके लौकिक स्वरूप का ही सदैव समर्थन किया है। रस-विशेष की अभिव्यंजना कितनी शक्तिपूर्ण अथवा निःशक्त प्रणाली से हुई है, किसी रस की सामाजिक भूमि क्या है, वह किन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया है और वह सामाजिक जीवन पर क्या असर डालेगा आदि बातों को जानने की सामग्री हिन्दी के लक्षण-ग्रंथों में नहीं मिलती थी। इस अभाव को शुक्ल जी ने रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक विवेचन द्वारा एवं अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में भाव-व्यंजना के विश्लेषण द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया। रस-विवेचन में लोकोत्तर, अलौकिक, ब्रह्मानन्द सहोदर आदि शब्द प्राणरहित हो रहे थे, शुक्ल जी ने इनमें युगानुसार नया अर्थ—लोकहृदय में लीन होने की दशा, चेतना-विस्तार, सत्त्वोद्रेक, सामाजिकता, व्यक्तित्व का परिहार, आदि भरकर उन्हें नयी सजीवता प्रदान की।

रस-सिद्धान्त की त्रुटियों के निराकरण के उपर्युक्त प्रयत्नों से यह विदित होता है कि शुक्ल जी उसे भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्वोपरि सिद्धान्त मानते हुए भी उसे परम्परा से आगे ले जाना चाहते थे, उसमें युग के अनुसार संस्कार तथा परिष्कार आवश्यक समझते थे। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि की सहायता से उसका खूब प्रसार करना चाहते थे। इससे विदित होता है कि वे प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों में आस्था रखते हुए भी उनमें युग के अनुसार संस्कार, परिष्कार तथा प्रसार आवश्यक समझते थे। वे एकदम नवीन सिद्धान्तों को भी उदारता की दृष्टि से देखते थे। यदि उनमें कुछ सत्य की मात्रा रहती थी, उनमें जीवन की मंगल-साधना में योग देने की कोई तात्त्विक वस्तु उन्हें मिलती थी तो उसका सामंजस्य अपनी साहित्य-धारणा में करने के लिए वे सदैव तैयार रहते थे। इस प्रकार के विचारों से शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा को परम्परा से आगे बढ़ने के लिए विकासवादी दृष्टि प्रदान की है।

शुक्ल जी की काव्य-दर्शन-सम्बन्धी उपर्युक्त नवीनताओं तथा मौलिक विचारों से स्पष्ट है कि उनके सैद्धान्तिक काव्य-दर्शन का आधार भारतीय काव्य-दर्शन है जो बहुत ही व्यापक कोटि का है, जिसमें शाश्वत तत्त्वों का आधिक्य है, किन्तु साथ ही उसमें युग को व्यापक साहित्य-दर्शन प्रदान करने के आधारभूत तत्त्व भी वर्तमान हैं। इसलिए इनका साहित्य-दर्शन केवल समीक्षा के शाश्वत तत्त्वों का निर्माता ही नहीं, इनकी वैयक्तिक मान्यता का परिचायक ही नहीं, वरन् अपने युग की आवश्यकता, आशा, आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करने में भी समर्थ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी के काव्य-दर्शन की नवीनता भी उनके आचार्यत्व की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने में पूर्ण समर्थ है।

अमरकोश में मंत्र-व्याख्याता को भी आचार्य कहा गया है। हिन्दी-समीक्षा में शुक्ल जी के लिए इस अर्थ का प्रयोग करने पर 'आचार्य' शब्द का अर्थ हुआ जिसमें साहित्य के कठिन एवं सूक्ष्म तत्त्वों के विश्लेषण की असाधारण क्षमता हो। 'आचार्य' शब्द की इस अर्थ-दृष्टि से भी शुक्ल जी में अद्वितीय कोटि का आचार्यत्व दिखाई पड़ता है क्योंकि उन्होंने अपने निबन्धों में मनोविकारों तथा भावों एवं रसों का जैसा सूक्ष्म विवेचन कर दिया है, कविता का जैसा तत्त्वाभिनिवेशी निरूपण प्रस्तुत कर दिया है, इतिहास में प्राचीन तथा नवीन कवियों का जैसा मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया है साहित्य की विभिन्न शाखाओं तथा स्वरूपों का जैसा तलस्पर्शी

स्वरूप निश्चित कर दिया है, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि का जैसा वर्गीकरण कर दिया है, प्रत्येक युग की साहित्यिक धाराओ, प्रवृत्तियों तथा आधुनिक युग की समस्याओं का जैसा निरूपण उपस्थित कर दिया है, अपने इन्दौर के अभिभाषण में पश्चिम के विभिन्न वादों का जैसा तार्किक खण्डन कर दिया है तथा अपनी व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों में तीन प्रसिद्ध कवियों—जायसी, सूर तथा तुलसी का जैसा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत कर दिया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता।

शतपथ ब्राह्मण के 'आचार्य वचसा' से प्रमाणित होता है कि आचार्य होने का अधिकारी वही है जिसकी वाणी उसके युग में तथा उसके दिवंगत होने के बाद आप्तवचन-सदृश गृहीत हो। इस कसौटी पर शुक्ल जी का आचार्यत्व हिन्दी-समीक्षा मे क्लासिकल कोटि का सिद्ध होता है क्योंकि आधुनिक हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ प्राय: सभी समीक्षक शुक्ल जी के समीक्षादर्श पर चल रहे है, अपने मतों की प्रामाणिकता में वे आज शुक्ल जी को ही सर्वाधिक मात्रा मे उद्धृत कर रहे हैं। उनकी समीक्षा आधुनिक समीक्षकों तथा साहित्यकारो के लिए अजस्र प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हो रही है तथा उनकी इतिहास-लेखन-प्रणाली ही अद्यावधि इतिहास-लेखन की आदर्श तथा प्रामाणिक प्रणाली के रूप में हिन्दी-साहित्य के अन्य इतिहास-ग्रन्थों में कायम है। शुक्ल जी की समीक्षा-शैली के अनुकरण के फलस्वरूप सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाओ में हिन्दी समीक्षक साहित्य-मीमांसा के साथ-साथ जीवन-मीमांसा को लेकर चलने लगे है। उनके साहित्यगत जीवन-मूल्यों के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी-आलोचना में क्रमश: जीवन तथा साहित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता जा रहा है, समीक्षा में सामाजिक सम्पर्क का आह्वान प्रबल-तर रूप में किया जा रहा है, कला तथा साहित्य की समीक्षा में जीवन की उपयोगिता को स्थायी स्थान प्राप्त हो रहा है।

साहित्य में रस तथा उसके जीवन-तत्त्व में लोक-मंगल तथा लोक-मर्यादा का शुक्ल जी ने साहित्यिक मानों के रूप में सर्वाधिक उपयोग किया है। उनके सभी मानों में सभी परवर्ती समीक्षकों की उनकी जैसी आस्था नही रही, किन्तु उनके साहित्यिक मानों ने परवर्ती आलोचको मे युगानुसार नवीन सामाजिक मानो को खोजने की प्रेरणा उत्पन्न कर दी है। जीवन में सदा-चार की प्रेरणा देने वाले, लोक-मंगल की स्थापना में योग देने वाले, राष्ट्रीय समस्याओं तथा प्रश्नों के सुलझाव में सहायता पहुँचाने वाले साहित्य की उत्कृष्टता आज सभी लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों को मान्य है। यह शुक्ल जी की मूल्यवादी समीक्षा का प्रभाव है। उनकी वैधानिक आलोचना को तो बहुत से परवर्ती आलोचकों ने बहुत अधिक अपनाया है। हाँ, शुक्ल जी जैसी मौलिकता, गम्भीरता, उदारता तथा व्यापकता का उनमें अभाव है। उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी ने अपने रस-सिद्धान्त में लोक-धर्म के आधार पर लोकवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाली जिस समीक्षा की उद्भावना की, उसमें भारतीय समीक्षक के वर्तमान तथा भविष्य की प्रगति का अक्षय निधि वर्तमान है। हिन्दी-समीक्षा की वह स्थायी सम्पत्ति है, मौलिक निधि है। इसी कारण उसका आश्रय लेकर आज भी हिन्दी-समीक्षा आगे बढ़ रही है। उक्त विवेचित तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि शुक्ल जी हिन्दी-समीक्षा के एक अपराजेय आचार्य हैं।

संदर्भ-संकेत

१. आचार्य (आ+चर्+ण्यत) जिसका आचरण अनुकरणीय हो—आचारात् ग्राह्यति आचारमिति आचार्य:। २. 'कविता क्या है'—चिन्तामणि।

एम० आई० सी० कालोनी
टैगोर टाउन,

आचार्य शुक्ल का रस-चिन्तन

डॉ० रमाशंकर तिवारी

(क)

शास्त्र-स्वतंत्र चिंतन-दृष्टि : आधुनिक हिन्दी साहित्यालोचन में 'आचार्यत्वेन' रस पर विचार करने वाले सबसे पहले व्यक्ति है पं० रामचन्द्र शुक्ल। किन्तु, उन्होंने प्राक्तन आचार्यों की तरह भरत-सूत्र, "विभानुभाव व्यभिचारी-संयोगाद्-रस निष्पत्ति." की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं की है। साथ ही, उनके रस-चिन्तन में किसी स्पष्ट दार्शनिक अनुरोध की प्रेरणा भी लक्षित नही होती। व्यावहारिक रसमर्मज्ञता की भूमि पर उन्होंने काव्य तथा रस पर विमर्श किया है। उनके प्रतिपादनों में स्वतंत्र रीति तथा स्वतंत्र भाषा का व्यवहार हुआ है और उनके प्रयोग, इसी कारण, 'क्लैसिक' सौरभ से परिपूर्ण हो गये हैं।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने रस पर, रस को स्वतंत्र विषय बनाकर, विचार नहीं किया है। जैसा 'रस-मीमांसा' के सम्पादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपनी 'प्रस्तावना' में कहा है, "काव्य-मीमांसा" विषय पर किसी ग्रन्थ की रचना शुक्ल जी का अभीष्ट था। अतएव काव्य की अन्त:प्रकृति तथा बहिरंग स्वरूप पर गहन विचार की प्रक्रिया में, स्वभावत. उन्होंने रसविमर्श किया क्योंकि भारतीय परम्परा रसवाद से घनिष्ठतया जुड़ी हुई थी। 'ध्वनि-वाद' से उन्हें चिढ़ थी और वे रस को ही कविता की "साध्य वस्तु" मानते थे। अस्तु, आचार्य शुक्ल के रस-चिन्तन में नवीनता है और उनकी 'अप्रोच' परम्परा से कटी हुई होने पर भी, आचार्य-सुलभ गंभीरता से मंडित है। प्रस्तुत अध्ययन में उनके इतस्तत: बिखरे तथा छितराये, और कहीं-कहीं व्यवस्थित कथनों एवम् निरूपणों के आधार पर, विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत, उनकी रस-विषयक मान्यताओं तथा धारणाओं का प्रतिपादन किया गया है।

(ख)

रसानुभूति और रसावयव : आचार्य शुक्ल रसानुभूति के लिए विभावानुभाव इत्यादि रसावयवों का संश्लिष्ट वर्णन आवश्यक नहीं मानते। वे आलंबन-मात्र के "विशद वर्णन" को श्रोता या पाठक में रसानुभाव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में "पूर्ण समर्थ" समझते हैं। इस संबंध में अनुभावों की योजना अपरिहार्यत: अपेक्षित नहीं होती। 'नख-शिख' तथा 'नायिका-भेद' के वर्णनों में आलंबन के चित्रण का ही प्राधान्य होता है और उनमें रसिक लोग बराबर आनंद प्राप्त करते देखे जाते हैं। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन-मात्र में भी काव्यत्व उपलब्ध होता है।[1] यदि कवि ने "ऐसी वस्तुओं और व्यापारों" का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया, तो उससे भी सहृदय को भावानुभूति होती है। अतएव 'आश्रय' की योजना के अभाव में भी रस अथवा भाव का अनुभव होता है। "रस की योजना-मात्र से रस का सम्पादन नहीं होता।"[2]

"विभाव-पक्ष" को आचार्य शुक्ल कविता में "प्रधान स्थान" देते हैं। लेकिन, इस विषय में उनकी स्थिति उदारतापूर्ण है। लक्षण-ग्रन्थों मे गिनाये हुए भिन्न भिन्न रसों के मात्र को ही वे विभाव नहीं मानते जिन वस्तुओं व्यापारों या प्रसगो से

हमारे हृदय में किसी भाव का संचार होता हो, उनका वर्णन "आलंबन का ही वर्णन" माना जायेगा। अर्थात्, भावोद्रेक कराने वाला प्रत्येक "अर्थ" काव्य में (आलंबन) बन जाता है। "विभाव-प्रधान कविता" में, जहाँ आलंबन का "विस्तृत रमणीय" चित्रण रहता है, संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि आलंबन के रमणीय वर्णन से सहृदय पाठक को स्वत:संबद्ध या अन्तर्निहित भाव की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ भाव का चित्रण प्रधान बन गया होता है, अर्थात्, "संवेदना की विवृति" ही रहती है, वहाँ "आलंबन का आक्षेप" पाठक स्वयं कर लेता है।[4] तथापि, शुक्ल जी की निजी वरीयता कवि द्वारा "अपनी अनुभूति या संवेदना का लंबा-चौड़ा ब्यौरा" प्रस्तुत करने के पक्ष में नहीं है, प्रत्युत वे यह मानते हैं कि उस अनुभूति या संवेदना को उत्पन्न करने वाली वस्तुओं अथवा तथ्यों को पाठक की कल्पना में पहुँचा देना कवि के लिए अधिक आवश्यक है, क्यों कि सहृदय या भावुक पाठक 'अपनी अनुभूति का पक्ष बहुत कुछ आप से आप निकाल लेते हैं।"[5] यह कथन पूर्णत: यथार्थ है।

रसात्मक प्रतीति के प्रकार : आचार्य शुक्ल रसात्मक प्रतीति के मूलत: दो रूप मानते हैं। पहला रूप है व्यंजित भाव की अनुभूति में लीन न होते हुए भी, उसकी "व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।" इस प्रकार की प्रतीति में "पूर्ण रस की अनुभूति" होती है और उसके लिए स्थायीभावों की व्यंजना ही उपादेय होती है क्योंकि इन्हीं के चित्रण में मग्न होकर "हमारी भाव-सत्ता का सामान्य भाव-सत्ता" में विलय हो जाता है। वही रस की "पुनीत" भूमि है। किन्तु मुक्तक कविताओं में किसी भाव की "क्षणिक दशा" का रमणीय वर्णन होता है। वहाँ हम व्यंजना के स्वाभाविक उत्कर्ष से चमत्कृत हो जाते हैं, उस भाव में तल्लीन भले न हों। ऐसी अवस्था "रसात्मक प्रतीति" का दूसरा प्रकार है। इसमें उस प्रतीति की "मध्यम" अवस्था प्रसक्त होती है।[6]

स्थिति का उलझाव : आचार्य शुक्ल ने इस संदर्भ में अपनी स्थिति को उलझा दिया है। 'साधारणीकरण' के संदर्भ में उन्होंने कहा है कि वे रस की "उत्तम कोटि" अथवा पूर्ण रस की दशा वहाँ मानते हैं जहाँ सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है, अर्थात् आश्रय द्वारा अभिव्यक्त भाव की अनुभूति में वह भी निमग्न हो जाता है। 'मध्यम कोटि' वे ऐसे प्रसंगों में मानते हैं जहाँ पात्र या आश्रय द्वारा व्यंजित भाव में पाठक का हृदय 'योग न देकर' उस पात्र के प्रति ही किसी अन्य भाव का अनुभव करने लगता है।

अब इस अवस्था के परिप्रेक्ष्य में जब हम उपर्युक्त "मध्यम" प्रकार वाली "रसात्मक प्रतीति" पर विचार करते हैं, तब स्थिति निश्चित उलझ जाती है। मुक्तकों से उपलब्ध रस-प्रतीति और आश्रय के साथ तादात्म्य-स्थापन के अभाव में ("शील-द्रष्टा" के रूप में) प्राप्त होने वाली भावानुभूति या रसानुभूति प्रत्यक्षत: भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। किन्तु, दोनों को "मध्यम" दशा वाली रसानुभूति मानना स्पष्ट ही असंगतिपूर्ण है। यहाँ यह स्मरण करना आवश्यक है कि मुक्तकों से उपलब्ध रस-प्रतीति में सहृदय का मन भले ही किसी भाव में लीन या निमग्न नहीं हो, इतना तो निश्चित है कि वहाँ किसी ऐसे अन्य भाव का उदय नहीं होता जो "व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष" का अनुमोदन न करे। अतएव, आश्रय के साथ तादात्म्य-स्थापन के अभाव से संलग्न भाव-दशा (या रस-दशा) मुक्तकों वाली रस-प्रतीति से निश्चित ही भिन्न है। आचार्य शुक्ल ने पहली स्थिति को पुन: 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' वाले निबन्ध में निरूपित किया है। प्रकृति के "वैचित्र्य-प्रदर्शन की दृष्टि" से प्रणीत पाश्चात्य नाटकों में यही "मध्यम कोटि" की रसानुभूति होती है—ऐसा वे मानते हैं।[7]

आचार्य शुक्ल की उदारता सर्वग्राह्य बन गयी है जब वे "चमत्कारवादियों के कुतूहल" को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ग्रहण करते और उसे रसानुभूति की "निकृष्ट" दशा स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, रसानुभूति की तीन दशाएँ उन्हें मान्य है : उत्तम, मध्यम और निकृष्ट।[७] रस-दशाओं का ऐसा विभाजन प्रत्यक्षत: भारतीय आचार्य-परम्परा की मान्यता के विरोध में पड़ता है।

तथापि, रस की इन कोटियों की स्थापना से आचार्य शुक्ल ने रस-क्षेत्र का विस्तार किया है और काव्यानुरागियों के एक बहुत बड़े समुदाय की काव्यानुभूति को रसानुभूति की परिधि में समेट लिया है। पूर्ण रस-दशा के अतिरिक्त जिसे वे 'उत्तम कोटि' मानते है, पाठकों की ऐसी भी मन:स्थितियाँ होती है जिनमें वे किसी न किसी भाव की अनुभूति करते हैं।

रसानुभूति के अ-लौकिकत्व का अपलाप : रस अथवा सौन्दर्यानुभूति को प्राय: पूर्व या पश्चिम में अलौकिक माना गया है। आचार्य शुक्ल एक सीमित अर्थ मे रस को 'लोकोत्तर समझते है, किन्तु वह लोकोत्तरत्व इस लोक से विच्छिन्न "कोई स्वर्गीय विभूति" नहीं है। प्रमाता जब अपनी विशेष सत्ता की भावना से मुक्त होकर, विशुद्ध हृदय से काव्य-वस्तु को ग्रहण करता है, तब उसका वही ग्रहण उसकी अनुभूति को अलौकिक बना देता है। उसे ही कोई यदि "ब्रह्मानन्द-सहोदर" की अभिधा प्रदान करना चाहे तो शुक्लजी को कोई आपत्ति नहीं होगी। वे स्पष्ट कहते है कि "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नही है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"[८] स्पष्ट ही, रसानुभूति की उदात्तता एवं अवदातता (सुन्दरता, स्वच्छता) से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय है—उसका व्यक्तिगत संबंधों से सर्वथा निर्मुक्त होना। नितान्त लौकिक अनुभवों में नि:संगता अथवा ताटस्थ्य की स्थिति नहीं होती और इसी कारण, "हृदय की मुक्तावस्था" भी उपपन्न नही होती। अत: अन्तिम विश्लेषण में, प्रमाता की मुक्त-हृदयता ही, जब वह विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाता है, रसानुभूति को अलौकिकता के तत्त्व से समंजित कर देती है।

रसानुभूति का स्वरूप—आचार्य शुक्ल ने कहीं रसानुभाव के तात्त्विक स्वरूप का प्रत्यक्ष परिभाषण नहीं किया है। उन्होंने 'सौन्दर्य' के विषय में एक जगह अवश्य संक्षिप्त चर्चा की है। अधुना 'रस' और 'सौन्दर्य' का समीकरण प्राय: सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है। अत: सौन्दर्य के विषय में शुक्लजी जो कथन करते हैं, उसे इस विषय में घटाया जा सकता है।

आचार्य शुक्ल का कथन है कि "सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है।" इस कथन की स्पष्ट व्यंजना यह है कि सौन्दर्य-भावना "वासनात्मतया" मनुष्य में अवस्थित है, कोई बाहर से आरोपित वस्तु नहीं है। शुक्लजी ने "रस-परिपाक" के संदर्भ में वंशानुगत वासना की दीर्घ-परम्परा का उल्लेख किया है।[९] जब वे 'सौन्दर्य' को मन के भीतर की वस्तु बताते हैं, तब उनका अभिप्राय इसी वासनाजन्य संस्कार-परम्परा से है। उनका कथन है कि सुन्दर वस्तुओं का साक्षात्कार "हमारी सत्ता" पर ऐसा अधिकार कर लेता है कि "हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं।"[१०] उनके मतानुसार "हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।"[११] सौन्दर्यानुभूति का यह स्वरूप रसानुभूति का भी स्वरूप समझा जा सकता है।

रस-दशा में, प्रस्तुत निरूपणानुसार, रति, क्रोध, शोक प्रभृति स्थायिभाव प्रमाता के अन्तश्चैतन्य को अपने निजी आकार में परिणत कर लेते हैं। अन्य शब्दों में, उसकी अन्तस्सत्ता इन भावों की अनुभूति में इतनी घुल-मिल जाती है कि वह रतिमय, क्रोधमय इत्यादि स्थिति को उपलब्ध कर लेती है। यही उसकी "तदाकार परिणति" है। यही रसानुभूति का स्वरूप है।